शुद्धाद्वैत दर्शन एवं संस्कृति प्रबोधन



प्रो. ललित शंकर शर्मा

पुष्टिमार्ग भगवत्कृपा का मार्ग है। कृपा मार्ग की अपनी विशिष्टता एवं विलक्षणता है। इसका आधार प्रेम-लक्षणा भक्ति है। इस भक्ति का स्फुरण उसी दैवी जीव में होता है, जिसे प्रभु स्वयं वरण करते हैं। भगवान की कृपा सर्वथा अहैतुक होती है, इसके पीछे कार्य-कारण के किसी नियम की बाध्यता नहीं है। साधनों से प्राप्त होने वाले फल के पीछे भी भगवत्कृपा ही मूल कारण होती है तथापि अज्ञान के आवरण के कारण इस कृपा का विशुद्ध अनुभव नहीं हो पाता। जब प्रभु-कृपा से किसी दैवी जीव की चित्त समस्त साधनों से हट कर केवल प्रभु के विशुद्ध प्रेम में लीन हो जाती है तभी निस्साध ान अवस्था में प्रभु की इस विलक्षण कृपा का अनुभव होता है जिसे पुष्टि कहते हैं।

पुष्टि का अभिप्राय पोषण है, भगवत् अनुग्रह है। महाप्रभु श्रीमद् वल्लभ के अनुसार सुबोधिनी में पोषण का अर्थ स्थित पदार्थ की अभिवृद्धि है। पुष्टि शब्द के अनेक अर्थ हैं—अनुग्रह, कृपा, अभिवृद्धि, स्थिति, प्रवेश, रक्षा एवं आश्रय आदि समानार्थी शब्दों से पुष्टि का व्यापक महत्व परिलक्षित होता है। भगवान श्रीकृष्ण ही अनुग्रह एवं पुष्टि के मूर्त स्वरूप हैं—

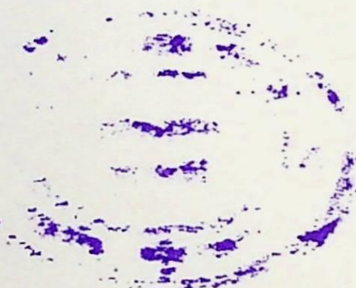
"अदीन लीला हसिते क्षणोल्लसद्,
भ्रूभंग संसूचितभूर्यनुग्रहम्"





शुद्धाद्वैत दर्शन एवं संस्कृति प्रबोधन





शुद्धाद्वैत दर्शन एवं संस्कृति प्रबोधन



लेखक

प्रो. ललित शंकर शर्मा

एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत, दर्शनशास्त्र)

साहित्यरत्न, साहित्याचार्य

प्रकाशक

आर्यावर्त्त संस्कृति संस्थान

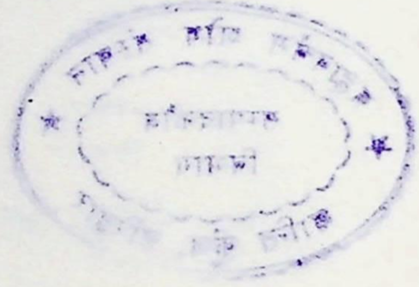
दिल्ली-110094

प्रकाशक

आर्यावर्त्त संस्कृति संस्थान

बी-216 चन्दू नगर, करावल नगर रोड,

दिल्ली-110094



आई.एस.बी.एन : 978-81-906449-7-6

प्रथम संस्करण : 2009

मूल्य : 350.00 रुपये

भारत में मुद्रित

आर्यावर्त्त संस्कृति संस्थान, बी-216 चन्दू नगर, करावल नगर रोड, दिल्ली-110094 द्वारा प्रकाशित। **शब्द-संयोजन** : प्रिंस कम्प्यूटर्स, **मुद्रक** : बी. के. ऑफसेट नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

निवेदन

विशेषणजयी पिताश्री ललितशंकर शर्मा की चेतना के गोलोक अवस्थित होने एवं शरीर त्याग के बाद से ग्रन्थ के इस कलेवर में आने तक मैंने कितनी बार सोचा कि दो शब्द निवेदन के लिखूँ। वे खोजे नहीं मिले। जिनके कारण यह जीवन की परमात्मा के प्रति निवेदन बन गया हो उनके लिए क्या निवेदन करूँ। अतः चुप रह गया था। परन्तु कभी मौन भी मुखरन बन जाता है। वे कहते थे ''अंधकार से लड़ना संभव नहीं क्योंकि वह अस्तित्वहीन है, लड़ना है तो प्रकाश पाने के लिए लड़ो।'' बाल्यकाल से लेकर मृत्युपर्यन्त उनका संपूर्ण जीवन इस सोच का मूर्तिमन्त रूप था। पूज्य पिता एवं गुरु की आंखों में हमेशा अनन्त एवं अमृत के प्रति तीव्र प्यास थी उसी प्यास की तृप्ति का स्वर **''शुद्धाद्वैत दर्शन एवं संस्कृति प्रबोधन''** है।

सेवाकाल में उनके कृश और दुबले हो गये शरीर को देखकर दुःख होता था लेकिन उनकी आंखों में आ गयी शान्ति, शक्ति और प्रेम ज्योति को देखकर आनन्द का अनुभव भी करता था। प्रभु प्रेम प्राप्ति का गौरव चेहरे की कान्ति के रूप में था जो अन्त तक दीप्त रही जिसके दर्शन का प्रसाद मुझे भी सातत्य के रूप में मिला।

मैं धन्य हुआ। उनकी कृपा के कारण ही मैं सेवक रूप में स्वीकार्य हुआ। शरीर के पार जो है उस ज्योति के दर्शन उन्हें होते थे इस कारण मृत्यु का भी वे स्वागत कर सके क्योंकि यह तो उनकी चेतना का कृष्ण लीला में प्रवेश था। लीला प्रवेश की निशा के द्वितीय प्रहर में उन्होंने जो गीत गाया था वे स्वर मेरी स्मृति में आज भी कौंधते हैं– **''मैं तो तेरी खोई गईया ढूंढ़ो कन्हैया मुझको।''**

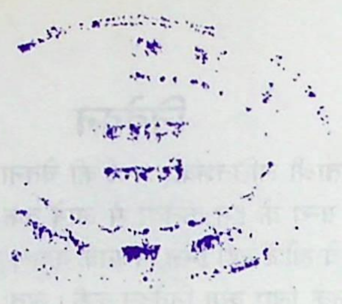
उनका यह लेखन हमारी इस भव यात्रा का पाथेय बन सके। सभी को अनन्त की यात्रा पर जाना है। ग्रंथों का यह कलेवर उनकी प्रबल भावना थी। दुःख इस बात का है कि वे आज पार्थिव रूप में नहीं है लेकिन उनकी अपार्थिव चेतना की छत्र-छाया मुझे प्रेरणा देती रही है। उनकी प्रबल भावना ही योग-क्षेम का वहन कर सकी है। इस अनुभूति के साथ मुझ आकिंचन्य द्वारा उनके यश-शरीर (लेखन) की जो सेवा हो सकी धन्यता महसूस करते हुए वह आपको प्रस्तुत कर रहा हूँ।

साथ आपका 'दाऊजी' उपनिषद् लगता है,
छवि से गीता का अमृत झरता है।
छिपा लिया निज को 'पुष्टिवर्द्धन' में,
लीला का यह रूप 'ललित' लगता है ॥

आत्मज,

दिनांक : 25.09.2008, सप्तमी

डॉ. चन्द्रशेखर शर्मा
20, पुष्टिवर्द्धनम्,
लक्ष्मीनारायण नगर, सवीना, उदयपुर
मो. नं. 09928364278



आत्म-निवेदन

प्रिय पाठक-वृन्द,

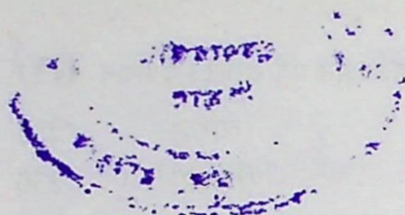
परम सत्य को जानने की जिज्ञासा शैशव-काल से ही उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यथार्थ जीवन की गहन अनुभूतियों के साथ ही आध्यात्मिक एवं भक्तिपरक शास्त्रों के अनुशीलन से जिस परम सत्य का गम्भीर साक्षात्कार हुआ वही समय-समय पर विभिन्न आलेखों के माध्यम से व्यक्त होता रहा। व्याख्यानों की यह शृंखला और उनका ग्रंथीकरण आध्यात्मिक-तत्व-चिन्तन एवं भगवद् स्वरूप-चिन्तन का ही प्रतिफलन है जिसे अपने ही आत्मरूप पाठक-वृन्द एवं भगवद्-प्रेमी महानुभावों के समक्ष रखते हुए परम हर्ष एवं कृतार्थता का अनुभव हो रहा है।

ग्रंथ में सम्मिलित व्याख्यान एवं आलेख नाथद्वारा से प्रकाशित होने वाली ब्रह्म-संबंध श्रीनाथ दर्शन एवं पुष्टिमार्ग नामक पत्रिकाओं में विगत 30 वर्षों में न्यूनाधिक रूप से प्रकाशित हुए ही हैं, कई आयोजनों में प्रस्तुत भी हुए। तब से यह आग्रह सभी का रहा कि इनका ग्रंथीकरण हो।

प्रस्तुत ग्रंथ के माध्यम से भाव-सम्पन्न जिज्ञासु वृन्द की चिरकालीन जिज्ञासाओं का समाधान अवश्य होगा। इसी विश्वास के साथ यह ग्रंथ सच्चिदानन्द भगवान श्रीकृष्ण के श्री चरणों में अर्पित है।

प्रो.ललित शंकर शर्मा
एम. ए.(हिन्दी, संस्कृत, दर्शन-शास्त्र)
साहित्यरत्न, साहित्याचार्य

अनुक्रमणिका





श्रीमद्वल्लभाचार्य के सिद्धान्त और उनकी व्यावहारिकता

'चिन्ता सन्तानहन्तारौ, यत्पादाम्बुज रेणवः।
स्वीयानां तान्निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥'

अखण्ड भूमण्डलाचार्य जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टिमार्ग विशुद्ध प्रेम एवं भावनामय मार्ग होने से किसी विशेष युग के लिए ही उपयोगी न होकर शाश्वत एवं चिरन्तन है। महाप्रभु के अनुसार सच्चिदानन्दघन भगवान श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, परम तत्त्व हैं और उनके प्रति माहात्म्यज्ञान पूर्वक परम सुदृढ़ स्नेह का दूसरा नाम ही भक्ति है। यह भक्ति केवल प्रभु के अनुग्रह द्वारा ही साध्य है, यही पुष्टिमार्ग का मुख्य सिद्धान्त है। श्रीकृष्ण का धर्मोपदेशक रूप गीता में, नीति-विशारद रूप महाभारत में एवं लीलाबिहारी अवतारी पुरुषोत्तम रूप पुराणों में वर्णित है। भागवत धर्म के अनुसार श्रीकृष्ण ही एक मात्र आराध्य हैं। श्रीकृष्ण लीला का विस्तार से चित्रण भागवत पुराण में उपलब्ध है। पं. मधुसूदन सरस्वती ने भी 'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने' कहकर श्रीकृष्ण को ही एक मात्र परम तत्त्व सिद्ध किया है। भगवान श्रीकृष्ण को परमाराध्य स्वीकार करते हुए उनके अनन्त स्वरूप, लीला विग्रह एवं विराट व्यक्तित्व की अन्तरंग प्रेरणा के आधार पर वैष्णव दर्शन में भी भिन्न-भिन्न चिन्तन-प्रणाली एवं साधना-पद्धति का निरूपण हुआ जिन्हें दार्शनिक क्षेत्र में द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत एवं अचिन्त्य-भेदाभेद आदि कहा जाता है।

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य ने जिस दार्शनिक सिद्धान्त को जन्म दिया, उसे शुद्धाद्वैत दर्शन कहा जाता है। शुद्धाद्वैत दर्शन के अनुसार श्रीकृष्ण ही एक मात्र परब्रह्म हैं, सच्चिदानन्द हैं, पूर्णानन्द, पूर्णकाम एवं लीला-बिहारी हैं। भगवान श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम हैं–

'अन्ये चाशं कलाः सर्वे कृष्णस्तु भगवान स्वयम्'

अक्षर एवं क्षर श्रीकृष्ण की दो प्रकृतियाँ हैं। अक्षर ब्रह्म उनकी चैतन्य प्रकृति है, उनका धाम अथवा चरण है, उन्हीं का एक रूप है परन्तु

लीला पुरुषोत्तम अक्षर ब्रह्म से भी परे हैं। उन्हीं का एक रूप अन्तर्यामी बनकर प्राणी मात्र के हृदय में स्थित है। महाप्रभु ने इस जगत् को भगवान श्रीकृष्ण का ही आधिभौतिक रूप मानते हुए इसे भगवान का ही कार्य माना है। यह समस्त जगत् भगवान श्रीकृष्ण का लीला-क्षेत्र है परन्तु संसार और जगत् में मूलभूत अन्तर है। संसार प्रपंचमय है, अविद्या से ग्रस्त है। जीव इस जगत् के वास्तविक रहस्य को न समझकर अपनी अहंता और ममता से इस जगत् को संसार बना लेता है और भटकता रहता है। महाप्रभु के अनुसार जीव भगवान श्रीकृष्ण का चित् अंश है और जगत् सद्अंश है। गीता में भी कहा गया है–

''ममैवांशो जीव लोके जीवभूता सनातनः''

भगवान श्रीकृष्ण की इच्छा से ही जीव अपने स्वरूप को भूल गया है, उसमें आनन्दांश एवं भगवद्गुणों का लोप हो गया है। भगवत् कृपा से ही जीव की निवृत्ति होकर ब्रह्मभाव की, भगवान के स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है तथा सेवामार्ग अपनाने पर देहपात के बाद नित्य-लीला में प्रवेश का अधिकार प्राप्त होता है। ब्रह्मभाव की प्राप्ति में भगवत्कृपा ही एक मात्र हेतु है और यह कृपा अहैतुकी होने से किसी भी साधन विशेष द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है। इस अकारण अनुग्रह को प्राप्त करना जीव के बस की बात नहीं है। भगवान अपने नैसर्गिक स्वभाव के अनुसार स्वयं ही जीव का वरण कर उसे पुष्ट करते हैं।

''पोषणस्तदनुग्रहम्''

महाप्रभु ने सुबोधिनीजी में पोषण का अर्थ स्थित पदार्थों की अभिवृद्धि बताया है। पुष्टि शब्द अनेकार्थी है–अनुग्रह, कृपा, अभिवृद्धि, स्थिति, प्रवेश, रक्षा, आश्रय आदि पुष्टि के अनेक अर्थ हैं। सुबोधिनीजी में भगवान श्रीकृष्ण को अनुग्रह एवं पुष्टि का अवतार माना गया है।

''अदीन लीला हसितेक्षणोल्लसद्, भ्रू भंग संसूचितभूर्यनुग्रहम्''

अनुगृहीत जीव मुक्ति प्राप्त कर ब्रह्मलीन हो जाता है, उसकी प्रत्यापत्ति नहीं होती, परन्तु भगवान श्रीकृष्ण जिसे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं, उसे मुक्ति से भी बचाकर अपना लीला सहचर बना लेते हैं, यही प्रत्यापत्ति है, मुख्य शरण है। जहाँ से उत्पत्ति हो वही निरोध एवं विलय का होना ही प्रत्यापत्ति है, यही गोलोक गमन है।

अपनी कार्य सिद्धि के लिए भगवान का पदार्थों में प्रवेश करना ही

पुष्टि लीला है। अतः भगवान का एक नाम प्रविष्टाप्रविष्ट भी है। वे ही प्रत्येक पदार्थ में प्रवेश कर उसे पुष्ट करते हैं, अतिक्रमण करते हैं तथा सभी रूपों को अपने में लीन कर लेते हैं। भगवान समय-समय पर पशु, पक्षी, मनुष्य, ऋषि आदि विविध रूपों में अवतार लेकर अपने भक्तों का अनुरंजन एवं रक्षण करते हैं। यह रक्षा करण लीला ही पुष्टि है। यह रक्षा अलौकिक है। भगवान आसुरी स्वभाव, काल आदि का बाध करते हुए दैवी जीवों की रक्षा कर लेते हैं, यही उनकी पुष्टि है अलौकिक सामर्थ्य है—**'पुष्टि कालादि बाधिकाः'**। भगवान आसुरी जीवों को भी मार कर अपने अकारण अनुग्रह का परिचय देते हैं, उन्हें भी मुक्ति प्रदान करते हैं। द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव एवं जीव सभी भगवान के आधार पर ही अवस्थित एवं गतिशील हैं।

''सर्वा लीलाः पुष्टि मध्ये प्रविशन्तीति मेमतिः।
अतः सृष्टिस्तुनिखिला कृष्णार्थेति विनिश्चयः॥''

सम्पूर्ण जगत् भगवान की लीला के सहयोग के लिए है। यदि कोई इस लीला में अपराध करे तो दण्ड अवश्य मिलता है परन्तु यह दण्ड भी शोधन के लिए दिया जाता है अतः एक प्रकार का अनुग्रह ही है। भगवान दण्ड द्वारा अपराधी जीव को शुद्ध एवं अपना आत्मीय बनाते हैं। वे जीव की दोष निवृत्ति कराकर उसे ग्रहण करने के लिए ही दण्डानुग्रह करते हैं। भगवान के अनुग्रह से सभी प्रकार का परिवर्तन सम्भव है। वस्तुतः भगवान ही परम सुहृद एवं सद्‌गुरु हैं, उनका लीला-व्यापार जीव मात्र के कल्याण का हेतु है। श्रीकृष्ण ही जगद्‌गुरु है अतः वे एक आदर्श गुरु की तरह है जो लीला प्रसार द्वारा जीवों के उद्धार का अवसर उपस्थित करते हैं।

सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में आज पुष्टिमार्ग का गूढ़ अर्थ एवं भाव-भूमि स्पष्ट नहीं है। प्रायः मर्यादा मार्ग को ही पुष्टिमार्ग समझ लिया जाता है। पुष्टिमार्ग भाव है तो मर्यादा में क्रिया एवं बाह्य आचार की प्रधानता है। मर्यादा मार्ग से पुष्टिमार्ग नितान्त भिन्न है। पुष्टि मार्ग के लिए प्रेम एवं भावना की आवश्यकता है जब कि मर्यादा में बाह्य आचार एवं क्रियाओं का अनुपालन कठोर चित्त से भी किया जा सकता है। सभी व्यक्ति पुष्टिमार्गी नहीं हो पाते, अतः भगवद्‌प्रेम के अतिशय स्फुरण होने पर्यन्त मर्यादा मार्ग पर ही चलना श्रेयस्कर है। भगवान ने ही जानबूझकर मर्यादा को बीच में डाल रखा है। यद्यपि सब कार्य भगवान की इच्छा से

ही होते हैं, तथापि भगवान स्वयं को तथा अपने अनुग्रह को गोपनीय रखना चाहते हैं, अतः साधन रूप क्रिया व्यापार की आड़ में वे अपने अनुग्रह को व्यक्त करते रहते हैं। अजामिल का उद्धार भगवान की अहैतुकी कृपा से ही हुआ तथापि अपने अनुग्रह को गोपनीय बनाये रखने के लिए 'नारायण नाम स्मरण' का बहाना रखा गया। भजन, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, जप, सत्संग, कथा-श्रवण आदि साधनों को करते रहने से भगवान के अहैतुकी अनुग्रह को गोपनीय बनाये रखने में सुविधा रहती है, इसीलिए भगवान मर्यादा मार्ग को भी चलाना चाहते हैं। विशुद्ध प्रेममार्ग जो पुष्टिमार्ग ही है, उसे देव-गुह्य रखा गया है। यही भगवत् कापट्य अथवा लोक-संग्रह है।

मर्यादा को अत्यधिक महत्त्व देने से कभी-कभी प्रेममार्ग से च्युत होने का अन्देशा बना रहता है अतः प्रत्येक साधन को भगवद् अर्थ ही अपनाने का निर्देश दिया गया है। भगवान की कृपा अहैतुकी एवं अकारण है, इसका पूरा ध्यान मर्यादा मार्ग का पालन करते हुए भी रखना चाहिए ताकि साधक की बुद्धि मर्यादा के साधन एवं प्रतीकों में ही उलझ कर न रह जावे। निष्काम कर्म, समर्पण एवं एकनिष्ठ अनन्य प्रेम द्वारा ही पुष्टि को समझा जा सकता है! प्रभु का अनन्याश्रय लेने एवं ब्रह्म से सम्बन्ध जुड़ने पर ही जीव की सर्व दोष निवृत्ति होती है। साधनहीनता का अर्थ साधनों के ममत्व परित्याग से है साधनों के त्याग से नहीं है। इस प्रकार प्रवृत्ति में निवृत्ति की भावना विद्यमान है। समस्त साधन मेरे या मेरे लिए नहीं, अपितु मेरे आराध्य श्रीकृष्ण के लिए हैं, मैं स्वयं श्रीकृष्ण का हूँ ऐसा मानना और अनुभव करना ही जीव की पुष्टि का आधार बनता है, श्रीकृष्ण को सर्वस्व समर्पित कर जीव भगवान की लीला में सहयोगी बनने की पात्रता अर्जित कर लेता है। तनुजा, वित्तजा एवं मानसी सेवा द्वारा जीव अपने परमभाव भगवत्प्रेम को व्यावहारिक सेवा में परिणित कर कृतकृत्य हो उठता है तथा साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लेता है जो कि पुष्टिमार्ग का मुख्य फल है तथा मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

इस घोर कलिकाल में अन्य सभी साधनों के दूषित हो जाने एवं ज्ञान-निष्ठा सम्भव नहीं होने से महाप्रभु श्रीमद् वल्लभाचार्य ने भगवद् आज्ञा से जीवों के श्रेयार्थ गोपनीय पुष्टिमार्ग को प्रकट करते हुए उद्घोष किया है कि "**सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः**" अर्थात् ब्रजाधिप

श्रीकृष्ण की सर्वदा सर्वभाव से सेवा करना ही जीव का एक मात्र धर्म है। कलियुग में अन्य कोई साधन विश्वसनीय नहीं रहा है। पुष्टिमार्ग प्रेम के विशुद्ध धरातल पर अवस्थित है तथा भाव-प्रधान सेवा-पद्धति होने के कारण पुष्टिभक्ति आडम्बर शून्य एवं सहज है। पुष्टि-भक्ति जीव को लौकिकी एवं वैदिकी गति से ऊपर उठा कर अलौकिक गति प्रदान करती है। पुष्टि-भक्ति में किसी भी जाति, वर्ण, धर्म या योनि का प्रवेश वर्जित नहीं है। यह सदा-सर्वदा-सर्वकाल में सभी के लिए ग्राह्य एवं उपादेय है। भगवान का अकारण अनुग्रह पतितों के लिए महान् संबल है। प्रेम की विशदता एवं व्यापकता के साथ ही शरणागति की भावना, दैन्य, सरलता एवं निश्छलता भी वांछनीय है।

पुष्टिमार्ग गृहस्थ जीवन की गरिमा स्थापित करते हुए परिजनों में भी भगवद्-दृष्टि रखने का निर्देश देता है। जगत के पदार्थ न तो ग्राह्य हैं और न हेय, उनका उपयोग एवं नियोजन प्रभु के लिए करना है, उनके प्रति ममता, स्वत्व एवं स्वामित्व के भाव का त्याग करना है। पुष्टिमार्ग साक्षी भाव से लौकिक कर्तव्यों को भी करने की अनुमति देता है। पुष्टि के अनुसार भगवत् सेवा अन्तरंग धर्म है तथा लौकिक कर्तव्यों का निर्वाह बहिरंग धर्म है। पुष्टिमार्ग संयम, सदाचार एवं नैतिक जीवन को महत्त्व देता है, लौकिक राग-द्वेष का त्याग कर अहर्निश भगवान श्रीकृष्ण में अपनी अनुरक्ति बढ़ाने का आग्रह करता है। यही नहीं अपितु राग, भोग एवं शृंगार की मनोवृत्तियों को भगवान की ओर उन्मुख कर समर्पित जीवन जीने की शिक्षा देता है। नवधाभक्ति से ऊपर प्रेम-लक्षणा भक्ति को महत्त्व देते हुए पुष्टिमार्ग जीव मात्र को भगवत्प्रेम का सन्देश देता है तथा सभी धर्मों का परित्याग कर भगवान श्रीकृष्ण की शरण में आकर सर्वथा निश्चिन्त हो जाने का आश्वासन प्रदान करता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में श्रीमद् वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त किस सीमा तक उपयोगी, सार्थक एवं उपादेय हैं, इस विषय पर प्रकाश डालना ही निबन्ध का मूल प्रतिपाद्य है।

1. परमेश्वर प्रेममय हैं, प्रेम स्वरूप हैं, प्रेम द्वारा ही प्राप्त होने योग्य हैं तथा जीव में भी परमात्मा का चिद् अंश होने के कारण भगवत् विषयक रति का स्थायी भाव विद्यमान है, यह एक निर्विवाद तथ्य है। जीव के अन्दर सुषुप्त अवस्था में पड़े इस रति भाव का विकास करना ही पुष्टि

भक्ति का मुख्य लक्ष्य है। स्त्री पुरुष के पारस्परिक आकर्षण के रूप में यह रति भाव ही कार्य कर रहा है। इस रति भाव को भगवान श्रीकृष्ण की ओर उन्मुख कर देना ही पुष्टि भक्ति है। अतः यह सिद्धान्त मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल एवं व्यावहारिक है।

2. प्रेम भाव युग सापेक्ष नहीं है। प्रत्येक युग के प्रतिकूल समय में भी इस भाव की अवस्थिति निरपेक्ष रूप में स्वयं सिद्ध है अतः भगवत्-प्रेम को दबा देने की क्षमता किसी काल अथवा युग विशेष में नहीं है, अतः पुष्टिमार्ग सामयिक मार्ग न होकर शाश्वत, सार्वकालिक, सार्वभौमिक, सहज एवं सरल मार्ग है।

3. आज भौतिक साधनों की आशातीत वृद्धि होती जा रही है। युगीन परिवेश में साधनों का आकर्षण बढ़ता जा रहा है। मानव मनोवृत्तियाँ भौतिकवाद की ओर आसक्त होती जा रही हैं। जीव बहिर्मुखी होते जा रहे हैं। जप, तप, ज्ञान, योग आदि की साधना भी साधन प्राप्त करने के लिए ही की जा रही है। श्रेय की तुलना में प्रेय को महत्त्व दिया जा रहा है। कलियुग अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुरूप क्रियाशील होता जा रहा है अतः इस प्रकार का वातावरण पुष्टि भक्ति के सर्वथा अनुकूल है क्योंकि भाव परिवर्तन कर देने मात्र से भौतिक साधन प्रभु सेवा के साधन बन सकते हैं, तथा भगवत् सेवा में अधिकाधिक साधनों का उपयोग कर मनुष्य आध्यात्मिक तुष्टि प्राप्त कर सकता है।

4. यदि इस युग में मनुष्य को यह समझा दिया जावे कि सब कुछ प्रभु की इच्छा से ही हो रहा है। प्रभु ही अपनी सेवा के लिए भौतिक सुख-साधन आशातीत रूप से बढ़ा रहे हैं। विज्ञान के विकास के मूल में भी प्रभु की इच्छा ही कार्य कर रही है। हमें साधनों को भगवान का मानकर भगवान के लिए ही प्रयुक्त करना है। मात्र आन्तरिक भाव परिवर्तन से पुष्टिमार्ग के आलोक में शाश्वत प्रेम एवं सेवा भावना का रहस्य समझा जा सकता है। भौतिक साधन प्राप्त होने पर उसे भगवान का ही साधन मानकर उन्हीं की सेवा में उनका नियोजन करना तथा साधन प्राप्त न होने पर भगवद् इच्छा को ही सर्वोपरि मानकर कुण्ठा और हीनता को उत्पन्न नहीं होने देना ही इस युग में पुष्टिमार्ग के अनुपालन का आधार बन सकता है। प्रेम भक्ति का बढ़ते हुए भौतिकवाद से कहीं विरोध नहीं है। केवल अपनी मनोवृत्ति को भौतिक आकर्षण से हटाकर

प्रभु में लगाना पुष्टिमार्गीय भक्त के लिए सहज एवं सरल है।

5. अपने आत्मीय परिजनों में भगवद् दृष्टि रखने से लौकिक मोह की, धन सम्पत्ति को भगवान की सेवा का साधन मानने से लोभ की, भगवान श्रीकृष्ण के प्रति हार्दिक प्रेम होने से काम की, सम्पूर्ण जगत को भगवान का रूप मानने से क्रोध की एवं साधनों पर से स्वामित्व भाव हटाने से अहंकार की निवृत्ति एवं प्रेम भाव युत सेवा द्वारा समर्पण सिद्धि हो जाती है अतः स्वयं को एवं साधन मात्र को भगवान का मानने का पुष्टिमार्ग का प्रमुख सिद्धान्त अत्यन्त वैज्ञानिक, सहज, सरल, व्यावहारिक एवं अनुभव-सिद्ध है, इसमें संशय नहीं। कहा भी है–

"जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो, क्यों करील फल खावे।"

(सूर)

पुष्टिदर्शन के आलोक में भक्ति का स्वरूप

महाप्रभु श्रीमद् वल्लभाचार्य ने तत्त्व-दीपिका में भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है–**"माहात्म्यज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ सर्वतोऽधिकः स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः"** अर्थात् ईश्वर के माहात्म्य के पूर्ण ज्ञान सहित उसके प्रति सुदृढ़ एवं सर्वाधिक स्नेह ही भक्ति है। भक्ति के लिए यह आवश्यक है कि जीव को ईश्वर की महिमा का ज्ञान हो तथा उनके प्रति सर्वाधिक प्रगाढ़ प्रेम हो। माहात्म्य ज्ञान से जीव के अन्तःकरण में श्रद्धा का भाव उदित होता है जो प्रगाढ़ प्रेम से अनुप्राणित होकर भक्ति का रूप धारण कर लेता है। ज्ञान मार्ग में भक्ति को चित् शुद्धि का साधन माना गया है। वहाँ भक्ति साधना है और साध्य मोक्ष अथवा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति है। भक्ति मार्ग में लक्ष्य मोक्ष का नहीं रहता, ईश्वर के साथ लीला का रहता है अतः जिन्हें भगवान के दिव्य प्रेम की अनुभूति हो जाती है, उन्हें मुक्ति की आकांक्षा तनिक भी नहीं रहती। भक्ति मार्ग में मुक्ति का आशय लौकिक प्रारब्ध की निवृत्ति से है। भक्त अपना अस्तित्व भगवान के लिए ही बनाये रखना चाहता है यही उसका सुदृढ़ स्नेह है। महाप्रभु ने ऐसे भक्तों को श्रेष्ठ बताया है जो अपनी सर्व इन्द्रियों एवं अन्तःकरण से भगवान का आनन्द लेते हैं और उन्हें भगवद् अर्थ में ही प्रयुक्त करते हैं।

श्रीमद्वल्लभाचार्य के मत से सच्चिदानन्द भगवान श्रीकृष्ण सर्वव्यापी,

स्वतन्त्र एवं सर्वज्ञ हैं। वे ही इस जगत के निमित्त, उपादान एवं समवाय कारण हैं। यह सम्पूर्ण जगत उन्हीं की अभिव्यक्ति है। श्रीकृष्ण के सत् अंश से प्रकृति तथा चित् अंश से प्राणीमात्र का आविर्भाव हुआ है। जीव श्रीकृष्ण की चैतन्य प्रकृति है जिसका आविर्भाव उनके चित् अंश से हुआ है। भगवान द्वारा अपने आनन्द अंश का तिरोभाव कर देने से जीव अल्पज्ञ एवं परतन्त्र सा दिखाई पड़ता है। सृष्टि की विषमता जीवों के भिन्न-भिन्न कर्मों के कारण है यह मान्यता समुचित एवं तर्क-सम्मत नहीं है। कर्म का सिद्धान्त स्वीकार करने पर तो यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर भी कर्म के अधीन है और स्वतन्त्र नहीं है। कर्म सिद्धान्त से इस बात का भी उत्तर नहीं मिलता कि विभिन्न व्यक्ति विभिन्न कर्मों को क्यों करते हैं? सर्वप्रथम जीव से कर्म संयोग किसकी प्रेरणा से हुआ? किसी को शुभ एवं किसी को अशुभ कर्म करने की प्रेरणा कैसे मिली? यदि कर्म को न मानकर यह माना जावे कि वही ईश्वर अन्तर्यामिन् के रूप में हमसे शुभ एवं अशुभ कार्यों को करवाता है तो ईश्वर पर पक्षपात का दोष लग जाता है अतः वह भी उचित नहीं है। अतः यह मानना ही समीचीन है कि सम्पूर्ण सृष्टि आत्म सृष्टि है तथा जीव ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ईश्वर जगत् का सृष्टा है, गुणों का नियन्ता है, गुणों का अस्तित्व, अनस्तित्व ईश्वर पर ही आश्रित है अतः ईश्वर की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण है।

जीव स्वरूपतः आणविक होता है तथापि उसमें ईश्वर के आनन्द की अभिव्यक्ति होती है इसीलिए उसे सर्वव्यापी माना जा सकता है। जीव अविद्या से उत्पन्न नहीं है, वह परब्रह्म परमात्मा का, सच्चिदानन्द का अंश है–**"ममैवांशो जीवलोके जीव भूताः सनातनः"**। (गीता) चूंकि जीव मात्र उस परमात्मा का ही अंश है अतः प्रत्येक जीव में परमात्मा के प्रति अनुरक्ति का होना स्वभाव सिद्ध है। जो पुरुष भगवान को सुख स्वरूप, आनन्दस्वरूप समझकर उन पर पूर्ण विश्वास कर लेता है वह पुरुष ईश्वर को छोड़कर और किसी से प्रेम नहीं कर सकता। जो व्यक्ति ईश्वर को सब कुछ मानता है तथा स्वयं को उन्हीं से विकीर्ण मानता है, उनकी प्रेम पूर्वक सेवा करता है, वही भक्त कहलाता है। ज्ञान एवं प्रेम दोनों में से ज्ञान के अभाव में भी भक्त हो सकता है किन्तु प्रेम के अभाव में कोई भक्त हो ही नहीं सकता। सच्चा भक्त वही होता है जो अपने आराध्य के लिए सब कुछ त्याग देता है, उसका मन केवल श्रीकृष्ण से ओत-प्रोत रहता है।

उनके लिए पुत्र, घर, धन आदि का कोई महत्त्व नहीं होता अपितु वह पूर्णतः ईश्वर-प्रेम में निमग्न रहता है। ईश्वर के अनुग्रह के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से कोई भी भक्ति मार्ग पर आरूढ़ नहीं हो सकता। 'कर्म' स्वयं ईश्वर की इच्छा के स्वरूप का होने के कारण भक्त के प्रति ईश्वर की दया अथवा क्रोध के रूप में व्यक्त होता है। कर्म ही ईश्वर की इच्छा के रूप में दया पूर्वक जीव के निकट आता है और पतितावस्था से भी उसका उद्धार करता है। जो भगवान के आदेशों का पालन नहीं करते अथवा गलत राह पर जाते हैं उन जीवों के पास कर्म क्रोधपूर्वक अभिगमन करता है और उन्हें पीड़ित करता है। कर्म के नियम को इसीलिए रहस्यमय माना जाता है क्योंकि हमें यह ज्ञात नहीं हो पाता कि ईश्वर की इच्छा स्वयं को कब व किस रूप में व्यक्त करेगी ? कभी-कभी वह अपने अनुग्रह से किसी पापी का भी उद्धार कर सकता है जिसे फिर अपना दण्ड नहीं भोगना पड़ता। अनुभव एवं इतिहास इस तथ्य के साक्षी हैं।

कुछ आचार्यों ने ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति को भी भक्ति की संज्ञा दी है। अनुरक्ति का अर्थ राग है, अतः आराध्य के प्रति परम राग होना ही भक्ति कहा जाता है। यह राग सुख से सम्बन्धित होता है। अविवेकी जन विषयों के प्रति जैसा प्रेम अनुभव करते हैं, भक्त भी ईश्वर के प्रति वैसा ही प्रेम का अनुभव करता है। ईश्वर के प्रति सहज, स्वतःस्फूर्त अनुराग ही भक्ति कहलाता है। यह भक्ति अनुराग स्वरूप होने के कारण इच्छा से सम्बन्धित होती है न कि क्रिया एवं ज्ञान से, अतः इस भक्ति में अपना पूर्णत्व स्वतः विद्यमान है। भक्ति के आधिक्य से बुद्धि का अवबोध ईश्वर के आनन्द में विलीन हो जाता है। बुद्धि ही वह उपाधि है जिसके माध्यम से ईश्वर स्वयं को जीव रूप में अभिव्यक्त करता है। भक्ति न तो एक प्रकार का ज्ञान है न एक प्रकार की श्रद्धा, भक्ति न तो एक प्रकार का कर्म है और न एक प्रकार की उपासना। उपासना, साधना अथवा कर्मकाण्ड भक्ति भाव को उत्पन्न करने में सहायक हो सकते हैं किन्तु वे स्वयं भक्ति नहीं माने जा सकते। "भक्ति चिन्तामणि" में भक्ति को प्रेम के रूप में परिभाषित किया गया है अर्थात् ऐसा प्रेम जिसमें संयोगावस्था में वियोग की आशंका और वियोगावस्था में संयोग की उत्कण्ठा बनी रहती है। कुछ विद्वानों ने भक्ति में निहित प्रेम को ऐसा व्यसन बताया है जो अनेक विपत्तियों एवं संकटों के होते हुए भी निरन्तर बना रहता है।

किसी ने भक्ति को अनिर्वचनीय लालसा के रूप में परिभाषित किया है। इस भक्ति का चरमोत्कर्ष प्रगाढ़ आनन्द में होता है।

भक्ति की इन सभी परिभाषाओं पर विचार किया जावे तो ये सभी परिभाषाएँ अपूर्ण ठहरती हैं एवं भक्ति के वास्तविक स्वरूप का परिचय नहीं दे पातीं। इच्छा और पुरुषार्थ में अन्तर होता है। सच्चे प्रेम में स्वयं के सुख की कोई इच्छा या लालसा नहीं होती। इच्छा अप्राप्त विषय की ओर संकेत करती है जबकि भक्ति या अनुराग किसी लालसा पर आधारित नहीं है। भक्ति का आशय न तो चित्त की द्रवणशीलता है और न इसमें फ्रायड के अनुसार काम-भावना का ही प्रवाह है।

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य के अनुसार भक्ति शब्द भज् धातु एवं 'क्ति' प्रत्यय से निर्मित है। भज् का अर्थ सेवा होता है और 'क्ति' प्रत्यय का अर्थ प्रेम होता है। धातु और प्रत्यय मिलकर एक पूर्ण अर्थ का निर्माण करते हैं। अतः भक्ति का अर्थ हुआ प्रेमपूर्वक की गई सेवा। सेवा एक शारीरिक क्रिया-व्यापार है। प्रेम को पूर्ण बनने के लिए सेवा की आवश्यकता है तथा सेवा को पूर्ण बनाने के लिए प्रेम का समावेश जरूरी है। प्रेम के बिना सेवा कष्टदायक होगी और वांछनीय नहीं रहेगी। प्रेम भी अपनी पूर्णता के लिए सेवा की अपेक्षा रखता है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। प्रेम भाव है, सेवा उसकी अनुवर्तिनी क्रिया है, दोनों का समुच्चय ही भक्ति है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रेम एवं सेवा का यह संगम प्रायः लुप्त सा होता जा रहा है। सेवा के पीछे अपनी आवश्यकता-पूर्ति का ही भाव नहीं, लोभ का भाव बढ़ता जा रहा है। प्रेम वाग्विलास मात्र रह गया है। प्रेम में सेवा भाव न होने से प्रेम की पावनता नष्ट होती जा रही है। प्रेम भी व्यापार बनता जा रहा है और सेवा भी व्यापार बनती जा रही है। अन्तःकरण की वृत्तियाँ अर्थोन्मुखी हो रही हैं, ऐसी स्थिति में भक्ति का कल्पवृक्ष पल्लवित नहीं हो पा रहा है। महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य ने सम्पूर्ण शास्त्रों का सार निकाल कर जिस भक्ति-रस का आस्वादन सर्वसाधारण के लिए सुलभ किया आज वह क्रमशः भक्ति के प्रतीकों एवं आधार स्तम्भों के अभाव में रूढ़ि एवं परम्परा मात्र बनता जा रहा है। अतः वर्तमान संदर्भों में भक्ति के निगूढ़ रहस्य को समझना अत्यावश्यक है।

"सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढ़ा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥"

(भक्तिवर्द्धिनी)

पुष्टि भक्ति की विलक्षणता एवं भगवद् अनुग्रह का माहात्म्य

"तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥

(नवरत्नम् ॥9॥)

प्रेम एवं सेवा का समुच्चय ही भक्ति है। श्रीमद्वल्लभाचार्य के अनुसार प्रेम भाव से की जाने वाली सेवा को ही 'स्नेह' कहा जाता है। स्नेह का अर्थ केवल प्रेम नहीं अपितु ऐसा प्रेम है जो सेवा के रूप में व्यक्त हुए बिना नहीं रहता। प्रेम एवं सेवा दोनों भक्ति के भावार्थ को निर्मित करते हैं। सेवा के प्रत्यय का अर्थ क्रिया मात्र न होकर उस मनःस्थिति से है जो क्रमशः आनत होती हुई अपने आपको भगवान के स्वरूप में लीन कर देती है। प्रेम की अतिशय प्रबलता एवं तीव्रता के कारण भक्त अपने भगवान के व्यापक स्वरूप से परिचित हो जाता है, सर्वत्र उनकी अनुपम छवि का दर्शन कर कृतार्थ हो जाता है और नित्य संयोग की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। सर्वात्म भाव भी इसी भक्ति का एक लक्षण मात्र कहा जा सकता है।

साहित्य शास्त्र के अनुसार भक्ति एक ऐसा दिव्य रस है जो मन एवं शरीर को एक साथ ही तीव्र आनन्द से प्लावित कर देता है। भगवान के प्रति तीव्र प्रेम ही भक्ति रस का स्थायी भाव है। प्रेम की प्रगाढ़ता में कभी श्रीकृष्ण के साथ एकत्व की भावना भी अभिव्यक्त होती है परन्तु एकत्व की भावना भक्ति रस का स्थायी भाव न होकर संचारी भाव मात्र है। भक्ति के चरमोत्कर्ष में न तो द्वैत ही शेष रहता है और न अद्वैत ही। पुष्टि भक्ति के चरमोत्कर्ष की यही विलक्षणता है।

भक्ति अन्ततः ज्ञान में फलित नहीं होती अपितु ज्ञान ही भक्ति में विलीन होता है। ज्ञान वस्तुतः भक्ति का ही एक अंग है। भक्ति एक आध्यात्मिक भाव है जो ईश्वर की निकटता अथवा दूरी के अनुसार अन्तःकरण

में न्यूनाधिक तीव्रता से आविर्भूत होता है। जिस प्रकार अग्नि से दूर रहने पर कम ताप का एवं निकट रहने पर अधिक ताप का अनुभव होता है उसी प्रकार अन्तःकरण के भगवान के समक्ष रहने पर प्रेम की तीव्रता का एवं बहिर्मुख होने पर विषयों के आकर्षण का अनुभव होता है।

भक्ति-मार्तण्ड के अनुसार जो भक्ति विशिष्ट कर्तव्यों के पालन से अनुष्ठानों से, स्वयं के प्रयत्नों से अर्थात् साधनों से प्राप्त की जाती है वह वस्तुतः यथार्थ भक्ति नहीं है, पुष्टि भक्ति नहीं है। पुष्टि भक्ति प्राप्त करने के लिए किसी साधन की, व्यक्तिगत प्रयास की आवश्यकता नहीं है। पुष्टि भक्ति साधन सापेक्ष नहीं है। यह परा-भक्ति किसी साधन द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है। पुष्टि भक्ति की प्राप्ति में तो भगवद्-अनुग्रह ही एक मात्र हेतु है। साधनों द्वारा हृदय की पवित्रता अवश्य प्राप्त की जा सकती है। अन्तःकरण के निर्मल होने एवं चित्त शुद्ध होने से भक्ति का अनुभव करने में अवश्य सुविधा होती है परन्तु कोई भी साधन कैसा भी श्रेष्ठ क्यों न हो ! भगवत् कृपा की प्राप्ति नहीं करा पाता। साधनों का पालन तभी तक करना आवश्यक है, जब तक अन्तःकरण में भगवान का प्रेम स्फुरित नहीं होता। जब एक बार भी प्रेम प्रकट हो जाता है तब वह प्रेम साधनों द्वारा निर्धारित नहीं माना जा सकता। प्रेम किसी साधन विशेष पर आधारित न होकर स्वतः स्फुरित होता है।

मर्यादा भक्ति साधनों के अभ्यास पर बल देती है। कुछ साधकों की मान्यता है कि साधनों के अभ्यास से पापों का क्षय होता है और भगवत्प्रेम का उदय होता है परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। भगवत्प्रेम का उदय भगवान के अनुग्रह से ही होता है और भगवद् अनुग्रह सभी प्रकार की पाप जन्य बाधाओं को भी नष्ट करने में सर्वथा समर्थ है। अनुभव यह भी बतलाता है कि कभी-कभी मर्यादा का कठोरता पूर्वक पालन करने से भक्ति के उद्रेक में व्यवधान उपस्थित हो जाता है, चित्त रूखा एवं शुष्क हो जाता है। पुष्टि भक्ति के अनुसार भगवद् प्रेम व साधनों के पूर्वा-पर सम्बन्ध का कोई निश्चित अनुक्रम भी नहीं है। अनेक जन्मों तक निरन्तर मर्यादा का अक्षरशः पालन करते रहने से एक दिन भगवद् प्रेम स्फुरित हो ही जावेगा, ऐसा कोई विधान नहीं है। भगवद् प्रेम का उदय तो भगवान श्रीकृष्ण के अकारण अनुग्रह से ही सम्भव है।

शाण्डिल्य-सूत्र में भक्ति को ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति के रूप में

परिभाषित किया गया है। अनुरक्ति का आशय राग से है। अपने आराध्य के प्रति सहज स्फूर्त अनुराग ही भक्ति कहलाता है। भगवान के प्रति विशुद्ध प्रेम एवं भगवान के ऐश्वर्य के प्रति प्रेम में पर्याप्त अन्तर है। भगवान के ऐश्वर्य प्रेम में स्वसुख की लालसा विद्यमान रहती है। जब तक प्रिय आराध्य से अपने लिए कुछ भी अपेक्षा विद्यमान है तब तक अन्तःकरण में विशुद्ध भक्ति का स्फुरण असम्भव है। अपने सुख दुःख एवं देहाध्यास को भूलकर जब अन्तःकरण अपने आराध्य को सुख पहुँचाने के लिए उद्यत हो उठता है तभी शुद्ध भक्ति का उद्रेक होता है, भगवान इसी भक्ति का अनुग्रह पूर्वक पोषण करते हैं। यही पुष्टि भक्ति है जो साधन सापेक्ष मर्यादा भक्ति से विलक्षण है।

भगवान अनुग्रह क्यों करते हैं ? कब करते हैं ? इसका उत्तर ढूँढ़ना कठिन है। भगवद् अनुग्रह में कोई प्रत्यक्ष कारण देखने में नहीं आता। यदि यह मान लिया जावे कि भगवान जीवों के दुःख निवारण के लिए ही अनुग्रह करते हैं, तो यह बात भी युक्तियुक्त नहीं हैं क्योंकि भगवान प्रत्येक दुखी जीव के लिए अनुग्रह करते नहीं दिखाई पड़ते। वस्तुतः भगवान का यह अनुग्रह अकारण है। पुष्टि भगवान का ही एक विशेष धर्म है, जिसके द्वारा भगवान कुछ लोगों के माध्यम से अपने अनुग्रह को व्यक्त करते हैं। पुष्टि मार्ग साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण के शरीर से निकला है, अतः यह मार्ग विलक्षण है। इस मार्ग में सर्वात्मना आत्मसमर्पण एवं विप्रयोग रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्द-धाम भगवान श्रीकृष्ण के साक्षात् अधरामृत का पान किया जाता है। भगवान श्रीकृष्ण को प्राप्त करना, उनका लीला सहचर बनना, उनका क्रीड़ा-कन्दुक बनना ही पुष्टि भक्ति का एक मात्र लक्ष्य है। अपने अनुग्रह द्वारा जीव को आनन्दमय बना देना ही भगवान का स्वभाव है। भगवान जीव के तिरोहित आनन्दांश को पुनः आविर्भूत कर उसे अपने समान ही आनन्दमय बना देते हैं। प्रभु का यह भाव स्वरूपापत्ति कहलाता है। स्वरूप का अर्थ ही है आनन्द मय रूप। प्रभु पुष्टि भक्ति के फल के रूप में स्वयं प्राप्त होते हैं, अपना स्वरूप प्रदान करते हैं। पुष्टि भक्ति में भगवत् प्राप्ति के अलावा अन्य किसी फल की आकांक्षा नहीं रहती जबकि मर्यादा भक्ति में प्रभु के ऐश्वर्यमय स्वरूप से प्रेम होता है, प्रभु से इतर फल की आकांक्षा बनी रहती है। पुष्टि भक्ति में अभेद-बोधन की सिद्धि होती है। मर्यादा भक्ति चरणारविन्द की भक्ति

है जबकि पुष्टि भक्ति भगवान के मुखारविन्द की भक्ति है।

पुष्टि भक्ति द्वारा भगवान के स्वरूपानुभव की अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त होती है। भगवान के निरन्तर सायुज्य का अनुभव होता रहता है, भगवान की सेवा के लिए उपयोगी देह की प्राप्ति हो जाती है, कलियुग के समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है। महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य के अनुसार जीव में जो भक्ति रूपी बीज विद्यमान है वह सच्चिदानन्दघन भगवान श्रीकृष्ण की उपासना से ही सुदृढ़ होता है। पुष्टि का बीज कभी नष्ट नहीं हो सकता, यह सनातन है, शाश्वत है–

''न में भक्त प्रणश्यति'' (गीता)

भगवान श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम के द्वारा ही जीव की समस्त लौकिक आसक्तियों का नाश हो जाता है। यही भगवत् प्रेम क्रमशः विकसित होता हुआ व्यसन का रूप धारण कर लेता है। भाव से प्रेम, प्रेम से प्रणय, प्रणय से स्नेह, स्नेह से राग, राग से अनुराग एवं अनुराग से व्यसन के रूप में भक्ति का क्रमिक विकास होता है। व्यसन भगवान के लिए प्रेम की प्रगाढ़तम अभिव्यक्ति की अवस्था है। व्यसन की अवस्था प्राप्त होने पर भक्त भगवान के बिना रह सकने में असमर्थ हो जाता है।

'तद् बिना स्थातुमशक्ति' का यही आशय है। व्यसन की अवस्था से पूर्व तक की अवस्थाओं में तो भक्त घर में एक अतिथि की भाँति निःस्पृह रूप से कर्तव्य पालन करता हुआ रह सकता है, परन्तु व्यसन की अवस्था प्राप्त होने पर उसके लिए घर में रहते हुए साधारण कर्तव्य करना भी असम्भव हो जाता है। यहीं से गोपी भाव का प्रारम्भ हो जाता है। घर में रहते हुए भक्त अपने भावोद्वेग की समुचित अभिव्यक्ति में विविध प्रतिबन्धकों का अनुभव करता है। भक्ति की दिव्यासक्ति एवं सांसारिक आसक्तियों के संघर्ष में अन्ततोगत्वा दिव्यासक्ति की विजय हो जाती है। पुष्टि भक्ति द्वारा स्वरूपानुभव करने की अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त होती है। वह अलौकिक सामर्थ्य एक विशिष्ट आवेश है। जिसके द्वारा भक्त भगवान के पूर्ण आनन्द स्वरूप की अनुभूति करने की, भगवान का विरह अनुभव करने की एवं भगवान के साथ निरन्तर साहचर्य रखने की, लीला सहचर बनने की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

पुष्टि भक्ति की योग्यता प्राप्त करने में उद्वेग, प्रतिबन्ध और भोग बाधक तत्त्व माने जाते हैं।

उद्वेग का अर्थ दुष्ट व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न किया हुआ भय है अथवा पापों के द्वारा उत्पन्न की गई मानसिक अस्थिरता का नाम ही उद्वेग है। प्रतिबन्ध का अर्थ लौकिक जीवन की सामान्य बाधाओं एवं अवरोधों से है। भोग का अर्थ शरीर एवं मन के सुख-दुःखों की साधारण अनुभूतियों से है। सांसारिक वस्तुओं की आसक्ति से उत्पन्न मानसिक अस्थिरता भगवदनुग्रह की प्राप्ति में बाधक होती है परन्तु कर्म के फलों के त्याग द्वारा इस अस्थिरता का निवारण सम्भव है।

जीव के विभिन्न दोष ईश्वर की इच्छा के कारण होते हैं। पुष्टि भक्त कर्म की अपेक्षा ईश्वरेच्छा को सर्वोपरि मानता है। वस्तुतः जीव को अनुभव की विविधता प्रदान करने के लिए ईश्वर ही अपनी सर्वशक्तिमान शक्ति को जीव में आच्छादित कर देता है तथा उसके नैतिक प्रयत्नों को सफल करने के लिए उसे बन्धन ग्रस्त करते हुए भी आवश्यक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। आनन्द के रूप में अपने स्वरूप को आच्छादित करके ईश्वर का एक अंश जीव के रूप में प्रकट होता है।

आचार्य मध्व के अनुसार जीव ईश्वर का अंश होने पर भी उससे सर्वदा भिन्न है। निम्बार्काचार्य के मत से भी जीव ईश्वर का अंश है पर ईश्वर में और जीव में भेद और अभेद दोनों है। रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर जीवों को अपने अन्तर्गत धारण करता है और अपनी इच्छा से जीव के ज्ञान स्वरूप का विस्तार एवं संकोच करता है। भास्कर के अनुसार जीव का स्वभाव ईश्वर से तादात्म्य है तथापि उपाधियों के द्वारा वह उससे भिन्न प्रतीत होता है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार जीव ईश्वर से नित्य भिन्न होने पर भी उसके सजातीय होने से सदा ही उससे अविभक्त रहते हैं। महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य की जीव के सम्बन्ध में मान्यता अत्यधिक यथार्थ पर आधारित है। शुद्धाद्वैत के अनुसार जीव ईश्वर का अंश होने के कारण उससे एक-रूप है। आविर्भाव एवं तिरोभाव द्वारा ईश्वर जीवों के रूप में प्रतीत होता है। ईश्वर की कुछ शक्तियों एवं गुणों का आच्छादन होने पर तिरोभाव हो जाता है और वही ईश्वर जीव रूप में प्रतीयमान होता है। वस्तुतः समस्त जगत में वही ईश्वर नाना नाम रूपों में लीला कर रहा है।

'रूप-नाम विभेदेन यतः क्रीडति यो जगत्'' वह नटनागर स्वयं ही स्वयं को प्रेमपूर्वक प्राप्त करने की लीला कर रहा है। जब तक पुष्टि भक्ति

की प्राप्ति नहीं होती तब तक यह संसार कर्म के आधार पर संचालित होता हुआ प्रतीत होता है परन्तु भगवदनुग्रह से पुष्टि भक्ति की प्राप्ति होने पर भक्त को सर्वत्र ईश्वरेच्छा का ही साक्षात्कार होता है। भगवान द्वारा भक्त का वरण किया जाता है। भगवान द्वारा अपनी लीला के लिए भक्त का चयन किया जाता है। यही पुष्टि भक्ति का निगूढ़ रहस्य है।

पुष्टि मार्ग में भगवद्धनुग्रह को ही भक्ति के उदय का मूल कारण बताया गया है। ईश्वर का अनुग्रह सर्वथा स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र होता है। भगवदिच्छा नित्य होने के नाते कार्यों एवं कारणों से उत्पन्न अवस्थाओं पर निर्भर नहीं हो सकती। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि शुभ कर्मों एवं ईश्वर के लिए नियत कर्तव्यों के पालन से भक्ति प्राप्त होती है और भक्ति द्वारा ईश्वर का अनुग्रह होता है। परन्तु यह मान्यता भी पूर्णतया युक्तियुक्त नहीं है। वस्तुतः ईश्वर का अनुग्रह परम विलक्षण, स्वतन्त्र एवं उपाधि रहित है। ईश्वर का अनुग्रह स्वच्छन्दता से प्रवाहित होता है और अन्य साधनों अथवा अवस्थाओं के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि शास्त्र ईश्वरानुग्रह के स्वच्छन्द प्रयोग का कथन एवं अनुमोदन करते हैं।

जिन व्यक्तियों को ईश्वर मर्यादा मार्ग में प्रवृत्त करता है, वे कर्त्तव्यपालन, चित्तशुद्धि, भक्ति आदि के द्वारा कालान्तर में मोक्ष की प्राप्ति करते हैं किन्तु जिन व्यक्तियों पर वह अपना विशेष अनुग्रह प्रकट करता है उनको पुष्टि भक्ति के मार्ग में अंगीकार कर लिया जाता है। ऐसे भक्त नियत कर्तव्यों के अनुपालन के बिना भी भक्ति की प्राप्ति कर लेते हैं। कर्तव्यों का निर्धारण केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए होता है जो मर्यादा मार्ग में होते हैं। मर्यादा मार्ग में प्रवृत्ति भी भगवत् इच्छा से ही होती है। भगवदिच्छा ही सकल कार्यों एवं घटनाओं का चरम कारण है। भगवान ही सभी जीवों में अपनी इच्छा से भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करते हैं परन्तु भगवान जिस पर अनुग्रह करते हैं उसे अपना स्वरूप प्रदान कर देते हैं। भगवान के अनुग्रह रूपी अमोघ प्रसाद से भक्त का विलुप्त आनन्द अंश प्रादुर्भूत हो जाता है और वह भगवान का पुष्टि रूपी दिव्य अमृत प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाता है।

सर्वानन्दगयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।

(निरोध लक्षणम्)

शुद्धाद्वैत दर्शन के आलोक में पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण एवं पुष्टि भक्ति का स्वरूप

शुद्धाद्वैत दर्शन के अनुसार पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा है। **'आनन्दं ब्रह्म विजानीयात्', "रसौ वै सः"** आदि ब्रह्म-सूत्र इसी परम सत्य की ओर इंगित कर रहे हैं। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के सत् अंश से क्षर (अपरा प्रकृति) एवं चित् अंश से जीव चैतन्य (परा प्रकृति) का प्रादुर्भाव होता है। श्रीकृष्ण ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, क्षर एवं अक्षर से परे पुरुषोत्तम हैं, नित्य आनन्द स्वरूप हैं। समस्त अप्राकृत धर्मों के आश्रय होने के साथ ही विरुद्ध-धर्माश्रय भी हैं तथा समस्त अलौकिक धर्म उनमें सदा प्रकट रूप से रहते हैं। उनकी लीलाएँ शाश्वत, दिव्य एवं अलौकिक हैं।

परब्रह्म श्रीकृष्ण में **'एकोऽहम् बहुस्याम्'** का संकल्प उदित होने पर उन्हें एक से बहुत होने की इच्छा हुई तो उन्हीं के दूसरे रूप अक्षर ब्रह्म का आविर्भाव हुआ। यह अक्षर ब्रह्म ही समस्त कारणों का कारण है। भगवान श्रीकृष्ण पूर्णतः आनन्द स्वरूप हैं किन्तु अक्षर ब्रह्म में सत्व की प्रधानता होने से आनन्द का अंश आंशिक रूप से तिरोहित रहता है।

अक्षर ब्रह्म ही ज्ञानियों एवं भक्तों को रुचि भेद से विविध रूपों में प्रतीत होते रहते हैं। सभी गुणों की सत्ता रहने पर भी अक्षर ब्रह्म के विविध व्यक्त रूपों में किन्हीं विशेष गुणों का ही प्राकट्य रहता है। ज्ञानियों को यही अक्षर ब्रह्म देशकालातीत, स्वप्रकाश एवं गुणातीत रूप में भासमान होता है।

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का ही एक रूप सूर्य मण्डल आदि में है जिसे अन्तर्यामी कहा जाता है। यही अन्तर्यामी परमात्मा अपने अंश से जीव मात्र में अन्तर्यामी रूप से अवस्थित हैं। इसी अन्तर्यामी को पुरुष या नारायण भी कहा जाता है। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार सत्, रज एवं तम के प्राकृत रूप से भिन्न भगवद् धर्म रूप अप्राकृत सत्, रज एवं तम भी विद्यमान है। भगवान श्रीकृष्ण ही इन अप्राकृत सत्वादि गुणों में 'वह्नि-लोह-गोलक न्याय' से आविष्ट होते हैं। अप्राकृत सत्व गुण में आविष्ट होने पर उस रूप को विष्णु, अप्राकृत रज गुण में आविष्ट होने

पर उस रूप को ब्रह्मा एवं अप्राकृत तम गुण में आविष्ट होने पर उस रूप को शिव कहा जाता है। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव तीनों ही गुणावतार हैं। यद्यपि इन तीनों का विग्रह अप्राकृत है तथापि प्राकृत गुणों के नियामक होने से ये सगुण हैं। चतुर्भुज, वनमाला, पीताम्बर आदि पुरुषोत्तम धर्मों का प्राकट्य होने से तीनों गुणावतारों में विष्णु को उत्कृष्ट माना जाता है।

'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' के अनुसार भगवान के अनन्त रूप हैं और सभी रूप परब्रह्म के रूप में उपास्य हैं, क्योंकि अंशी श्रीकृष्ण ही सभी रूपों में आविष्ट हैं। उपासना की दृष्टि से परब्रह्म के सभी रूप ग्राह्य एवं वरणीय है किन्तु आनन्दांश का पूर्ण प्राकट्य केवल श्रीकृष्ण के निज स्वरूप में हैं। यद्यपि ज्ञान द्वारा अक्षर ब्रह्म के साथ ऐक्य अथवा तादात्म्य की अनुभूति हो सकती है तथापि श्रीकृष्ण के साथ सायुज्य प्राप्त किए बिना स्वरूप प्राप्ति नहीं होती। वस्तुतः सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ज्ञान लभ्य न होकर भाव, सेवा एवं प्रबल भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य हैं। सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण ही क्रीड़ा के लिए जीव एवं जगत के रूप में व्यक्त हुए हैं अतः वे ही अपनी पुष्टि-लीला द्वारा जीव का वरण कर उसे कृतार्थ करते हुए स्वरूप-दान करते हैं।

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य को देवदमन, श्रीनाथ, गोवर्द्धन धरण, गोपाल कृष्ण ने स्वप्न में दर्शन देकर पुष्टि मार्ग के प्रचार का आदेश प्रदान किया था अतः पुष्टि मार्ग-भक्ति मार्ग होते हुए इस कारण विलक्षण है कि यह किसी साधन पर आधारित न होकर दैवी जीवों के लिए परमात्मा की अकारण कृपा पर आधारित है। महाप्रभु के अनुसार सायुज्य ही पूर्ण अथवा मुख्य फल है जो भगवद् अनुग्रह से प्राप्त होता है। भक्ति मार्ग पूर्णतया भगवद् सापेक्ष है किन्तु भगवान के सामान्य अनुग्रह से जिस भक्ति का उदय होता है वह मर्यादा भक्ति है। भगवान की विशिष्ट कृपा से जिस विलक्षण भक्ति का उदय होता है वह प्रेम-लक्षणा भक्ति है। इसी प्रेम-लक्षणा भक्ति का पारिभाषिक नाम ही पुष्टि भक्ति हैं। पुष्टि भक्ति में भगवान ही साधन एवं भगवान ही साध्य होते हैं। पुष्टि भक्ति में अन्य किसी फल की आकांक्षा न होकर एक मात्र भगवत् प्राप्ति की ही आकांक्षा रहती है। पुष्टि भक्ति के सामने जीवन का चरम पुरुषार्थ मोक्ष भी तुच्छ प्रतीत होता है। यह पुष्टि भक्ति मुख्यतः (चार) प्रकार की मानी गई है–

1. प्रवाह-पुष्टि भक्ति
2. मर्यादा-पुष्टि भक्ति
3. पुष्टि-पुष्टि भक्ति
4. शुद्ध-पुष्टि भक्ति

1. प्रवाह-पुष्टि भक्ति—अहंता एवं ममता रूप संसार ही एक प्रवाह है। अहंता एवं ममता के पाश में बँधा हुआ मनुष्य नाना प्रकार के क्लेशों से सन्तप्त हो भगवान की ओर उन्मुख होता है। वह त्राण एवं शरण चाहने हेतु भगवान को अपना अकारण हितैषी मान उनकी कृपा की आकांक्षा करने लगता है। भक्ति की इस अवस्था में यद्यपि कर्म रुचि बनी रहती है किन्तु इसके साथ ही उसमें भगवद् उपयोगी क्रिया प्रवृत्ति भी रहती है। इस अवस्था में कामना का बीज अवश्य विद्यमान रहता है।

2. मर्यादा-पुष्टि-भक्ति—भक्ति की इस अवस्था में भक्त की सांसारिक विषय-वृत्तियाँ शिथिल होती जाती हैं। संसार से रागात्मक सम्बन्ध हटता जाता है एवं निवृत्ति मार्ग की ओर झुकाव होने लगता है। विषयासक्ति की मात्र कम हो जाती है एवं भक्त भक्ति-मार्ग में निर्दिष्ट विधि-निषेधों का शास्त्रानुसार अनुसरण करने का प्रयत्न करता है। भगवत्कथा-श्रवण, संकीर्तन एवं निर्दिष्ट सेवा-विधान में उसकी प्रवृत्ति क्रियाशील रहती है। भक्ति की इस अवस्था में भी भगवत्कृपा प्राप्त कर साधनों की अभिवृद्धि करते रहने की उसकी चेष्टा बनी रहती है।

3. पुष्टि-पुष्टि भक्ति—भक्ति की इस अवस्था में भक्त अपने भगवान का ज्ञान-जन्य अनुग्रह प्राप्त कर लेता है। वह भगवान के माहात्म्य का अभिज्ञान कर उनके शरणापन्न होकर समर्पित हो जाता है। ज्ञान-जन्य अनुग्रह के प्रभाव से उसे प्रभु की सर्वज्ञता का कुछ अंश भी प्राप्त हो जाता है। पुष्टि-पुष्टि भक्ति की अवस्था में उसके भगवत्प्रेम में अभिवृद्धि होती रहती है। वह भगवान की लीला का रहस्य जानने लग जाता है। वह स्वयं कृतार्थ होने के साथ ही अन्य जीवों को भी परमात्मा की ओर उन्मुख कर अपने ज्ञानानुग्रह को सार्थक करता है।

4. शुद्ध-पुष्टि भक्ति—भक्ति की यह चरमावस्था है। शुद्ध पुष्टि भक्ति वाले भक्त में केवल प्रेम की ही प्रधानता होती है। वह विधि-निषेध से परे हटकर प्रभु को अपने प्रेम से बाँध लेता है। भगवान को वह अपना ही स्वरूप समझकर उनसे स्नेह करता है। स्नेहपूर्वक उनकी चर्चा एवं परिचर्या करता है। उसके शुद्ध भक्ति भाव में किसी भी लौकिक प्रतिफल की आकांक्षा नहीं रहती। वह अपना सब कुछ प्रभु के प्रेम पर न्यौछावर

कर देता है। संसार का कोई भी प्रलोभन अथवा आकर्षण उसे प्रभु प्रेम से विमुख नहीं कर सकता। ऐसे भक्त को ही परम भगवदीय कहा जाता है। वह प्रभु के लीलामृत-सिन्धु में अपने चित्त को निमज्जित कर परमात्मा के पुष्टि (अनुग्रह) रूपी मधुर रस का अहर्निश पान करता रहता है। शुद्ध पुष्टि भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। श्रीबालकृष्ण जी ने 'प्रमेय रत्नार्णव' नामक ग्रन्थ में शुद्ध-पुष्टि भक्ति के धर्म का विस्तार से वर्णन किया है। इस भक्ति के लिए किसी साधन विशेष की आवश्यकता नहीं है। इस भक्ति का प्रतिफल किसी साधन प्राप्ति के रूप में न होकर भगवत्प्राप्ति ही होता है। इसमें भगवान ही साध्य एवं भगवान ही साधन रूप हो जाते हैं। इस भक्ति का फल साक्षात् भगवत्प्राप्ति है जो यत्न सापेक्ष न होकर अनुग्रह सापेक्ष है। शुद्ध पुष्टि भक्ति में यत्न करने पर विपरीत परिणाम विघ्न के रूप में प्राप्त होता हैं। भगवान भी जीव की योग्यता का विचार न कर उसे स्वीकार करते हैं और भक्त भी भगवान की लीला में गुण-दोष का विचार नहीं करता। इसलिए साधन सम्पन्न साधक को भी जो भगवत्प्राप्ति रूप फल प्राप्त नहीं होता वह शुद्ध पुष्टि भक्त अनायास ही प्राप्त कर लेता है।

शुद्ध-पुष्टि-भक्ति प्राप्त होने पर वियोगावस्था में भी आनन्द बना रहता है क्योंकि यह भक्ति स्वरूपानन्द देने में पूर्णतः स्वतंत्र है, स्वरूप आविर्भाव की अपेक्षा नहीं करती। भक्ति की इस अवस्था में भगवद् भाव की प्रबलता हो जाने से लोक, परलोक का भय नहीं रहता। भगवान की पुष्टि लीला पर अटूट विश्वास हो जाता है। यही नहीं अपितु शुद्ध पुष्टि भक्ति की अवस्था में भगवान के साथ दैहिक सम्बन्ध की भी भावजन्य अनुभूति होती हैं। अपने शरीर एवं अपनी इन्द्रियों तक के साथ भगवद् सम्बन्ध का अनुभव होता है। अपना शरीर भी भगवान का ही शरीर लगने लगता है। भक्त की बुद्धि भी भगवन्मय हो जाती है। वह अपने देहादि का रक्षण भी भगवदीय बोध से ही करता है। इस भक्ति को प्राप्त कर लेने पर भक्त का सम्पूर्ण अस्तित्व भगवान की सेवा के लिए ही नियोजित हो जाता है। भगवान सेव्य रूप में स्वयं सेवक के सेवाभाव की पुष्टि करते हैं। भक्त में केवल निरुपाधिक भाव रहता है। यह भाव स्नेहात्मक होता है। शुद्धाद्वैत मत में जीव को ब्रह्म रूप माना गया है किन्तु जीव प्रभु का अंशात्मक रूप है। उसे अपने निज स्वरूप (अंशी) की पुनः प्राप्ति के लिए

प्रभु के स्वरूप में ही अपनी अवस्थिति मानते हुए अपनी समस्त उपाधियों से रहित हो अविद्या जनित दोष मिटाना पड़ता है।

'दैन्यं तत्परितोष साधनम्' के अनुसार निरीह भाव धारण कर प्रभु को रिझाना पड़ता है तभी प्रभु अपने निज स्वरूप का दान करते हैं। यही पुष्टि भक्ति का चरमोत्कर्ष है, जहाँ जीव प्रभु से स्वरूप दान प्राप्त कर स्वयं भगवद् रूप हो जाता है।

"पुष्टि मार्गः स एव यत्र फलं स्वयमेव साधनम्"

(ब्रह्म-वाद-पृष्ठ 22-23)

कर्म-निष्ठा से चित्त शुद्धि, ज्ञान-निष्ठा से सर्वज्ञता एवं भक्ति-निष्ठा से भगवान की प्रसन्नता प्राप्त होती है किन्तु शुद्ध-पुष्टि-भक्ति का फल भगवद्-स्वरूप की प्राप्ति है, यही अन्य भक्ति मार्गो से शुद्ध पुष्टि भक्ति की विलक्षणता है।

आत्म निवेदन

अगणित-हजारों वर्ष जितना समय व्यतीत होने से, कृष्ण वियोग से उत्पन्न हुआ, ताप क्लेश का आनन्द तिरोहित हो गया है, ऐसा मैं (जीव) भगवान कृष्ण—श्री गोपीजन वल्लभ को देह और दस इन्द्रियों, प्राण, अन्तःकरण और उसके धर्म, स्त्री, घर-पुत्र, कुटुम्ब, धन यह लोक-परलोक आत्मा सहित समर्पण करता हूँ। मैं दास हूँ। हे कृष्ण।

मैं आपका हूँ।

उज्ज्वलश्च मधुरः श्री गोकुलेन्दो रसः

(श्रीकृष्ण भक्ति का रस ही रम्य, उज्ज्वल, मधुर एवं परिपूर्ण है)

रस रूप श्रीकृष्ण एवं मधुर रस की उत्कृष्टता

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य के मतानुसार भगवान श्रीकृष्ण ही शुद्ध पुरुषोत्तम, सच्चिदानन्दघन एवं रस स्वरूप हैं। उनके अंग प्रत्यंग भी मधुर रस से पूर्ण होने के कारण आनन्ददायक है। वे समस्त अप्राकृत, अलौकिक धर्मो के आधार हैं तथा उनकी समस्त लीलाएँ नित्य हैं। भगवान कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर चित्त स्वतः द्रवित हो जाता है एवं दृश्यमान प्रपंच की विस्मृति हो जाती है। चित्त की द्रवित अवस्था में ही रस स्फूर्ति होती है, जो जीव को रस रूप आनन्दघन भगवान

श्रीकृष्ण के लोकोत्तर माधुर्य में निमग्न कर उसे स्वरूप दान कराती है। जब चित्त एक मात्र भगवान श्रीकृष्ण की ओर प्रवाहित होने लगता है तो रसानुभूति हुए बिना नहीं रहती। श्रीकृष्ण के प्रति प्रगाढ़ स्नेह ही परिपक्व होकर मधुर रस का रूप धारण कर लेता है जो भगवान श्रीकृष्ण का ही स्वरूप है, पूर्ण रस है।

परम ब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही एक मात्र ज्ञेय हैं। वे एक हैं और अद्वितीय हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कहीं कुछ भी नहीं है। जो कुछ दृश्य अथवा अदृश्य है वह सब श्रीकृष्ण का ही रूपान्तर अथवा आभास मात्र है। आनन्दांश के आंशिक रूप में तिरोहित हो जाने पर श्रीकृष्ण ही अक्षर ब्रह्म के रूप में भासित होते हैं। अक्षर ब्रह्म ही समस्त कारणों के कारण माने जाते हैं। भक्त जन को भी पुरुषोत्तम-धाम, व्यापी-बैकुण्ठ आदि के रूप में अक्षर ब्रह्म की ही प्रतीति होती है महाप्रभु श्रीमद् वल्लभ के अनुसार अक्षर ब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण का चरण है। बैकुण्ठ धाम अक्षर ब्रह्म का ही रूप है। यही अक्षर ब्रह्म कूटस्थ, निर्विकार, अव्यक्त आदि अनेक नामों से जाना जाता है। उपनिषदों के अनुसार यह अक्षर ब्रह्म रस रूप भगवान श्रीकृष्ण का पुच्छ भाग अथवा आधार रूप है।

काल, कर्म एवं स्वभाव भी अक्षर ब्रह्म के ही रूपान्तर हैं, जो नियामक शक्ति, क्रिया शक्ति एवं इच्छा शक्ति का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण का ही एक रूप अन्तर्यामी है एवं उसी अन्तर्यामी रूप के गुणावतार ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश हैं। यही अन्तर्यामी रूप समस्त भूतों में अन्तर्स्थित होकर उनका नियमन करता है। प्रत्येक जीव का एक अन्तर्यामी है जो उसका नियामक है और यह रूप भगवान श्रीकृष्ण का ही आनन्दमय रूप है। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य सभी रूप गणितानन्द अर्थात् सीमित आनन्द देने वाले हैं। भगवान श्रीकृष्ण ही पूर्णानन्द हैं, उनके आनन्द की कोई सीमा नहीं, कोई मर्यादा नहीं, वे अगणितानन्द हैं। महाप्रभु श्रीमद्वल्लभ ने अपने कृष्णाश्रय ग्रन्थ में इसी तथ्य की ओर इंगित किया है।

"प्राकृताः सकला देवाः गणितानन्दकं वृहत्।
पूर्णानन्दः हरि स्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥

(कृष्णाश्रय-8)

भक्त का लक्ष्य भगवान श्रीकृष्ण के रस स्वरूप की प्राप्ति होता है

जबकि ज्ञानी का लक्ष्य अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति मात्र होता है। वस्तुतः रस रूप श्रीकृष्ण परम ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम का भक्तिमार्गीय स्वरूप है जो भावगम्य है जबकि अक्षर ब्रह्म उसी पूर्ण पुरुषोत्तम का ज्ञानमार्गीय स्वरूप है, जिसमें रस रूप श्रीकृष्ण की तुलना में आनन्दांश की किंचित् न्यूनता होती है। जीव भी ब्रह्म का ही रूप है, परन्तु उसमें आनन्द का अंश पूर्णतया तिरोहित होता है। अपने इसी आनन्द स्वरूप को भगवान श्रीकृष्ण के अकारण अनुग्रह से प्राप्त कर लेना ही भक्ति का मुख्य लक्ष्य होता है।

पूर्णानन्द श्रीकृष्ण ही आनन्द की न्यूनाधिक मात्र के अनुसार सर्वत्र अवस्थित है, किन्तु आनन्द की मात्रा के अनुसार ही स्वरूप स्थिति होती है। सम्पूर्ण पृथ्वी का प्रभुत्व प्राप्त कर लेने पर जो आनन्द होता है, वह मनुष्य लोक का सबसे बड़ा आनन्द है। मृत्युलोक में सभी प्रकार के विषयों का जो स्वाद है, वह तो आनन्द न होकर आनन्द का आभास मात्र है। मनुष्य लोक से सौ गुना आनन्द गन्धर्वों का, उससे सौ गुना पितृलोक के पितरों का, उससे सौ गुना स्वर्ग के देवताओं का, उससे सौ गुना इन्द्र का, उससे सौ गुना बृहस्पति का, उससे सौ गुना प्रजापति का और प्रजापति के आनन्द से सौ गुना ब्रह्मा का आनन्द माना जाता है, जिसे ब्रह्मानन्द कहते हैं। यह ब्रह्मानन्द अक्षर ब्रह्म का ही आनन्द है जो मानवीय आनन्द की तुलना में अगाध एवं असीम है, किन्तु पूर्ण रस स्वरूप श्रीकृष्ण के मधुर रस की तुलना में न्यून एवं सीमित ही है। इसी तथ्य को व्यक्त करते हुए स्वायंभुव आगम में कहा गया है–

''ब्रह्मानन्द रसाद् अनन्त गुणितो, रम्यो रसो वैष्णवः।
तस्मात् कोटि गुणोज्ज्वलश्च मधुरः श्री गोकुलेन्दो रसः॥''

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति एवं योग साधन से सिद्ध समाधिअवस्था में जिस आत्मानन्द अथवा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कही गई है, वह आनन्द की अवस्था होने पर भी पूर्ण रस की अनुभूति नहीं कराती। श्रीकृष्ण का रस-स्वरूप तो उससे भी कई गुना उत्कृष्ट है। ब्रह्मानन्द तो पर-ब्रह्म श्रीकृष्ण की शान्त अवस्था मात्र है। वैकुण्ठाधिपति विष्णु की भक्ति से प्राप्त होने वाला वैष्णव रस ब्रह्मानन्द की तुलना में कई गुना अधिक उत्कृष्ट है किन्तु उसकी गति शान्त एवं दास्य भक्ति से ऊपर न होने के कारण उसमें न तो पूर्ण रस का अनुभव हो पाता है और न स्वरूप स्थिति

ही प्राप्त होती है। वस्तुतः रस का उत्कर्ष तो भगवान श्रीकृष्ण की सख्य एवं वात्सल्य भक्ति से ही प्रारम्भ होता है, जिसकी चरम परिणति माधुर्य रस में ही होती है। यह माधुर्य रस ही भगवदानन्द रस है श्रीकृष्ण का निज स्वरूप है, चिन्मय रस है जो सर्वथा परिपूर्ण है।

सख्य एवं वात्सल्य भाव की भक्ति में भगवान एवं भक्त के बीच एक ही विशेष भाव का सम्बन्ध प्रबल रूप से रहता है किन्तु माधुर्य में कान्ता भाव (गोपी भाव) के प्रमुख रहने पर भी सभी प्रकार के भावों का एक मात्र सम्बन्ध भगवान श्रीकृष्ण से ही रहता है। वस्तुतः सोपानारोहण न्याय से शान्त का दास्य में, दास्य का सख्य में, सख्य का वात्सल्य में एवं वात्सल्य का माधुर्य में पर्यवसान होता है। सर्व भाव से प्रभु श्रीकृष्ण से सम्बन्ध स्थापित किए बिना एवं समस्त लौकिक सम्बन्धों को श्रीकृष्ण की भक्ति के लिए न्यौछावर किए बिना भगवदानन्द रस का, भगवान श्रीकृष्ण के मधुर रस का आस्वादन हो ही नहीं सकता।

जीव भाव को प्राप्त होने से पूर्व भगवान श्रीकृष्ण का प्रत्येक अंश इसी मधुर रस का आस्वादन कर रहा था, अपनी स्वरूप स्थिति को प्राप्त था। अपने ही स्वरूप से च्युति हो जाने पर भी, देश एवं काल से परिच्छिन्न हो जाने पर भी, अनेक अज्ञान जनित आवरणों से युक्त हो जाने पर भी, उस परम रस की स्मृति आज भी प्रत्येक प्राणी के अचेतन में विद्यमान है। मोह का आवरण हटते ही यह स्मृति सजीव हो उठती है। इसी तरह इस परम रस का पुनः आस्वादन करने की पिपासा भी प्रत्येक जीव में विद्यमान है। इस पिपासा को शान्त करने के लिए सभी जीव लालायित हैं, सभी इस परम रस के लिए पागल हैं परन्तु यह परम रस कहाँ छिपा है? इसको कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह किसी को पता नहीं है। प्रत्येक पुष्प पर गुंजार करते रस लोलुप भ्रमर, तत्त्व-चिन्तक, योग साधन करने वाले योगी एवं भोगों में आनन्द ढूँढ़ने वाले विषय-लोलुप जीव इसी परम रस प्राप्ति की आकांक्षा से ही आकुल हैं एवं अपने-अपने सीमित रस को प्राप्त कर लेने पर भी अतृप्त ही हैं। भगवद् इच्छा अथवा नियति की प्रेरणा से जीव मात्र की जब से आनन्दावस्था से च्युति हुई है, तभी से सभी खोई हुई मणि वाले सर्प के समान पुनः इसे प्राप्त करने के लिए बेचैन हो रहे हैं।

तात्त्विक दृष्टि से तो ब्रह्म से वियोग होना सम्भव ही नहीं है

क्योंकि ब्रह्म तो अणु-अणु में, कण-कण में सर्वथा व्याप्त है। तो फिर यह वियोग ब्रह्म से न होकर परम ब्रह्म श्रीकृष्ण से हुआ है, आनन्दावस्था से च्युति हुई है, सत् एवं चित् के विद्यमान रहने पर भी आनन्द का अंश तिरोहित हो गया है। इसी आनन्दांश की खोज में जीव मात्र देश और काल से परिच्छिन्न होकर अनन्त योनियों में अनेक विषयों का आस्वादन करता हुआ भ्रमण करता रहता है और श्रीकृष्ण से पुनर्मिलन न होने तक अतृप्त ही बना रहता है। उसकी पूर्ण तृप्ति तो कृष्ण के पुनर्मिलन पर ही निर्भर है। जिसका विरह है, उसे पाए बिना व्याकुलता का अवसान कैसे हो सकता है ? किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि श्रीकृष्ण से जो वियोग हुआ है वह चिर-वियोग नहीं है क्योंकि इस वियोग के मूल में भी नित्य योग विद्यमान है। खण्ड से अखण्ड में लौटने की पूर्ण सम्भावना विद्यमान है किन्तु इसके लिए समस्त प्रतिबन्धक कारणों का परिहार आवश्यक है।

प्रत्येक जीव अपनी वृत्तियों के ज्ञान से ही बँधा रहता है और वृत्तियाँ लौकिक विषयों के आस्वादन में सहायक होने पर भी इस पूर्ण रस की अनुभूति में व्यवधान उपस्थित करती हैं। यह पूर्ण रस सर्वथा स्वाधीन है, वृत्ति-जन्य नहीं है, यह तो स्वयं ही अपने को प्रकट करता है, किसी अन्य में उसके प्रकट करने की सामर्थ्य नहीं है। इसी पूर्ण रस की छाया जो परिच्छिन्न आनन्द के रूप में है, देश और काल में भी प्रकट होती रहती है किन्तु यह विशुद्ध रस न होकर रसाभास मात्र ही होती है। देश और काल की परिच्छिन्नता में विशुद्ध रस की अनुभूति न होकर इसका आभास मात्र ही होता है। इसी आभास को विशुद्ध रस के रूप में प्राप्त करने की भावना का नाम ही भक्ति है।

भक्ति मन की वृत्ति नहीं है। योगमार्ग एवं वेदान्त में भक्ति के यथार्थ स्वरूप को न पहचान कर उसे भी वृत्ति मात्र मानकर गौण साधन के रूप में ही उसे महत्त्व दिया जाता है किन्तु यह मान्यता समीचीन नहीं है। वृत्तियां तो पूर्ण रस के सामने कुण्ठित हो जाती हैं एवं भगवद् रस को ग्रहण करने में असमर्थ रहती हैं जबकि भक्ति अपनी प्रबलता से भगवान को भी अपने वश में कर लेती है अतः भक्ति वृत्ति न होकर भगवान श्रीकृष्ण की परम अन्तरंगा आह्लादिनी शक्ति राधा का ही रस सार स्वरूप है जो भक्ति के रूप में प्रकट होकर भगवान को भी अपने वश में कर लेती है। भक्ति तो भगवद् रस का आविर्भाव है। भगवान ने स्वयं अपनी प्राप्ति के लिए जो उपाय बताया है, उसी

का नाम भक्ति है।

जीव में अहंता एवं ममता के कारण देश-काल-जन्य अनेक आवरण रहते हैं, इसलिए उसमें भगवद् रस स्फूर्त नहीं होता। आवरण भंग हुए बिना जीव को पूर्ण रस की प्राप्ति नहीं होती। श्रीकृष्ण स्वयं ही सद्गुरु के रूप में आवरण हटाकर जीव को रस ग्रहण करने के योग्य बना देते हैं। ज्ञान जब तक आनन्द के रूप में परिवर्तित नहीं होता तब तक संवेद्यमान नहीं होता। संवेद्यमान होने पर ही आनन्द भी रस के रूप में आस्वाद्य होता है। रस का अभिन्न रूप से आस्वादन ही अखण्ड अनुभूति का स्वरूप है, अतः अनुभूति वृत्ति न होकर रस स्फूर्ति है, जिसमें सत्ता और ज्ञान दोनों का अन्तर्निवेश है।

मूलतः यह भगवद् रस ही एक मात्र रस है किन्तु यह एक होकर भी अनन्त है, सामान्य होकर भी विशेष हैं। वृत्तियों एवं इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला सुख दूषित है किन्तु वृत्तियों के विलीनीकरण एवं सर्वभाव से समर्पण होने के बाद जो रसस्फूर्ति होती है, वह सर्वथा विशुद्ध है। प्रत्येक जीव का एक अपना रूप है जो कल्पित नहीं है। यह उसी का रूप है, किसी अन्य का नहीं, यह रूप उसके भाव से ही बना है, यह दूसरे से सर्वथा भिन्न है, यही उसका विशेष रूप है। इसके अतिरिक्त भी उसका एक रूप और है जो सामान्य है जो समान रूप से सभी जीवों का है, ईश्वर का भी है। यही रूप सर्वरूप है, सामान्य है। इस प्रकार सभी जीव सामान्य रूप के कारण भगवान से अभिन्न भी हैं एवं अपने-अपने विशेष रूप के कारण भिन्न-भिन्न भी हैं। अपने ही विशेष एवं सामान्य रूप में अभेद का अनुभव भाव-साधन से ही सम्भव है। रस रूप परब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण के स्वरूप में अपने विशेष एवं सामान्य दोनों रूपों के अभेद का अनुभव हो जाता है। जीव की यात्रा भेद से अभेद की ओर है।

एक जीव अपने विशेष रूप के कारण ही भगवान अथवा जगत् को जिस दृष्टि से देखता है, जिस भाव से जानता है, दूसरा जीव ठीक वैसा ही कदापि नहीं कर सकता। इसीलिए भगवान के साथ उसके प्रत्येक अंश रूप जीव का अपना विलक्षण सम्बन्ध है, जो विशिष्ट होने पर भी भावमय है। जीव और रसरूप पर-ब्रह्म श्रीकृष्ण के पारस्परिक सम्बन्ध की अनुभूति जीव को रसोन्मुख करती है। भेद और अभेद की साम्यावस्था में ही रसस्फूर्ति होती है। इस अवस्था में विशेष के रूप में आकार का भेद चाहे

रहे किन्तु सामान्य में अभेद हो जाने से रसानुभूति होती है। मैं और तुम दोनों शब्द इस अवस्था में एक ही वस्तु के वाचक हो जाते हैं। साहित्य की भाषा में यही मधुमती भूमिका है, ज्ञान की भाषा में यही आत्मरमण एवं भक्ति की भाषा में यही पराभक्ति है। इस अवस्था में देशकाल से परिच्छिन्न अहं स्व का अतिक्रमण कर अपने ही सामान्य रूप सर्वात्म एवं परमात्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। मैं, तुम और जगत् सभी मधुमय प्रतीत होते हैं। सुख एवं दुःख की अवस्था में भी आनन्द एवं माधुर्य ही शेष रह जाता है। असीम, अनन्त माधुर्य का सागर अन्दर और बाहर प्रकाशमान हो उठता है। यही पूर्ण रस-बोध की अवस्था है, जहाँ मिलन में भी आनन्द है, विरह में भी आनन्द है, यहाँ तक कि हँसने-रोने से लेकर समस्त क्रियाओं में माधुर्य ही रह जाता है। यही रस रूप श्रीकृष्ण का नित्य योग है।

प्रत्येक जीव के साथ श्रीकृष्ण का एक निगूढ़ एवं आन्तरिक सम्बन्ध हैं। प्रत्येक जीव अपने विशिष्ट भाव के अनुसार ही श्रीकृष्ण के साथ चिरसंयोग की इच्छा रखता है, ऐसा भक्त ही रसिक कहलाता है। प्रत्येक भक्त के साथ श्रीकृष्ण का यह महामिलन अति गुप्त स्थान में संघटित होता है। यही श्रीकृष्ण की निकुंज लीला है जिसमें किसी अन्य को प्रवेश का अधिकार नहीं, क्योंकि यहाँ कृष्ण केवल उसी का है, अन्य का नहीं, यही राधाभाव है।

भक्ति के क्रमिक विकास में प्रभु की इच्छा से दैवी जीव प्रभु की ओर उन्मुख होकर स्वयं को उनके चरणों में समर्पित करता है। यही दास्य भक्ति है। दास्य भक्ति में शरणागति को पुष्ट करने वाला अष्टाक्षर मंत्र **''श्रीकृष्णः शरणं मम''** अत्यन्त सहायक है जिसका निरन्तर स्मरण करते रहने से प्रभु के प्रति सेवा भाव में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। दास्य भक्ति के अनन्तर प्रभु की इच्छा से सख्य भक्ति का स्फुरण होता है जिसमें दासत्व की मर्यादा से ऊपर उठकर भक्त को प्रभु के साथ हास्य विनोद करने, क्रीड़ा करने एवं खाने-पीने का अवसर प्राप्त होता है। प्रभु की सन्निधि प्राप्त कर भक्त अपनी आत्मीयता प्रकट करने का अवसर जुटा कर उनकी प्रसन्नता के लिए सदैव उत्साहित एवं तत्पर रहता है। सख्य भक्ति में कृष्ण के प्रति अपने अपनत्व को सुदृढ़ किया जाता है और इसके लिए पंचाक्षर मंत्र **''कृष्णः तवाऽस्मि''** का सतत स्मरण सख्य भाव

की पुष्टि कराने में सहायक सिद्ध होता है दास्य भक्ति में श्रीकृष्ण स्वामी के रूप में बड़े ही बने रहते हैं एवं दास सेवक के रूप में छोटा ही बना रहता है किन्तु सख्य भक्ति में छोटे और बड़े का अन्तर समाप्त होकर दोनों का सम्बन्ध समानता पर आधारित रहता है।

सख्य भक्ति के अनन्तर प्रभु की इच्छा से उदार चित्त भक्त जन में प्रभु के प्रति वात्सल्य भाव का स्फुरण होता है। इस भक्ति में श्रीकृष्ण का बाल स्वरूप भक्त का आलम्बन बनकर उसे अपनी बाल छवि से आकर्षित कर लेता है। भक्त की प्रत्येक क्रिया एवं चेष्टा इसी बाल स्वरूप के लिए नियोजित हो जाती है। वात्सल्य का अतिरेक होने पर भक्त को स्वयं की भी विस्मृति हो जाती है और प्रभु से पूरा अपनत्व स्थापित हो जाता है। वह प्रभु को अपना मानने लगता है। उसके समस्त लौकिक सम्बन्ध शिथिल हो जाते हैं। "श्रीकृष्ण मेरे हैं" भक्त का यह भाव प्रगाढ़ हो जाता है और भक्ति की इस अवस्था में श्रीकृष्ण पर अपना कुछ-कुछ अधिकार मानने का भाव भी विकसित होने लगता है। वात्सल्य के कारण भक्त में बड़े होने का भाव रहता है और वह कृष्ण को बालक समझकर अहर्निश उसे सुख पहुँचाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। गोपी भाव का स्फुरण वात्सल्य के अतिरेक में भी होने लगता है।

वात्सल्य भक्ति में भी निर्विकारता, दिव्यता एवं उज्ज्वलता रहती है, किन्तु भक्ति का चरमोत्कर्ष तो मधुर भाव में ही होता है। इस अवस्था में भक्त अपना सर्वस्व प्रभु को समर्पित कर समस्त लौकिक, वैदिक धर्मों एवं सम्बन्धों को विस्मृत कर प्रभु का अंगीभूत बन जाता है। मधुर रस का मोदन भाव मादन के रूप में परिवर्तित हो प्रभु को भी आकर्षित कर लेता है एवं प्रभु स्वयं भी भक्त के प्रेमी हो जाते हैं। यही राधा भाव है, जिसमें श्रीकृष्ण एक मात्र मेरे ही हैं' इस प्रकार का भाव प्रगाढ़ हो जाता है। इस महाभाव में अपने प्रेमास्पद श्रीकृष्ण पर भी प्रेम का आधिपत्य हो जाता है। सम्पूर्ण अस्तित्व श्रीकृष्ण के लिए ही है, ऐसा ही अनुभव शेष रह जाता है। यही राधा भाव है, जो माधुर्य की पराकाष्ठा हैं। इसी महाभाव से श्रीकृष्ण रूपी परम रस का आस्वादन किया जा सकता है। श्रीकृष्ण के रस रूप को भोग्य बनाया जा सकता है किन्तु रसानुभूति की इस अवस्था में भोक्ता, भोग एवं भोग्य का भेद नहीं रह जाता। त्रिपुटी एकाकार हो जाती है। इसी स्थिति का नाम महारास है।

भोक्ता, भोग एवं भोग्य तीनों का पृथक् भाव रहने तक रस का स्फुरण नहीं होता। श्रीकृष्ण नित्य है, उनकी लीला भी नित्य है, इसलिए इस परम रस का भोक्ता भी देश और काल से परिच्छिन्न अहं न होकर प्रभु श्रीकृष्ण का ही रसांश होता है, जो शुद्ध, पूर्ण एवं नित्य है, जो जन्म, मृत्यु, सुख-दुख, देह एवं कर्म के अधीन न होकर भावमय चिन्मय देह से युक्त है।

श्रीकृष्ण के साथ पुनर्मिलन होने पर नैसर्गिक रूप से होनेवाला यह रसास्वादन शुद्ध ज्ञान मात्र नहीं है, न यह तत्त्वानुभूति मात्र है और न यह योगी जन सुलभ समाधि का आनन्द है अपितु यह तो भक्ति भाव की प्रगाढ़ एवं परिपक्व अवस्था का प्रतिफलन है। यह परम रस केवल चिदानन्द मात्र न होकर सच्चिदानन्द है। यही रस रूप श्रीकृष्ण है, यही परम प्रेम है। यह भगवान की अंशभूता आह्लादिनी शक्ति का सार अंश है। इसलिए भक्ति मार्ग में इसे आनन्द चिन्मय रस की संज्ञा दी गई है।

श्रीकृष्ण ही प्रेम के एक मात्र आलम्बन हैं। वे प्रेम के शाश्वत संरक्षक ही नहीं अपितु स्वयं रस रूप होकर सतत रसमयी लीलाओं में संलग्न हैं। प्रेम ही उनका स्वरूप है, ऐश्वर्य है। प्रेम ही साधन एवं प्रेम ही साध्य है। प्रेम ही रस रूप परमात्मा को प्रकट करता है। कभी यह प्रेम प्रेमी भक्त की ओर से तरंगायित होकर कृष्ण की ओर प्रवाहित होता है तो कभी यह श्रीकृष्ण की ओर से स्फूर्त होकर प्रेमी भक्त को रस-विभोर कर देता है। प्रेम का प्रादुर्भाव पहले श्रीकृष्ण में होता है अथवा प्रेमी भक्त में, इस प्रश्न का उत्तर अनिर्वचनीय है। श्रीकृष्ण रससिन्धु हैं, उनका अनन्त सौन्दर्य एवं प्रेमी भक्त जन का अनन्त प्रेम, दोनों ही देश, काल एवं वैचित्र्य की दृष्टि से अनन्त है। यह परम रस चिर पुरातन होकर भी रसिक भक्तों के हृदय में नित्य नूतन रूप में प्रकट होता है।

प्रभु मिलन की इच्छा की भावना का उदय होने पर इस परम रस की प्राप्ति अवश्यंभावी है। इसकी प्राप्ति कब और कैसे होगी? यह भक्त की भावना की तीव्रता पर निर्भर है। प्रबल भावना होने पर इस रस प्राप्ति में देश और काल का कोई नियम अथवा प्रतिबन्ध नहीं रहता। पिपासा के तीव्र हो जाने पर जल को प्रकट होना पड़ता है। प्रगाढ़ प्रेम के प्रादुर्भाव होने पर सिन्धु स्वयं बिन्दु से, परब्रह्म स्वयं अपने अंश से मिलने को लालायित एवं बाध्य हो जाता है। अतः श्रीकृष्ण की

यह रस लीला अत्यन्त गूढ़, विचित्र एवं विलक्षण है।

यदि किसी को श्रीकृष्ण के इस दिव्य, विशुद्ध, परम रस का अनुभव नहीं होता तो यही कहा जा सकता है कि कहीं न कहीं कोई आवरण शेष है, समर्पण का अभाव है, अन्तःकरण में अहंता एवं ममता शेष है। प्रेम की तीव्रता होने पर समर्पण का भाव प्रबल हो जाता है। अहंता एवं ममता को पूर्णतया श्रीकृष्ण के प्रेम पर न्यौछावर कर देने पर जीवत्व का आवरण भंग हो जाता है।

यह संसार प्राकृत है और प्रभु श्रीकृष्ण का रस स्वरूप लोकोत्तर एवं अप्राकृत है। अतः प्रभु से पुनर्मिलन के लिए, उस परम रस को शाश्वत रूप से प्राप्त करने के लिए मनुष्य को प्राकृत स्तर से ऊपर उठना होगा। ज्ञान एवं कर्म को भी भाव-साधना में सहायक बनाना होगा। प्रभु श्रीकृष्ण का मनोहारी स्वरूप भाव-गम्य है, अतः गोपीभाव में प्रतिष्ठित होकर ही समस्त भावों के समुच्चय उस राधा रूपी महाभाव को प्राप्त किया जा सकता है। यह महाभाव ही उज्ज्वल एवं मधुर रस का अक्षय आगार है। इसी उज्ज्वल एवं मधुर रस को प्राप्त करना ही रस रूप प्रभु श्रीकृष्ण को प्राप्त करना है, इसी में प्रेम भक्ति की, मानव जीवन की सार्थकता है।

महाप्रभु श्री वल्लभ का दिव्य स्वरूप

सच्चिदानन्दघन लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण पूर्णानन्द, पूर्णकाम एवं परिपूर्णतम परब्रह्म हैं। उनका निजस्वरूप अलौकिक, चिन्मय, दिव्य एवं अनिर्वचनीय है। आनन्दघन परब्रह्म में आनन्द के आंशिक तिरोभाव से उन्हीं का स्वरूप अक्षर ब्रह्म अथवा अपर ब्रह्म कहलाता है। यही अक्षर ब्रह्म अपने आनन्दांश को तिरोहित कर सर्व रूप बनता है। आनन्द के अनुपात से ही दिव्यता का निर्धारण होता है। आनन्दघन होने के कारण श्रीकृष्ण का स्वरूप पूर्णतः दिव्य है किन्तु अक्षर ब्रह्म एवं सर्व रूप में आनन्दांश की न्यूनता के अनुपात में दिव्यता का अभाव रहता है। आधिदैविक स्वरूप में पूर्ण दिव्यता, आध्यात्मिक स्वरुप में आंशिक दिव्यता एवं आधिभौतिक रूप में दिव्यता का सर्वथा अभाव सा रहता है। आनन्द एवं दिव्यता का घनिष्ट सम्बन्ध है। अपने चित्त में तिरोहित हुए

आनन्द एवं स्वरूपगत दिव्यता को प्राप्त करना ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। मनुष्य का भौतिक आकारगत अस्तित्व दिव्यता के अभाव में रूप मात्र है। दिव्यता से युक्त होने पर ही स्वरूप बनता है।

कतिपय आत्माओं का अवतरण जन्मजात दिव्यता के साथ होता है। ये आत्माएँ प्रभु के विशुद्ध एवं विशिष्ट अंश को धारण किये हुए भगवत्प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही अवतरित होती हैं। महाप्रभु श्री वल्लभ का आविर्भाव भी किसी विशेष भगवत्प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही हुआ था। इसीलिए आविर्भाव से लेकर तिरोभाव पर्यन्त वे सदा ही अपने दिव्य भाव एवं आनन्दमय स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहे। साधारण जीवों की तरह उनमें कहीं पर भी मानवीय दुर्बलता अथवा स्वरूप-च्युति नहीं पाई जाती। महाप्रभु के स्वरूप की दिव्यता निर्धारित करने के लिए सर्वाधिक प्रामाणिक एवं विश्वसनीय कथ्य उन्हीं का उपलब्ध है जो श्री सुबोधिनी के मंगलाचरण में लिखा गया है—

''अर्थस्तस्य विवेक्तुमर्हति न वै वैश्वानराद् वाक्पते,
रत्यस्तत्र विधाय मानुसतनुं मां व्यासवच्छीपति।
दत्वाऽज्ञां च कृपावलोकमकरोद् यस्मादतोऽहं मुदा,
गूढ़ार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम् ॥''

(श्री सुबोधिनी)

उक्त मंगलाचरण में महाप्रभु ने अपने यथार्थ दिव्य स्वरूप का संकेत देते हुए स्पष्ट किया है कि उनका स्वरूप वाक्पति वैश्वानर का है तथा भगवान की आज्ञा से श्रीमद् भागवत का गूढ़ार्थ प्रकट करने के लिए ही उनका आविर्भाव हुआ है। भगवान ने श्री वेद व्यास को भागवत प्रणयन का आदेश दिया एवं महाप्रभु वल्लभ को भागवत का गूढ़ार्थ प्रकट करने की आज्ञा दी क्योंकि गूढ़ार्थ का उद्घाटन करने में वाक्पति वैश्वानर ही समर्थ हैं। वैश्वानर वाणी के अधिपति हैं, अग्नि स्वरूप हैं तथा भगवान के मुखारविन्द हैं। वाणी का प्रादुर्भाव भी अग्नि से ही हुआ है। जिस प्रकार अग्नि समस्त विकृतियों को भस्मीभूत कर देती है उसी प्रकार वाणी भी समस्त अज्ञान जनित अन्धकार को दूर कर जीव को प्रकाशमय मार्ग की ओर उन्मुख करती है। वाणी अपने गुप्त से गुप्त रहस्य को अपने स्वामी वैश्वानर के समक्ष प्रकट कर देती है अतः वाणी के समस्त अंग-प्रत्यंगों, हाव-भाव, चेष्टा, लास्य, ध्वनिवक्रता, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य

एवं उसमें निहित रसादि का यथार्थ निरूपण वाक्पति वैश्वानर द्वारा ही सम्भव है। वाक् शक्ति श्री, पुष्टि, कान्ति आदि भगवान की अनन्त शक्तियों में से एक मुख्य शक्ति है और वाक्पति वैश्वानर भगवान का ही स्वरूप है। इस दृष्टि से महाप्रभु श्री वल्लभ को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण का वदनावतार माना जाता है।

श्री वेद व्यास के अनुसार वैश्वानर का अर्थ ब्रह्म-परक है। इस शब्द से ईश्वर का बोध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार वैश्वानर को आत्म रूप, पर-ब्रह्म रूप, अग्नि-रूप तथा पुरुष-रूप माना जाता है। श्रीमद् भगवद् गीता में भी वैश्वानर को भगवद्-रूप माना गया है—**"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देह माश्रितः"** (गीता)

जैमिनि ऋषि के अनुसार वैश्वानर का स्वरूप आकाशवत् व्यापक है। इस प्रकार वैश्वानर साकार पुरुष-रूप है। उसके अवतार का अर्थ है परमात्मा का जीवात्मा के धरातल पर उतरना। यही महाप्रभु का विलक्षण दिव्य स्वरूप है।

महाप्रभु वल्लभ के प्रत्येक ग्रन्थ में उनके वाक्पति स्वरूप के दर्शन होते हैं। वाणी का सर्वांगदर्शन श्री वल्लभ को ही हुआ है। उन्होंने वाक्य प्रयोग की सार्थकता का पूर्णतः परिपालन किया है। वाक्पति होने के कारण वे स्वयं वाणी के रक्षक भी हैं अतः उन्होंने कहीं पर भी वाणी का तिरस्कार नहीं होने दिया है। भारतीय वाङ्मय में साकार-निराकार, सविशेष-निर्विशेष आदि अनेक वादों का समावेश हुआ है। महाप्रभु श्री वल्लभ ने किसी वाद विशेष को स्वीकार कर, अथवा अन्य वाद को अस्वीकार कर वाणी का अनादर नहीं किया है अपितु उनका अविरोध प्रतिपादित किया है। उदाहरणार्थ महाप्रभु ने—साकार का अर्थ अप्राकृत अलौकिक आकार एवं निराकार का अर्थ लौकिक आकार से रहित किया है। उनकी दृष्टि से ब्रह्म साकार है एवं प्राकृत तथा लौकिक दृष्टि से निराकार है।

वाणी की रक्षा के लिए उन्होंने जगत् एवं संसार का पार्थक्य सूचित करते हुए जगत् को सत्य एवं शाश्वत बताया है। नाम एवं रूप के भेद से जगत् में सदैव प्रभु को क्रीड़ा करते हुए बताया है। साथ ही अहंता एवं ममता से युक्त होने पर यही जगत् संसार का रूप ले लेता है जो असत्य होने पर भी वैराग्य की ओर उन्मुख करता है। यह अहंता ममता

रूप संसार ही बन्धन का कारण है। इस तरह महाप्रभु ने समस्त वादों को यथोचित स्थान देते हुए, जन सामान्य की अनेक भ्रांतियों का भी निराकरण किया है। **"सर्व रूप त्वात्प्रमाणं सर्वमेव हि"** की स्थापना में उनका यही लक्ष्य रहा है।

श्रीमद् भागवत के दशम स्कन्ध की सुबोधिनी व्याख्या लिखते समय महाप्रभु वल्लभ ने जो नमस्कारात्मक मंगलाचरण लिखा है उसमें भी उनके दिव्य स्वरुप की ही अभिव्यक्ति हुई है–

"नमामि हृदये शेषे लीला क्षीराब्धिशायिनम्।
लक्ष्मी सहस्त्र लीलाभि; सेव्यमानं कलानिधिम् ॥"

इस श्लोक द्वारा महाप्रभु ने भगवान के उस परमानन्दमय दिव्य स्वरूप की झाँकी कराई है जो उनके हृदय में विद्यमान है।

क्षीर-सागर में शेष-शैय्या पर शयन करने वाले लक्ष्मी द्वारा सेवित श्री नारायण का स्वरूप तो अनादि काल से भक्त जन के लिए उपास्य एवं योगीवृन्द के लिए ध्यान का विषय रहा है किन्तु महाप्रभु वल्लभ के हृदय में स्थित भगवत्स्वरूप तो उससे भी अधिक आकर्षक एवं विलक्षण है। महाप्रभु अपने हृदय को ही शेष-शैय्या के रूप में अनुभव करते हैं एवं उसी हृदय में अनन्त लीलाओं का क्षीर-समुद्र है जहाँ आनन्दघन प्रभु को लीलानुरूप स्वरूप से नित्य विराजमान देखते हैं। लक्ष्मी को अपनी सहस्त्रों लीलाओं से अनन्त कलाओं के अक्षय कोष लीला पुरुषोत्तम की सेवा में संलग्न होते एवं प्रभु को समस्त लीलाओं के अनुरूप स्वरूप धारण कर उनकी सेवाएँ अंगीकार करते हुए देखते हैं।

महाप्रभु के हृदय में नित्य विराजमान लीला पुरुषोत्तम का यह स्वरूप भावगम्य है। वस्तुतः महाप्रभु श्री वल्लभ का हृदय ही लीला-क्षेत्र है जहाँ कलानिधि पुरुषोत्तम अपनी विविध लीलाओं में असंख्य कलाओं का उपयोग कर रहे हैं। इस रसमयी लीला के आलम्बन, उद्दीपन एवं रस परिपाक के लिए उपयोगी समस्त सामग्री महाप्रभु के हृदय में ही विद्यमान है। वस्तुतः महाप्रभु का यही दिव्य स्वरुप है जो अपने ही भाव मय, रसमय एवं लीलामय स्वरूप को लीला पुरुषोत्तम के रूप में सेव्य बना कर स्वयं भक्त रूप से उसकी वन्दना कर रहा है। यह भेद नहीं लीला कृत विभेद है जो उस दिव्य चिन्मय रस प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

महाप्रभु श्री वल्लभ के आत्मज गो. विट्ठलनाथ जी ने अपने द्वारा

रचित सर्वोत्तम स्तोत्र, स्फुरत्कृष्ण प्रेमामृत, सप्त श्लोकी एवं श्री वल्लभाष्टक में महाप्रभु श्री वल्लभ के दिव्य एवं सर्वोत्तम स्वरूप का सांकेतिक वर्णन करते हुए जो उनका स्वरूप निरूपण किया है वह निम्नांकित श्लोक से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है–

"सौन्दर्य निज हृदगतं प्रकटितं स्त्रीगूढ भावात्मकम्
पुरूपं च पुनस्तदन्तरगतं प्रावीविशत्स्वप्रिये।
संश्लिष्टावुभयोर्बभौ रसमयः कृष्णो हि तत्साक्षिकम्,
रुपं तत्त्रितयात्मकं परमभिधेयं सदा वल्लभम् ॥"

श्रीमद् वल्लभ के रूप में तीन तत्त्वों का समावेश है। प्रथम तत्त्व अपने हृदय में प्रकट हुआ स्त्री गूढ़ भावात्मक सौन्दर्य है तथा दूसरा तत्त्व उसी हृदय में प्रकट हुआ पुरुष रूप सौन्दर्य है। ये सांकेतिक दोनों सौन्दर्य तत्त्व ही क्रमशः लक्ष्मी सहस्त्र लीला तथा कला निधि इन दो पदों से मंगलाचरण में गृहीत हुए हैं। इन दोनों सौन्दर्य तत्त्वों का परस्पर में संश्लेष हो जाने पर जो रस अभिव्यक्त होता है वही श्रीकृष्ण है। इसे ही लीलाक्षीराब्धिशायी एवं लक्ष्मी सहस्त्रलीलाभिः सेव्यमान कहा गया है। यहीं स्त्री पुंभाव मिलित सौन्दर्य तत्त्व रसमय कृष्ण अथवा लीला पुरुषोत्तम कहा जाता है। इसका साक्षात्कार करने वाला साक्षी तृतीय तत्व परमानन्द तत्व है। इन तीन तत्वों के सामूहिक रूप को ही त्रितयात्मक कहा गया है। परं पद द्वारा इसी स्वरूप को सर्वोत्तम बताकर अभिधेयं पद द्वारा उसके अभिमुख होकर ध्यान करने का परामर्श दिया गया है। सदा पद महाप्रभु की सर्वकालिक-प्रियता का सूचक है। वल्लभ तो उनका नाम ही है अतः नाम के साथ ही उनका स्वरूप भी वल्लभ ही है।

भावार्थ यह है कि जब आत्मा स्वयं में अन्तर्निहित सौन्दर्य को प्रकट करना चाहती है तो वह सौन्दर्य वल्लभ रूप में प्रकट होता है।

भागवत तत्वार्थ दीप निबन्ध के मंगलाचारण में महाप्रभु वल्लभ ने इसी सौन्दर्य तत्त्व का उल्लेख करते हुए कहा है **"कृष्ण शब्देन परं वस्तूच्यते"** अर्थात् यह परम सौन्दर्य श्रीकृष्ण शब्द से ही उच्चरित किया जा सकता है। इसी तरह महाप्रभु वल्लभ एवं श्रीकृष्ण का स्वरूप अभिन्न है।

सर्वोत्तम स्तोत्र में महाप्रभु श्री वल्लभ के 108 परम दिव्य नामों का स्मरण किया गया है जो उनके दिव्य स्वरूप का ही परिचायक है सर्वोत्तम

स्तोत्र के अनुसार महाप्रभु साक्षात् श्रीकृष्ण के ही स्वरूप हैं। उनके स्वरूप का चित्रण इस प्रकार है–

1. **प्रतिक्षण-निकुंजस्थ लीला रस सुपूरित**–इसका भाव यह है कि महाप्रभु सदैव निकुंज में विराजमान रहते हुए लीला रस में निमग्न रहते हैं, उसी परम रस में छके रहते हैं एवं इसी की चर्चा करते रहते हैं।
2. **तत्कथा क्षिप्त चित्त**–महाप्रभु का चित्त सदैव भगवान श्रीकृष्ण की कथा एवं उनके स्वरूप में ही लीन रहता है।
3. **तद्विस्मृतान्य**–श्रीकृष्ण ही उनकी स्मृति में विद्यमान रहते हैं। उन्हें श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य सांसारिक प्रपंच की विस्मृति हो गई है।
4. **निगूढ़ हृदय**–महाप्रभु वल्लभ के हृदय का गूढ़ भाव जानना सर्वथा कठिन है।
5. **अनन्य भक्तेषु ज्ञापिताशय**–इसका आशय यह है कि उनकी कृपा से ही उनको जाना जा सकता है। महाप्रभु के अनन्य भक्त ही उनकी कृपा से उनका आशय जान पाते हैं। पद्मनाभदास जैसे करोड़ों में से किसी एक अनन्य भक्त को ही आप कृपा कर अपना आशय बताते हैं। महाप्रभु की कृपा का अनुभव भी अनन्य भक्तों को ही होता है।
6. **आनन्द परमानन्द**–महाप्रभु आनन्द स्वरूप हैं। प्रभु श्रीकृष्ण ही आनन्द का मूर्त स्वरूप है। महाप्रभु का स्वरूप विषयानन्द एवं ब्रह्मानन्द न होकर भजनानन्द है। यह भजनानन्द ही परमानन्द है जो भक्ति से साध्य है। महाप्रभु रासलीला रूप भजनानन्द से परिपूर्ण हैं।
7. **विरुद्ध धर्माश्रयत्व**–प्रभु की ही तरह महाप्रभु के स्वरूप में भी ईश्वर एवं दासत्व दोनों एक साथ विद्यमान हैं।
8. **श्री कृष्णास्यं**–महाप्रभु श्रीकृष्ण के मुखारविन्द स्वरूप हैं। यही नहीं श्री प्रभु तथा स्वामिनी जी दोनों के संश्लिष्ट मुख से उनका प्राकट्य हैं।
9. **कृपा-निधि**–श्रीमहाप्रभु वल्लभ नित्य लीला के आनन्द को छोड़कर दैवी जीवों के उद्धार के लिए भूतल पर अवतीर्ण हुए हैं अतः

कृपानिधि हैं।

10. **दैवोद्धार प्रयत्नात्मा**—महाप्रभु दैवी जीवों के उद्धारार्थ सतत प्रयत्नशील रहने वाले हैं।

11. **स्मृति मात्रार्ति नाशन**—महाप्रभु के स्वरूप के स्मरण मात्र से सभी प्रकार के दुःख, आधि-व्याधि, कष्ट एवं सन्ताप तत्क्षण दूर हो जाते हैं। यह महाप्रभु के स्वरूप का प्रमेय बल है।

12. **साकार ब्रह्मवादैक स्थापक**—ब्रह्म में अप्राकृत आकार एवं अप्राकृत गुण बताकर महाप्रभु ने साकार ब्रह्मवाद की स्थापना की है।

13. **मायावाद निराकर्ता**—मायावाद ब्रह्म को निराकार एवं जगत को मिथ्या मानता है। महाप्रभु की दृष्टि से ब्रह्म ही सर्व रूप है एवं जगत् प्रभु का ही आधिभौतिक स्वरूप है। महाप्रभु ने ही मायावाद के भ्रम का निवारण किया है।

14. **महाकारुणिक**—महाप्रभु कृपानिधि होने से महाकारुणिक भी है क्योंकि कृपा का बीज करुणा है। निस्सहाय जीव को अंगीकार करना ही आपकी करुणा है।

15. **अदेय दान दक्ष**—महाप्रभु प्रेमलक्षणा-भक्ति एवं रसात्मक भगवत्स्वरूप का दान करते हैं अतः अन्य कोई भी जिस भगवत्स्वरूप का दान देने में समर्थ नहीं है, महाप्रभु उस भगवत्स्वरूप का दान देने में समर्थ हैं।

16. **महोदार चरित्रवान्**—महाप्रभु अपनी महान् उदारता से साधन के बिना भी प्रभु प्रीति उत्पन्न करने एवं उसे दृढ़ करने में समर्थ हैं।

17. **सुख सेव्य : दुराराध्य**—महाप्रभु की सेवा सहज रूप से हो सकती है किन्तु उनकी आराधना सरल नहीं है क्योंकि महाप्रभु प्रेम से की गई सेवा से शीघ्र सन्तुष्ट होने वाले हैं।

18. **श्री भागवत-पीयूष समुद्र-मंथन क्षम**—महाप्रभु भागवत रुपी अमृत-समुद्र का मंथन कर भक्त जन को भगवत् रसामृत का पान कराने वाले हैं। भागवत के 7(सात) प्रकार के अर्थ का निरूपण कर आपने अपनी सामर्थ्य का परिचय दिया है।

19. **सान्निध्य मात्र दत्त श्रीकृष्ण प्रेमा**—महाप्रभु अपने सामीप्य मात्र से श्रीकृष्ण प्रेम का दान करने वाले हैं।

20. **भक्त्याचारोप देष्टा**—महाप्रभु आचार्य के स्वरूप में भक्ति के आचार

का उपदेश देने वाले हैं।

21. **विबुधेश्वर**–महाप्रभु प्रखर पाण्डित्य वाले पंडितों में सर्वश्रेष्ठ हैं।
22. **भक्त परायण**–महाप्रभु भक्तों का हित करने में सदैव तत्पर हैं।
23. **सर्व शक्तिधृक्**–महाप्रभु प्रभु श्रीकृष्ण की समस्त अलौकिक शक्तियों को धारण करने वाले हैं।
24. **स्मयापह**–महाप्रभु मान, अभिमान दोनों का नाश करने वाले हैं। वे गर्वभंजक हैं। महाप्रभु की वाणी अत्यन्त दुर्बोध है। उनकी वाणी की यह दुर्बोधता भगवद् इच्छा से है ताकि उनकी वाणी समझकर कोई गर्व का अनुभव नहीं कर सके। पांडित्य के अभिमानी होकर भक्त प्रभु को तुष्ट करने वाले दैन्य से वंचित रह सकते हैं अतः उनके हित के लिए ही दुर्बोध वाणी का प्रयोग किया है। महाप्रभु ने अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए ऐसा नहीं किया है।
25. **पुष्टि लीला कर्ता**–महाप्रभु पुष्टि लीला स्वयं करने वाले हैं। भक्त जन को आपके अनुग्रह का अनुभव सदैव बना रहता है।

सर्वोत्तम स्तोत्र में ही महाप्रभु की पूर्ण काम, पूर्णानन्द, एकान्तप्रिय, भक्तेच्छापूरक, ब्रजप्रिय, पतित-पावन, तल्लीला-प्रेमपूरित, यज्ञ भोक्ता, यज्ञकर्ता, कर्ममार्ग प्रवर्तक, सत्यप्रतिज्ञ, त्रिगुणातीत, नयविशारद, सहज सुन्दर, सहज स्मित, त्रिलोकी भूषण, भूमि भाग्य, अति मोहन आदि कई दिव्य नामों से वन्दना की गई है। सम्पूर्ण सर्वोत्तम स्तोत्र उनके दिव्य स्वरूप का ही परिचायक है।

महाप्रभु के स्वरूप की ही भाँति उनका बाह्य व्यक्तित्व भी अत्यन्त विलक्षण रहा है। वाचस्पति तो वे थे ही उन्होंने अन्य मत वालों से शास्त्रार्थ कर दिग्विजय भी प्राप्त की थी। समस्त पंडितों एवं आचार्यों ने उन्हें प्रसन्नतापूर्वक जगद्गुरु एवं अखण्ड भूमण्डलाचार्य की उपाधि से विभूषित किया था। वे एक क्रान्तदृष्टा, मनीषी एवं धर्म के मूर्तिमान स्वरूप थे। वे स्त्री, शूद्र पतित एवं दलित वर्ग के सच्चे अर्थों में उद्धारक एवं पारस व्यक्तित्व के धनी थे। उनके दीर्घ नेत्र कमल के समान सुन्दर एवं उनका बाह्य रूप भी असाधारण सौन्दर्य से युक्त था। उनका जीवन अत्यन्त सादा था एवं वे एक विरक्त गृहस्थ थे। महाप्रभु ने अपने विलक्षण व्यक्तित्व एवं दिव्य स्वरूप के प्रभाव से असंख्य जीवों में दैवी प्रकाश फैलाया एवं जो उनके सान्निध्य में रहे अथवा सम्पर्क में आये, उन्हें असीम आनन्दानुभूति करा उन्हें भगवत्प्रेम की

ओर उन्मुख कर दिया। इसीलिए कृतज्ञ भक्त जन ने उन्हें महाप्रभु कहकर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की।

सद्‌गुरु स्वरूप—महाप्रभु वल्लभ यथार्थ में सद्‌गुरु हैं। भगवान के स्वरूप को तो अनेक प्रकार के शास्त्रीय उपायों से भी जाना जाता है किन्तु भगवान की गति (लीला) का रहस्य सद्‌गुरु के अतिरिक्त कोई नहीं जानता। भगवान के अतिरिक्त कुछ जानने योग्य भी नहीं है किन्तु भगवान की लीला का रहस्य जान लेने पर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। परमात्मा की लीला को एवं उसके रहस्य को समझा देने वाला ही सद्‌गुरु है।

"श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो - लीला-भेद बतायो।"

महाप्रभु से लीला रहस्य जान लेने पर ही सूरदास अन्तःचक्षु सम्पन्न होकर प्रभु की दिव्य लीला में स्वयं अवगाहन करते हुए उसका वर्णन कर पाये थे। परमात्मा ही स्वयं की लीला का रहस्य जानते हैं अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि महाप्रभु के स्वरूप में स्वयं श्रीकृष्ण ही आविर्भूत हुए थे।

आचार्य स्वरूप—आचार्य के रूप में महाप्रभु वल्लभ ने भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण एवं अनुग्रह का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उनका आचार्य स्वरूप, आचार, विचार एवं प्रचार का त्रिवेणी संगम है। आचार्य के रूप में महाप्रभु ने अन्य भक्ति मार्गों से विलक्षण पुष्टि-मार्ग प्रकाशित किया एवं अपने अनुयायियों के समस्त लौकिक एवं वैदिक संस्कारों का शोधन कर उन्हें प्रभु के प्रति सर्वात्मना समर्पण के लिए प्रेरित किया। प्रभु की आज्ञा से जीवों के दोषों का परिहार करने के लिए ब्रह्म-सम्बन्ध की दीक्षा एवं विशिष्ट सेवा-पद्धति प्रचलित की। एक समर्थ आचार्य के रूप में उन्होंने व्यास देव कृत ब्रह्म-सूत्रों की शुद्धाद्वैत परक व्याख्या की, श्रीमद् भागवत् के गूढ़ार्थ का निरूपण श्री सुबोधिनी के रूप में किया। षोडश ग्रन्थों की रचना कर पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्त समझाते हुए उन्होंने विशुद्ध भक्ति-मार्ग का पथ प्रशस्त किया। आनन्दकन्द प्रभु श्रीनाथ जी को सेव्य के रूप में प्रस्तुत कर प्रेमलक्षणा, रागानुगा पुष्टि भक्ति का दृढ़ आलम्बन प्रदान किया। भगवत्प्रेम को सर्वोपरि स्थान देते हुए उन्होंने दीन, दलित, पतित, म्लेच्छ, स्त्री एवं शूद्रादिकों के लिए भी प्रभु भक्ति का द्वार खोल दिया। महाप्रभु ने "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" की अवधारणा के अनुरूप सर्वात्मवाद की स्थापना की।

अपने शास्त्रार्थ प्रकरण में महाप्रभु ने कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग एवं भक्तिमार्ग आदि परम्परित मार्गों पर कलियुग के कुप्रभाव से उत्पन्न दोषों का यथार्थ चित्रण करते हुए स्पष्ट किया है कि कलियुग में कर्मनिष्ठा से सिद्धि नहीं मिलती, चित्त में प्रफुल्लता नहीं आती। ज्ञान निष्ठा से होने वाली सर्वज्ञता भी कलियुग में प्राप्त नहीं होती एवं भक्ति निष्ठा के फलस्वरूप इस कलियुग में भगवान कृष्ण की प्रसन्नता भी प्राप्त नहीं होती। अतः शरण मार्ग, कृपा मार्ग, अनुग्रह मार्ग का भगवन्निष्ठा से अवलम्बन लेना ही श्रेयस्कर है। महाप्रभु ने ज्ञान प्राप्ति के लिए की गई सेवा को भक्ति नहीं माना है। उनके अनुसार समर्पित हदय से प्रेमपूर्वक की गई सेवा ही भक्ति है। वस्तुतः महाप्रभु का अनुग्रह मार्ग विलक्षण है। इसमें प्रभु के प्रमेय बल से ही जीवों को परमानन्द का अनुभव होता है एवं उनकी लीला रस की अनुभूति से लेकर महारास तक की गति महाप्रभु की कृपा से बन जाती है।

महाप्रभु ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से शुद्धाद्वैत दर्शन को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया इसी कारण आपको शुद्धाद्वैतमार्तण्ड की उपाधि से भी विभूषित किया जाता है। गो. विट्टलनाथ ने महाप्रभु के दिव्य स्वरूप एवं विलक्षण व्यक्तित्व से अभिभूत होकर ही निम्नांकित उद्‌गार प्रकट किये हैं–

"श्री वल्लभ नामधेय सदृशो भावि न भूताऽत्यापि"।

"अर्थात् महाप्रभु वल्लभ के समान अब तक न कोई इस भूतल पर हुआ है और न भविष्य में होगा।"

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि स्वगति विवुक्ष भगवान श्रीकृष्ण ने ही अपने मुखारविन्द, विरहानल, विप्रयोगस्वरूप, वैश्वानर, वाक्पति लीला-साक्षी तृतीयात्मक स्वरूप को आचार्य वल्लभ के रूप में इस भूतल पर प्रकट किया। जीवन पर्यन्त उन्होंने दैवी जीवों में आविष्ट आसुरी भावों का उन्मूलन करते हुए समर्पण एवं अनुग्रह के सिद्धान्त द्वारा भक्ति भावना का सर्वोत्तम परिष्कार किया। मनुष्य रूप में रहते हुए वे आसुरी जीवों के लिए अज्ञेय एवं दैवी जीवों के लिए परमाश्रय बने रहे।

वस्तुतः उनके महिमामय स्वरूप का निर्धारण 'वस्तुतः कृष्ण एव' अर्थात् वे यथार्थतः श्रीकृष्ण ही है ऐसा कहकर ही किया जा सकता है। उनके दिव्य स्वरूप का प्रकाश सदैव पुष्टि-पथ को आलोकित करता रहेगा।

महाप्रभु के श्री चरणों में कोटिशः वन्दन सहित।

रास-लीला की भावना एवं शरदोत्सव

भगवान श्रीकृष्ण की अनन्त लीलाएँ हैं। वे कलानिधि हैं, भक्तजन के लिए भावानुरूप लीलाओं में वे सदैव संलग्न रहते हैं। उनकी लीलाएँ शाश्वत एवं नित्य हैं तथापि वे नित्य नूतन हैं, उनमें पुनरावृत्ति नहीं होती। लीलाओं की आवृत्ति उसी अवस्था में होती है जब कलाओं का अभाव हो। प्रभु में कलाओं की कमी नहीं है अतः उनकी लीलाएँ भी अनन्त हैं एवं अनादि काल से नित्य नूतन रूप में प्रकट होती रही हैं। समस्त दैवी जीव जो भगवद् भक्ति से पूरित है, सदैव प्रभु की दिव्य लीलाओं का अनुभव करते रहे हैं।

समस्त लीलाएँ पुष्टि लीला के अन्तर्गत ही मानी जाती हैं क्योंकि भगवान की लीला का मुख्य ध्येय भक्त जन के स्नेह भाव की पुष्टि करना ही होता है। लीला का अनुभव करते हुए भगवद् स्नेही जन सदैव अपना चित्त भगवान में लगाये रखते हैं। भक्ति का चरमोत्कर्ष होने पर ही नित्य लीला में प्रवेश मिलता है। भगवान द्वारा किसी भी जीव को लीला के लिए वरण करना उनकी आत्मीयता का द्योतक है। प्रभु को सभी भक्तजन अपना आत्मीय मानते हैं किन्तु प्रभु जिसे अपना आत्मीय मानते हैं उसे अपना लीला-परिकर अथवा सहचर बना लेते हैं यह भी प्रभु की विशेष कृपा का ही फल है।

भगवान श्रीकृष्ण की महारास-लीला उनकी समस्त लीलाओं में मुख्य, अद्वितीय एवं अनिर्वचनीय है। इसमें उन्हीं का प्रवेश हो पाता है जिन पर भगवान श्रीकृष्ण में ही अन्तर्लीन रहने वाली उनकी आह्लादिनी शक्ति रासेश्वरी, स्वामिनी जी श्री राधिकाजी की पूर्ण कृपा हो। स्वामिनी जी महाभाव-रूपा हैं, उनमें से प्रतिक्षण अनन्त भाव स्फुरित होते हैं जो भक्त जन को प्रेम पूरित करते हुए परिपक्व होकर रस के रूप में आविर्भूत होते हैं। वस्तुतः महारास लीला विशुद्ध प्रेम का प्रकाश है जिसमें प्रविष्ट हो जीव प्रभु के लीलामृत का पान करता हुआ अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। प्रभु से सायुज्य प्राप्त कर दिव्य एवं चिन्मय हो जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण के अवतार काल में भी नित्य महारास-लीला के

अनुरूप ही रास लीला का प्राकट्य वृन्दावन-लीला में हुआ है। स्वामिनी श्री राधिका की सन्निधि में असंख्य गोपियों के यूथ इस आनन्दमयी महालीला में सम्मिलित होकर कृतार्थ हुए हैं। यमुना जी के पुलिन पर शरद-पूर्णिमा के दिन अर्द्ध रात्रि में मुरली मनोहर का वेणुनाद सुनकर भला वे गोपियाँ कैसे रूक सकती थीं, जिनके लिए कृष्ण ही सर्वस्व थे, जीवन-धन थे। इन्हीं के लिए तो उन्होंने जन्म-जन्मान्तर से असंख्य साधनाएँ की थी। गोपियों के रूप में वस्तुतः वे सभी भक्त आत्माएँ ही थीं जो चित्त से भगवन्मय होते हुए भी आज स्वरूप से भगवन्मय होने जा रही थीं। स्वयं पुष्टिमयी होते हुए भी आज वे रासलीला में विशेष पुष्टि प्राप्त कर सदैव के लिए नित्य रास लीला में पुनः प्रविष्ट होने जा रही थीं।

एक ओर रास लीला के रूप में विशुद्ध प्रेम की परिणति होने जा रही थी, दूसरी ओर प्राकृत मदन (कामदेव) अपने पूरे दल-बल सहित अप्राकृत मदन (श्रीकृष्ण) के समक्ष स्वयं को निरीह एवं निस्सहाय अनुभव कर रहा था। स्नेह एवं भाव की तीव्रता के कारण जब रास-लीला में किसी को देहाध्यास तक नहीं रहा तो प्राकृत मदन (कामदेव) का प्रभाव किसी पर हो ही कैसे सकता था ? भगवान श्रीकृष्ण तो ब्रजांगनाओं के साथ उसी तरह रमण कर रहे थे जैसे स्वयं की आत्मा में ही रमण कर रहे हों अथवा बालक दर्पण में स्थित अपने ही प्रतिबिम्ब से क्रीड़ा-विनोद कर रहा हो।

"रेमे रमेशो ब्रज सुन्दरी भिर्यथार्भकः स्व प्रतिबिम्ब विभ्रमः"

(श्रीमद् भागवत दशम स्कंध पूर्वार्ध 32/17)

रास-लीला में भगवान श्रीकृष्ण सर्वमय एवं गोपिकाएँ कृष्णमय हो उस मधुर लीला रस का आस्वादन करने में लीन हो गई थीं।

'रासे लीलामृतं रसम्'

वहाँ आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, भाव, विभाव एवं संचारी भाव सभी रसमय हो गये थे।

भगवान श्रीकृष्ण की रास-लीला परमानन्द का विस्तार करने वाली एवं प्रेमी भक्त जन को श्रीकृष्ण स्वरूपानन्द में तन्मय करने वाली है। आज भी प्रेम-प्रवण चित्त शरद-पूर्णिमा के आते ही भगवान श्रीकृष्ण की दिव्य रास-लीला का स्मरण कर प्रेम-विभोर हो उठते हैं। भक्त जन अपने भावानुरूप शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर रस का आस्वादन

अपनी भावमय देह से करते ही रहते हैं किन्तु न्यूनाधिक मात्रा में जो जगत्-प्रपंच की प्रतीति बनी रहती है उस प्रतीति का रास-लीला में प्रवेश करने पर पूर्णतया अवसान हो जाता है। महारास-लीला में तो भगवान श्रीकृष्ण के लीलामृत रस का अनुभव मात्र ही शेष रह जाता है। इहलौकिक प्रतीति के सर्वथा विस्मृत हो जाने से भक्ति-द्रवित विशुद्ध चित्त भगवद् रस में ही निमग्न हो जाता है।

योग मार्ग एवं ज्ञान प्राप्ति से प्राप्त होने वाली समाधि दशा में भी देश, काल की प्रतीति अवश्य नष्ट होती है एवं दृष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित होकर आत्मानन्द अथवा ब्रह्मानन्द का अनुभव अवश्य करता है तथापि प्रभु के इस चिन्मय रस का, परमानन्द का आस्वादन इस अवस्था में नहीं होता। इसीलिए अनेक ब्रह्मानन्द-प्राप्त ज्ञानी, ध्यानी, ऋषि, मुनि एवं योगी जन भी रास-लीला के इस परमानन्द को प्राप्त करने के लिए लालायित बने रहते हैं। वस्तुतः इस परमानन्द की प्राप्ति साधन-साध्य न होकर कृपा-साध्य ही है। जिन भक्त जन का अन्तःकरण प्रभु प्रेम, भगवद् सेवा, समर्पण एवं विशुद्ध भक्ति द्वारा पूर्ण निर्मल होकर प्रभुमय हो चुका है, वे ही प्रभु के कृपा पात्र बनकर रास-लीला के इस परमानन्द का अथवा चिन्मय रस के आस्वादन का सुयोग प्राप्त कर पाते हैं। रास रस की भावभूमि लोक भूमि न होकर ऐसी सत्वमयी, मधुमयी भूमि है जहाँ देहाध्यास विसर्जित हो जाता है, सम्पूर्ण अन्तःकरण चेतना से आलोकित हो उठता है एवं सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भी विषयानुभव का त्याग कर लीला रस का आस्वादन करने लग जाती हैं।

लीला-सहचर बनकर लीला रस का पान करना एवं निकुंज रस का आस्वादन करना वैष्णव भक्ति का चरम सोपान है, इसी की अन्तिम परिणति रास-लीला प्रवेश में होती है। यही सतत सायुज्य है, यहाँ पहुंच कर जीव की पुनरावृत्ति नहीं होती। यहाँ एक ही अखण्ड रस है जो चिन्मय है, पूर्ण है, यही विशुद्ध प्रेम मय अद्वैत है जो शुद्धाद्वैत का परम लक्ष्य है।

अपनी-अपनी भावभूमि के अनुसार सभी दैवी जीव इस रास-लीला के रस का भावदेह से अनुभव करते हैं। शरदोत्सव इसी रास-लीला का स्मृति-पर्व है, जो भक्त जन में लीला रस का उद्रेक कराने वाला है, यह भगवद् भाव की अभिवृद्धि करने वाला ही नहीं अपितु विशुद्ध प्रेम का

विजय-पर्व है। रास लीला प्राकृत मदन (कामदेव) पर अप्राकृत मदन (प्रेममय श्रीकृष्ण) की विजय-लीला है। भगवत्प्रेम की पराकाष्ठा काम का स्वतः शमन कर देती है। जो श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम, सच्चिदानन्द पर-ब्रह्म न मानकर उन्हें मात्र लौकिक पुरुष अथवा महापुरुष ही मानते हैं, वे रास-लीला में भी सांसारिक भोग-विलास से पूर्ण अश्लील क्रियाओं की भावना कर लेते हैं अतः उनके मलीन एवं विलासी असुर-भावापन्न चित्त में श्रीकृष्ण के प्रेम रस का स्फुरण नहीं हो पाता।

महाप्रभु श्रीवल्लभ के अनुसार "**विषयाक्रान्त देहानां नावेशः सर्वथा हरेः**" अर्थात् विषयलोलुप शरीर में प्रभु के प्रेम एवं भाव का कभी स्फुरण नहीं होता। भगवान श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम, महाप्रभुजी एवं भगवदीय सद्गुरु की पूर्ण कृपा तथा रसिक भक्त जन के सत्संग से ही रास-लीला के मर्म को समझने की पात्रता आती है।

शरद-पूर्णिमा के अवसर पर परम्परा से आज भी नाथद्वारा में प्रतिवर्ष शरदोत्सव मनाया जाता है जिसमें निकुंज-नायक आनन्द-कन्द प्रभु श्रीनाथ जी शरद ज्योत्स्ना में वन-विहार एवं रास-लीला की अनुपम छवि लिए दर्शन प्रदान कर भक्त जन के हृदय में रास-लीला के दिव्य रस का संचार कर देते हैं।

पुष्टि-लीला की विलक्षणता एवं दैवी-आसुरी भाव विवेचन

पुष्टिमार्ग भगवत्कृपा का मार्ग है। कृपा मार्ग की अपनी विशिष्टता एवं विलक्षणता है। इसका आधार प्रेम-लक्षणा भक्ति है। इस भक्ति का स्फुरण उसी दैवी जीव में होता है, जिसे प्रभु स्वयं वरण करते हैं। भगवान की कृपा सर्वथा अहेतुक होती है, इसके पीछे कार्य-कारण के किसी नियम की बाध्यता नहीं है। साधनों से प्राप्त होने वाले फल के पीछे भी भगवत्कृपा ही मूल कारण होती है तथापि अज्ञान के आवरण के कारण इस कृपा का विशुद्ध अनुभव नहीं हो पाता। जब प्रभु-कृपा से किसी दैवी जीव की चित्त वृत्ति समस्त साधनों से हटकर केवल प्रभु के विशुद्ध प्रेम में लीन हो जाती है तभी निस्साधन अवस्था में प्रभु की इस विलक्षण कृपा

का अनुभव होता है जिसे पुष्टि कहते हैं।

पुष्टि का अभिप्राय पोषण है, भगवत् अनुग्रह है। महाप्रभु श्रीमद्वल्लभ के अनुसार सुबोधिनी में पोषण का अर्थ स्थित पदार्थ की अभिवृद्धि है। पुष्टि शब्द के अनेक अर्थ हैं–अनुग्रह, कृपा, अभिवृद्धि, स्थिति, प्रवेश, रक्षा एवं आश्रय आदि समानार्थी शब्दों से पुष्टि का व्यापक महत्त्व परिलक्षित होता है। भगवान श्रीकृष्ण ही अनुग्रह एवं पुष्टि के मूर्त स्वरूप हैं–

''अदीन लीला हसिते क्षणोल्लसद, भ्रूभंग संसूचितभूर्यनुग्रहम्''।

भगवान का पदार्थों में प्रवेश करना, उन्हें पुष्ट करना, उनका अतिक्रमण करना, सर्वरूप बनना एवं सभी रूपों को पुनः अपने में लीन करना भी पुष्टि लीला है। भगवान का पशु, पक्षी, मनुष्य, ऋषि आदि विविध रूपों में अवतार लेकर भक्तों का अनुरंजन एवं रक्षण करना भी अलौकिक पुष्टि लीला है। पुष्टि का सामर्थ्य अलौकिक है, भगवान आसुरी स्वभाव काल आदि का बोध करते हुए दैवी जीवों की रक्षा कर एवं आसुरी जीवों को भी मुक्ति देकर अकारण अनुग्रह का परिचय देते हैं। द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव एवं जीव सभी भगवान के आधार पर ही अवस्थित एवं गतिशील हैं। सृष्टि के प्रारम्भ से प्रलय तक प्रभु की पुष्टि लीला का ही अखण्ड साम्राज्य है। भगवान की अवान्तर लीलाओं के पीछे भी पुष्टि का ही गूढ़ प्रयोजन निहित रहता है। भक्त के रूप में भी भगवान का प्रच्छन्न स्वरूप ही स्नेह लीला की पुष्टि के लिए सदैव तत्पर रहता है।

''सर्वा लीला : पुष्टि मध्ये प्रविशन्तीति में मतिः।
अतः सृष्टिस्तु निखिला, कृष्णार्थेति विनिश्चयः ॥''

वस्तुतः सभी लीलाएँ पुष्टि लीला के अन्तर्गत हैं एवं यह सम्पूर्ण जगत् भगवान की लीला के सहयोग के लिए है। यह समस्त लीला व्यापार उन्हीं लीला बिहारी, सच्चिदानन्दघन, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण का ही है।

"रूप नाम विभेदेन यतः क्रीडति यो जगत्"

वे ही सर्व रूप हैं भिन्न-भिन्न रूप नाम से वे ही सम्पूर्ण जगत् में क्रीड़ा कर रहे हैं। अक्षर ब्रह्म उन्हीं का धाम है, चरण है, उन्हीं का रूप अन्तर्यामी बनकर प्राणी मात्र के हृदय में स्थित है। अक्षर एवं क्षर अथवा परा एवं अपरा दोनों उन्हीं की प्रकृतियाँ हैं। उन्हीं के सदंश से जगत् एवं चिदंश से जीव मात्र का निस्सरण हुआ है। उन्हीं सर्वेश्वर की इच्छा से

जीव मात्र में आनन्दांश तिरोहित हुआ है। आनन्दांश तिरोहित होने से उसे अपने निज स्वरूप की विस्मृति हो गई है। वह दीन, हीन, पराधीन, सन्तप्त एवं जन्म-मरण-धर्मा होकर आवागमन के चक्र में भटक रहा है। अपने लुप्त हुए आनन्दांश एवं निज स्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रभु के अकारण अनुग्रह की आवश्यकता है।

भगवान की कृपा प्राप्त करने से ही जीव कृतार्थ होता है। यद्यपि भगवान सभी जीवों पर कृपा करते हैं किन्तु भक्त जीव उनके प्रिय भाजन एवं आत्मीय बनकर उनकी विशेष कृपा के पात्र बन जाते हैं।

पुष्टिमार्ग का प्राकट्य स्वयं भगवान से हुआ है। दैवी जीवों के भगवद् भाव का पोषण करते हुए शरणागति, समर्पण एवं सेवा द्वारा प्रभु का सायुज्य प्राप्त कराना ही इसका लक्ष्य है। भगवान से द्वेष करने वाले आसुरी स्वभाव के जीवों के लिए यह मार्ग नहीं है। प्रसंगानुसार दैवी एवं आसुरी भावापन्न जीवों का प्रकृति वैषम्य भी ध्यान में रहना आवश्यक है। इस ज्ञान के अभाव में ही आसुरी जीवों से भगवद् भक्ति की अपेक्षा की जाती है। आसुरी जीवों को दैवी जीव बनाने के सम्पूर्ण प्रयास निरर्थक ही होते हैं।

ब्रह्मवाद के अनुसार सृष्टि काल में जब शक्ति को अलग किया जाता है, उस समय मुख्यतया दो भाव होते हैं–(1) स्व का भाव (2) शक्ति का भाव। स्व द्वारा परिगृहीत भाव दैवी भाव है एवं शक्ति द्वारा परिगृहीत भाव आसुरी भाव है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही कुछ जीव दैवी भावापन्न एवं कुछ जीव आसुरी भावापन्न होते हैं। आसुरी भाव में शक्ति की प्रबलता और दैवी भाव में भक्तिमय दैन्य निहित रहता है। भगवान जिन जीवों को परिगृहीत करते हैं अर्थात् जिनसे परिग्रह (विवाह) करते हैं, वे दैवी जीव होते हैं। माया शक्ति जिन्हें परिगृहीत करती है अर्थात् जिनसे परिग्रह (विवाह) करती है वे आसुरी जीव होते हैं। इन दोनों प्रकार के जीवों का स्वभाव एक दूसरे के विपरीत ही होता है। भगवान दैवी जीवों को एवं दैवी जीव भगवान को नहीं छोड़ पाते हैं। इसी प्रकार माया और असुर जीव भी परस्पर एक दूसरे का त्याग नहीं कर पाते। भगवान का संरक्षण पाकर ही दैवी जीव आसुरी जीवों से सुरक्षित रह पाते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण विरुद्ध-धर्माश्रय होने के साथ ही लीला-बिहारी हैं अतः उनकी लीला के लिए तो दैवी एवं आसुरी दोनों प्रकार के जीवों की

उपयोगिता है। श्रीकृष्ण की इच्छा ही दोनों भावों का मूल कारण है। आसुरी जीव न तो भक्ति कर सकता है और न भगवान को प्राप्त कर पाता है क्योंकि वह मायाजनित प्रबल मोह के अधीन होने से ज्ञान एवं भक्ति रूप दोनों भगवत् शक्तियों का सदुपयोग नहीं कर पाता। इसीलिए वह भगवान श्रीकृष्ण के सायुज्य से सदैव वंचित रहता है।

यद्यपि प्रकृति अथवा माया शक्ति भी ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण आनन्दात्मक ही है और आसुरी जीव प्रलय काल में इसी में प्रविष्ट होकर प्रकृति के साथ भगवान में लीन अवश्य होते हैं तथापि उन्हें आनन्द प्राप्त नहीं होता। भगवान उनके निकट अपना आनन्दमय स्वरूप प्रकट नहीं करते। आसुरी जीवों को भगवान के उदर में प्रलय अवस्था में विश्राम अवश्य मिलता है किन्तु दैवी जीवों की तरह उन्हें न तो स्वरूपानन्द का अनुभव होता है और न उन्हें भगवत्-सायुज्य की प्राप्ति होती है।

जैसे पुरुष का अंशभूत वीर्य स्त्री के गर्भ में प्रविष्ट और स्त्री द्वारा गृहीत हो जाने पर पुनः पुरुष में प्रविष्ट नहीं होता, वैसे ही आसुरी जीव भगवान में प्रवेश नहीं कर सकते। भगवान के स्वरूप का आनन्दानुभव भक्ति से ही प्राप्त होता है। भक्त भगवान के हृदय में लक्ष्मी के समान स्थिति लाभ करते हैं किन्तु आसुरी जीव प्रलय अवस्था में निद्रा प्राप्त कर भगवान के उदर में पड़े रहते हैं। पुनः सृष्टि रचना होने पर ये जीव अनेक निन्दनीय कर्म करते हुए निम्न योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। जब तक भगवान आत्मरमण की इच्छा नहीं करते इनकी अविद्या निवृत्त नहीं होती और ये शुद्धावस्था को प्राप्त नहीं होते। श्रीमद्वल्लभ के अनुसार आसुरी जीव सदैव प्रवाही एवं संसारी ही बने रहते हैं। इनमें सत्य भी नहीं होता और न इनमें आचार, विचार की पवित्रता होती है। इनमें दम्भ, दर्प, अभिमान, निर्दयता एवं प्रति-हिंसा की प्रबलता रहती है।

पुष्टिमार्ग के अनुसार आसुरी जीव भी दो प्रकार के होते हैं—(1) दुर्ज्ञ एवं (2) अज्ञ। आसुरी जीव भगवत् द्वेषी एवं क्रूर होते हैं। सुबोधिनी जी के अनुसार सबसे बड़ा दोष उस प्रभु से द्वेष करना है जो प्राणी मात्र में एवं स्वयं अपने अन्तःकरण में ही अन्तर्यामी बनकर स्थित है। जिसके राज्य में रहते हैं, उसी से द्वेष रखना सबसे बड़ा दोष है। इसी दोष से असुर भाव उत्पन्न होता है। महाप्रभु जी ने पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा भेद में बताया है कि पुष्टि जीवों का कभी भी प्रवाही (आसुरी) जीवों से तालमेल

नहीं बैठता है। इनमें जो अज्ञ जीव हैं, वे भगवान के अवतारों एवं भगवदीयों के प्रति उत्कट द्वेष भाव रखते हैं और भगवान अवतार दशा में इनका संहार कर इन्हें मुक्ति देते हैं किन्तु प्रभु के आत्मरमण की इच्छा न होने तक दुर्ज्ञ आसुरी जीवों का उद्धार नहीं होता।

महाप्रभु ने दैवी जीव भी दो प्रकार के बताये हैं–(1) पुष्टि जीव एवं (2) मर्यादा जीव। ज्ञान कर्म एवं भक्ति के आधार पर मर्यादा जीव भी अनेक प्रकार के होते हैं। पुष्टि जीव भी शुद्ध एवं मिश्र भेद से दो प्रकार के होते हैं। मिश्र पुष्टि जीव भी पुष्टि पुष्ट, मर्यादा पुष्ट एवं प्रवाही पुष्ट भेद से तीन प्रकार के होते हैं।

शुद्ध, बद्ध एवं मुक्त ये जीव की तीन अवस्थाएँ हैं। आनन्दांश के तिरोधान होने एवं अविद्या से सम्बन्ध होने के पहले की जीव की अवस्था शुद्ध है। अविद्या से ग्रस्त हो जाने पर जीव की अवस्था बद्ध हो जाती है। विद्या के द्वारा अविद्या का नाश होने पर जीव की अवस्था मुक्त हो जाती है। मुक्त जीव भी जीवनमुक्त एवं परम मुक्त भेद से दो प्रकार के होते हैं। अविद्या से मुक्त होने पर एवं ज्ञान प्राप्त हो जाने पर जीव जीवन्मुक्त अवस्था में रहता है जैसे सनकादि मुनिगण जीवन्मुक्त हो ब्रह्मभाव प्राप्त कर व्यापी-बैकुण्ठ अथवा अन्यान्य उर्ध्व लोकों में विचरण करते हैं। ब्रह्मभाव प्राप्त होने के अनन्तर भक्ति का उदय होने पर जीव गुणातीत में प्रवेश करता है। भक्ति न होने तक जीवन्मुक्त अवस्था में ही रहना पड़ता है। किन्तु प्रभु की विशेष कृपा से भक्ति का उदय होने पर नित्य लीला में प्रवेश मिल जाता है। यही परम मुक्ति है, कृष्ण-सायुज्य है।

दैवी जीवों में भगवान के प्रति प्रेम का भाव बीज रूप में विद्यमान रहता है। प्रभु के माहात्म्य-ज्ञान के साथ ही यह भक्ति बनकर प्रभु की ओर प्रवाहित होने लगता है। यही भाव सेवा, समर्पण एवं अनन्यता को प्राप्त कर प्रभु को अपनी ओर आकर्षित करता है। यही प्रेम-लक्षणा भक्ति है जो पुष्टिमार्ग का परम आधार है। समर्पण की अवधि से लेकर लीला प्रवेश होने तक का पुष्टि-पथ एक प्रकार से सेवा-मार्ग है। यह सेवा-पथ अत्यन्त चित्ताकर्षक एवं आनन्ददायक है। प्रभु के स्वरूप में चित्त के तल्लीन होने का नाम ही सेवा है। सिद्धान्त मुक्तावली में महाप्रभु ने **'चेतस्तत प्रवणं सेवा'** के रूप में सेवा को परिभाषित करते हुए मानसी सेवा को तनुजा एवं वित्तजा से उत्कृष्ट बताया है। सेवा का प्रयोजन प्रभु

को सुख पहुँचाना है। प्रभु से स्वयं सुख प्राप्त करना अथवा लौकिक स्वार्थ की पूर्ति करना सेवा का लक्ष्य नहीं है। भगवत्सेवा से ही सेवा के लिए उपयुक्त देह, अलौकिक सामर्थ्य एवं श्रीकृष्ण का सायुज्य प्राप्त होता है। सेवा द्वारा पुष्ट होकर भगवद् प्रेम क्रमशः आसक्ति एवं व्यसन के रूप में परिणति हो जाता है। "भक्ति वर्द्धिनी" के अनुसार प्रभु प्रेम के व्यसन रूप बन जाने पर जीव कृतार्थ हो जाता है–"यदा स्यात् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि।" (भक्ति वर्द्धिनी)। प्रेम के व्यसन बन जाने पर जगत्प्रपंच की विस्मृति होती है, इसे ही निरोध अवस्था कहते हैं। इसी निरोध लीला द्वारा भक्त का भगवान के साथ एकीकरण होता है। श्रीकृष्ण जिसे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं, उसे मुक्ति से बचाकर लीला परिकर अथवा लीला सहचर बना लेते हैं। यही प्रत्यापत्ति है, मुख्य शरण है। जहाँ से उत्पत्ति हो, वहीं निरोध एवं विलय हो, इसी का नाम गोलोक गमन है। इस प्रकार पुष्टिमार्ग के प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त तक भगवान श्रीकृष्ण का अकारण अनुग्रह दैवी जीव पर बना रहता है। इसी का नाम पुष्टि है। पुष्टि-भक्ति ही पुष्टि-रसायन है। दैवी भगवद् जीव का नित्य लीला में प्रवेश पुष्टि का चरमोत्कर्ष है। सामान्य पुष्टि से मात्र धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षादि पुरुषार्थ चतुष्ट्य की ही सिद्धि होती है किन्तु विशेष पुष्टि होने पर श्रीकृष्ण-सायुज्य एवं महारास-लीला में प्रवेश प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार दैवी भावापन्न जीवों की केवल तीन गतियाँ हैं–

1. आत्म ज्ञान द्वारा मुक्ति की प्राप्ति भी दैवी जीव को होती है।

2. मर्यादा भक्ति द्वारा विभिन्न उर्ध्व लोकों की प्राप्ति एवं इन लोकों में अपने अर्जित पुण्य के भोग का अवसर भी दैवी जीवों को प्राप्त होता है।

3. प्रेम लक्षणा भक्ति द्वारा भगवान श्रीकृष्ण के सायुज्य की प्राप्ति एवं नित्य लीला प्रवेश का अधिकार भी भगवत्कृपा से दैवी जीवों को सुलभ होता है।

आसुरी भावापन्न अज्ञ जीव भगवान से द्वेष एवं वैर करते हुए अवतार काल में भगवान के हाथों मृत्यु प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करते हैं एवं दुर्ज्ञ जीव इस संसार में प्रवाही बनकर सदैव आवागमन करते रहते हैं और प्रभु की आत्मरमण की इच्छा होने पर ही शुद्धावस्था को प्राप्त करते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण की पुष्टि लीला शाश्वत है। दैवी जीव अनादि काल से प्रभु के अनुग्रह को प्राप्त कर कृतार्थ होते रहे हैं। इस कलियुग में दैवी जीवों पर विशेष कृपा करने के लिए ही प्रभु का यह गोपनीय मार्ग महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भगवद् आज्ञा से पुष्टिमार्ग के रूप में प्रकट किया है। महाप्रभु जी की कृपा से ही पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त दैवी जीवों के लिए बोध गम्य हो सकते हैं एवं उन्हीं की कृपा से दैवी जीव पुष्टि लीला के रहस्य को समझते हुए कृष्ण-भावापन्न हो भगवत्-सायुज्य प्राप्त कर सकते हैं। आसुरी भावापन्न जीवों के लिए तो यह प्रेम मय मार्ग सदैव दुर्बोध ही बना रहेगा। महाप्रभु श्री हरिराय जी के अनुसार तो आसुरी जीव प्रायः बहिर्मुखी होते हैं। ये भाव-दुष्ट होते हैं अतः इनके कुसंग से दैवी जीवों को सदैव बचना चाहिए। इस कराल कलिकाल में महाप्रभु श्रीमद् वल्लभ ने पुष्टिमार्ग के रूप में जिस कृपा मार्ग का द्वार उन्मुक्त किया है वह समस्त दैवी जीवों के लिए वरेण्य है। भगवत्सेवा व्यवसाय एवं औपचारिकता मात्र न रहकर भगवत्प्रेम को अहर्निश पुष्ट करने का साधन बने क्योंकि **"प्रेमणोन्यत् साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत्"** अर्थात् प्रेम से उत्कृष्ट अन्य कोई साधन इस संसार में नहीं है। प्रेम-लक्षणा भक्ति ही पुष्टि मार्ग का मुख्य आधार है। इस प्रेम में प्रभु के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर देने की भावना है।

वेदान्त-दर्शन की विभिन्न धाराओं के आलोक में शुद्धाद्वैत-दर्शन एवं पुष्टि-मार्ग की विशेषता

तत्त्वज्ञान के लिए विचार एवं स्वरुप दर्शन के लिए भावना की आवश्यकता होती है। तत्त्वज्ञान के बिना बुद्धि का एवं स्वरुप दर्शन के बिना हृदय का समाधान नहीं होता। मानव कतिपय श्रद्धाओं, विचारों एवं कल्पनाओं का समुच्चय मात्र है। श्रद्धा, विचार एवं कल्पना के अनुसार ही उसकी दृष्टि होती है, कार्य प्रणाली निश्चित होती है तथा तदनुरूप ही उसे फल की उपलब्धि होती है। जीवन-दृष्टि का नाम ही दर्शन है। व्यावहारिक जीवन में अनुभूत होने वाले दुःखों का कारण जानकर उसका उपचार ढूँढ़ना एवं सुख प्राप्ति का प्रयत्न करना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति ने धर्म तथा दर्शन को जन्म दिया है।

समस्त दर्शनों का मूल उद्‌गम वेद है एवं वेदों का सार ही वेदान्त हैः—प्राकृतिक वैभव ही नहीं अपितु धर्म एवं दर्शन की दृष्टि से भी भारतीय भू-भाग अत्यन्त उर्वर एवं समृद्ध रहा है। वेद अक्षय विचारों का मानसरोवर एवं समस्त जीवन दृष्टियों का मूल उद्‌गम है एवं भारतीय धर्म तथा दर्शन की जीवनी-शक्ति है। यहाँ के मेधावी चिन्तकों ने केवल मानसिक कौतूहल की निवृत्ति के लिए नहीं अपितु आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति एवं निरतिशय सुख की प्राप्ति का उपाय खोजने के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन सत्यानुसन्धान में लगाकर तत्त्व चिंतन एवं धर्म के क्षेत्र में अनेक जीवन-दृष्टियों को विकसित किया है। प्रायः समस्त जीवन-दृष्टियाँ वेदों के ज्ञान से ही अनुप्राणित हैं। वेदों का ज्ञान मानवीय बुद्धि की सीमा से परे वह अतीन्द्रिय एवं प्रातिभ ज्ञान है, जिसका मन्त्र-दृष्टा ऋषियों ने साक्षात्कार किया था। वेदों के संहिता भाग में मन्त्र, ब्राह्मण भाग में यज्ञ एवं आरण्यक भाव में आध्यात्मिक रहस्यों की मीमांसा उपलब्ध होती है। आरण्यकों का अन्तिम भाग ही उपनिषद् है जिसे वेदों का सार तत्त्व होने के कारण वेदान्त कहा जाता है।

भारतीय विचार शास्त्र में प्रस्थान-त्रयी का सर्वाधिक महत्त्व हैः—उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्म-सूत्र को प्रस्थान ग्रन्थ माना जाता है। भारतीय विचार शास्त्र के लिए ये तीनों ग्रन्थ उपजीव्य ग्रन्थ रहे हैं। उपनिषदों में समस्त दर्शनों के बीज निहित हैं, गीता उपनिषद् का सार एवं व्यास द्वारा रचित ब्रह्म-सूत्र एक ऐसा विलक्षण ग्रन्थ है, जिसमें आपाततः विरोधी प्रतीत होने वाले सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए सभी का अभिप्राय एक मात्र ब्रह्म में निर्दिष्ट किया गया है। वेदान्त दर्शन पर आधारित समस्त विचार धाराओं का मूल इन्हीं तीन ग्रन्थों में है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि परवर्ती वैष्णव दर्शनों पर पाँचरात्र, भागवत तथा शाण्डिल्य एवं नारद के भक्ति-सूत्रों का भी पूर्ण प्रभाव रहा है। सभी आचार्यों ने ब्रह्म-सूत्र का विशद विवेचन करते हुए अपने-अपने विशिष्ट सिद्धान्तों की स्थापना की है। इन विचार धाराओं का गहराई से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि भारतीय दर्शनिक अपनी मौलिक प्रतिभा से विभिन्न दृष्टियों से तत्त्व एवं स्वरूप का विवेचन कर सकता है। साधन मार्ग की भिन्नता होते हुए भी सभी विचारकों का लक्ष्य मनुष्य को आत्यन्तिक दुःख से निवृत्त करा निरतिशय सुख की प्राप्ति

कराना ही है।

चिन्तन का विषय सामान्य होते हुए भी सिद्धान्त एवं साधन मार्ग भिन्न हैं:—समस्त चिन्तन धाराओं के चिन्तन का विषय ब्रह्म, जीव, आत्मा, परमात्मा, जगत, माया, बन्धन एवं मुक्ति है। विषय की एकरुपता होने पर भी सभी आचार्यों ने ब्रह्म-सूत्र पर भाष्य लिखकर अपने दृष्टिकोण एवं सिद्धान्त को स्पष्ट किया है। ब्रह्म सूत्र एवं उपनिषद् की श्रुतियों में अद्वैत से लेकर विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, भेदाभेद, अचिन्त्य भेदाभेद ही नहीं अपितु द्वैत सिद्धान्त तक का सद्भाव है। सभी आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने वाली श्रुतियों एवं सूत्रों को ही प्रधान रूप से स्वीकार करते हुए अपने सिद्धान्तों की प्रामाणिकता को पुष्ट किया है। जन साधारण की दृष्टि में शंकराचार्य का अद्वैत सिद्धान्त ही वेदान्त के रूप में रूढ़ सा हो गया है किन्तु अन्य आचार्यों की सैद्धान्तिक धाराएँ भी वेदान्त के ही अन्तर्गत है इसीलिए वैष्णव दर्शन के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी इन विचारधाराओं को रामानुज वेदान्त, वल्लभ वेदान्त के रूप में भी अधिगृहीत किया जाता है।

वेदान्त दर्शन की विभिन्न विचारधाराओं का परिचय निम्नांकित है—

1. अद्वैत सिद्धांत—(निर्विशेष अद्वैत अथवा केवल अद्वैत)—इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य आद्य शंकराचार्य हैं, जिन्हें शिव का अवतार माना जाता है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शारीरिक भाष्य की रचना की है। इनका सम्प्रदाय स्मार्त सम्प्रदाय कहलाता है।

2. विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य रामानुजाचार्य हैं। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर श्री-भाष्य की रचना की है। इनका सम्प्रदाय श्री-सम्प्रदाय कहलाता है। इनका मार्ग प्रपति मार्ग कहलाता है।

3. द्वैत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य मध्वाचार्य हैं। आनन्द तीर्थ, पूर्णबोध एवं पूर्णप्रज्ञ भी इन्हीं के अन्य नाम हैं। इन्हें वायु का अवतार माना जाता है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर पूर्णप्रज्ञ-भाष्य की रचना की है। इनका सम्प्रदाय ब्रह्म-सम्प्रदाय कहलाता है।

4. द्वैताद्वैत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य निम्बार्काचार्य है जिन्हें सुदर्शन चक्र का अवतार माना जाता है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर वेदान्त पारिजात-भाष्य की रचना की है। इनका सम्प्रदाय सनक, हंस एवं

निम्बार्क सम्प्रदाय कहलाता है।

5. शुद्धाद्वैत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य वल्लभाचार्य हैं जिन्हें महाप्रभु भी कहा जाता है। इन्हें पुरुषोत्तम वदनावतार, वैश्वानर का अवतार एवं वाक्पति कहा जाता है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर अणु-भाष्य की रचना की है। इनका सम्बन्ध प्राचीन रुद्र सम्प्रदाय से रहा है जिसमें विष्णु स्वामी जैसे भक्ति-रस-प्रवण आचार्य का उल्लेख मिलता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के आविर्भाव के बाद इसे वल्लभ अथवा पुष्टि सम्प्रदाय कहा जाता है।

6. भेदाभेद सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य भास्कराचार्य हैं। भेदाभेद सिद्धान्त नूतन न होकर प्राचीन है। यह द्वैताद्वैत सिद्धान्त का ही एक नाम है। निम्बार्क के पहले भास्कराचार्य इस मत के समर्थक रहे हैं किन्तु इस सिद्धान्त को प्रसिद्धि निम्बार्क से ही प्राप्त हुई है। भास्कराचार्य ने भी अपने सिद्धान्त के समर्थन में भाष्य लिखा है। यह निम्बार्क सम्प्रदाय के ही अन्तर्भूत है। इनके भाष्य का नाम भास्कर-भाष्य है।

7. अचिन्त्य-भेदाभेद-सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य बलदेव विद्याभूषण हैं। इन्होंने ब्रह्म-सूत्र पर गोविन्द-भाष्य की रचना की है। चैतन्य मत माध्व-मत से सम्बद्ध है। अनेक सिद्धान्तों में माध्व-मत से साम्य होते हुए भी चैतन्य मत की दार्शनिक दृष्टि मध्व के द्वैतवाद से नितान्त भिन्न है। इस मत को मानने वाले सम्प्रदाय का नाम गौड़ीय सम्प्रदाय है। यह मत अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त मानता है जिस पर पाँचरात्र का सर्वाधिक प्रभाव है।

8. वीर-शैव विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य श्रीपति हैं। इन्होंने ब्रह्म सूत्र पर श्रीकर भाष्य की रचना की है। इस पर शैव-दर्शन के वीर-शैव मत के सिद्धान्तों का प्रभाव है।

9. शैव-विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य श्रीकण्ठ हैं। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शैव भाष्य की रचना की है। यह सिद्धान्त रामानुज के अनुकूल ही है किन्तु इसमें शिव को ही ईश्वर रूप में माना गया है।

10. अविभागाद्वैत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य विज्ञान-भिक्षु हैं। इन्होंने ब्रह्म-सूत्र पर विज्ञानामृत भाष्य की रचना की है। इनके मत में जगत्

के समस्त पदार्थों से अविभक्त ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है।

यद्यपि ब्रह्म सूत्र पर विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग दस भाष्यों की रचना की है, किन्तु विचार की दृष्टि से अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत एवं अचिन्त्य भेदाभेद सिद्धान्त ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं इसीलिए प्रस्तुत आलेख में इन्हीं प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना एवं समालोचना प्रस्तुत की जा रही है। स्मार्त सम्प्रदाय वैदिक सम्प्रदाय माना जाता है तथा श्री, ब्रह्म, सनक एवं रुद्र सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय माने जाते हैं। इन चारों वैष्णव सम्प्रदायों के मूल प्रवर्तक विष्णु एवं विष्णुभक्त ही रहे हैं, अतः इन्हें वैष्णव सम्प्रदाय कहा जाता है। रामानुज के श्री सम्प्रदाय में नारायण एवं मध्वाचार्य के ब्रह्म-सम्प्रदाय में विष्णु एवं लक्ष्मी को शक्ति एवं परब्रह्म के रूप में ग्रहण किया गया है तथा निम्बार्क के सनक सम्प्रदाय, वल्लभ के पुष्टि सम्प्रदाय एवं चैतन्य महाप्रभु के गौड़ीय सम्प्रदाय में लक्ष्मी के स्थान पर राधा एवं विष्णु के स्थान पर श्रीकृष्ण को ही पर ब्रह्म के रुप में ग्रहण किया गया है। प्रमुख दार्शनिक धाराओं का संक्षिप्त विवेचन निम्नांकित है।

(1) शंकर वेदान्त (अद्वैत दर्शन) का सारांश–

आद्य शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त को निविशिषाद्वैत अथवा केवलाद्वैत भी कहा जाता है। अद्वैत दर्शन का प्रसिद्ध एवं मुख्य सिद्धान्त है ''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मेव नापरः'' अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म ही है।

ब्रह्म–इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म ही परमार्थ सत्ता है। यह निर्विशेष, समस्त उपाधियों से रहित गुणातीत, निर्गुण, निराकार, निष्क्रिय अद्वितीय एवं आनन्द स्वरूप है। वह सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित है। उसे किसी भी गुण अथवा विशेषण से परिमित नहीं किया जा सकता। वह सर्व व्यापक, सार्वभौमिक एवं त्रिकालाबाधित सत्य है। 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानानन्दं ब्रह्म' आदि श्रुतियां ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करती हैं। सच्चिदानन्द ब्रह्म का 'स्वरूप-लक्षण' है। अन्य लक्षण आगन्तुक हैं। निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है जिसे जानने पर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है।

ईश्वर–अद्वैत मत में मायाविच्छिन्न ब्रह्म को ही ईश्वर कहा जाता

है। ईश्वर ब्रह्म का सगुण रूप है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म एक ही है। व्यावहारिक दृष्टि से उपासना के लिए ईश्वर को मान लिया जाता है किन्तु पारमार्थिक सत्ता निर्गुण ब्रह्म ही है। निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति के लिए चित्त शुद्धि आवश्यक है। सगुण ब्रह्म की उपासना एवं भक्ति से चित्त की शुद्धि होती है। अतः भक्ति भी ब्रह्म ज्ञान का श्रेष्ठतम साधन माना गया है।

माया—अद्वैत मत से माया सत् एवं असत् न होकर दोनों से विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है। माया त्रिगुणात्मक एवं ज्ञान विरोधी भाव रूप पदार्थ है। ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर माया बाधित हो जाती है। यह अनादि, अचिन्त्य होने के साथ ही परमेश्वर की बीज शक्ति है। यह आवरण डाल कर वस्तु के सत् स्वरूप को छिपा लेती है एवं विक्षेप उत्पन्न कर सत् वस्तु के स्थान पर नई अयथार्थ वस्तु को दिखा देती है। माया ब्रह्म के यथार्थ रूप को आच्छन्न कर उसी में ईश्वर, जगत एवं जीव को दिखा देती है। माया ईश्वर के लिए इच्छा मात्र है किन्तु अज्ञानी मनुष्यों को भ्रमित करती है। माया के आगन्तुक गुणों का समावेश होने पर निर्विशेष ब्रह्म सगुण होकर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार का कारण बनता है।

जीव एवं आत्मा—अद्वैत मत में ब्रह्म विशुद्ध चैतन्य है, आत्मा उससे सर्वथा अभिन्न है। मायाविच्छिन्न चैतन्य ईश्वर एवं अविद्या ग्रस्त अन्तःकरणाविच्छिन्न चैतन्य ही जीव कहलाता है। इस दृष्टि से जीवत्व ब्रह्म की एक अवस्था मात्र है। अद्वैत मत के अनुसार ईश्वर एवं जीव दोनों माया रूपी कामधेनु के दो बछड़े हैं जो अपनी इच्छानुसार द्वैत का निर्वाह करते रहते हैं किन्तु तत्त्व अद्वैत ही होता है। शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष एवं कर्म फल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहा जाता है। आत्मा का ब्रह्म के साथ नित्य ऐक्य है, यह जन्म, मरण आदि से रहित अज एवं अविनाशी है। आत्मा की सत्ता अनुभव सिद्ध है, यही सकल व्यवहारों का आश्रय, विज्ञाता, ज्ञान-रूप एवं समस्त प्रमाणों का आधार है। नाम रूपात्मक विकारों के भीतर रहते हुए भी आत्म-चैतन्य ब्रह्म से अभिन्न एवं व्यावहारिक जगत् से असम्पृक्त बना रहता है। आत्मा ब्रह्म की तरह विभु एवं साक्षी रूप है, इसी से विषय एवं बुद्धि प्रकाशित होते हैं। देश एवं काल की उपाधि से ही जीव और ब्रह्म में द्वैत की प्रतीति होती है।

जगत्—अद्वैत मत में जगत् मिथ्या है। जगत् की सत्ता केवल व्यावहारिक है। नाम रूपात्मक जगत् व्यवहार के लिए आवश्यक है। जगत् मिथ्या का अर्थ असत्य न होकर अनिर्वचनीय है, क्योंकि जगत् न तो सत् है और न असत् है। परिणाम, प्रवृत्ति एवं परिवर्तन ही जगत् का स्वभाव है। ब्रह्मज्ञान की अवस्था में जगत् की प्रतीति बाधित हो जाती है। जगत् के पदार्थों के अस्ति, भाँति, प्रिय, नाम एवं रूप आदि पाँच धर्म हैं। इनमें से प्रथम तीन धर्म ब्रह्म के हैं जो नित्य हैं किन्तु नाम एवं रूप दोनों धर्म परिवर्तनशील है अतः नाम रूपात्मक जगत् को ही मिथ्या कहा गया है। कारण ब्रह्म सत्य है किन्तु कार्य जगत् मिथ्या है।

विवर्त—अद्वैत मत में विवर्तवाद का सिद्धान्त ही मान्य है। तात्त्विक परिवर्तन को विकार एवं अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहा जाता है। रस्सी में सर्प की तरह ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है, इसी से एकत्व में नानात्व की प्रतीति होती है। भ्रम को सत्य मानना ही अध्यास है। अध्यारोप द्वारा पुनः अध्यास से निवृत हो सत् वस्तु को प्राप्त किया जाता है।

साधन मार्ग एवं अधिकारी निर्णय—वेदान्त ग्रन्थों का पठन, श्रवण एवं मनन तथा निदिध्यासन, ब्रह्मनिष्ठ गुरू की श्रद्धाभक्ति से सेवा एवं प्रश्नोत्तर करना, 'तत्त्वमसि', 'ब्रह्माऽस्मि', 'सोऽहं' आदि वेदान्त वाक्यों का चिन्तन एवं चित्त को एकाग्र कर ध्यान से अपरोक्षानुभूति द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार करना ही वेदान्त का साधन मार्ग है। ब्रह्म भाव में स्थित होना ही अद्वैत वेदान्त का साध्य है। अद्वैत वेदान्त को आत्मसात् करने के लिए साधक में नित्यानित्य वस्तु विवेक, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा एवं मुमुक्षुत्व आदि गुणों का होना आवश्यक है।

मुक्ति—प्रतीकोपासना से मात्र सांसारिक फलों की प्राप्ति होती है। निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है। मुक्ति के बाद भी प्रारब्ध वश शरीर निर्धारित आयु तक बना रहता है, यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है। देह विसर्जन के पश्चात् विदेह मुक्ति प्राप्त हो जाती है। जीव ब्रह्म स्वरूप होने से स्वभाव से ही मुक्त है किन्तु यथार्थ स्वरूप के विस्मृत होने एवं अविद्या ग्रस्त हो जाने से वह जीवावस्था को प्राप्त हो जाता है। सद्गुरु के उपदेश श्रवण से उसका अज्ञान एवं भ्रम दूर हो जाता है, वह अपने स्वरूप को जान लेता है एवं सतत चिन्तन, ध्यान एवं अभ्यास द्वारा

ब्रह्म रूप में स्थित हो जाता है। मुक्ति की दशा में आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति होने के साथ ही निरतिशय आनन्द का ही अनुभव शेष रहता है।

(2) रामानुज वेदान्त (विशिष्टाद्वैत का सारांश)–

ब्रह्म अथवा ईश्वर–रामानुज के सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। उनके अनुसार ब्रह्म सगुण एवं सविशेष है, वह किसी भी अवस्था में विशिष्टता से हीन नहीं होता। प्रलय काल में भी जीव एवं जगत् सूक्ष्म रूप से ब्रह्म में ही रहते हैं अतः वह विशिष्ट ही बना रहता है। शंकर केवल ब्रह्म का अद्वैत मानते हैं किन्तु रामानुज विशिष्ट ब्रह्म के अद्वैत को ही स्वीकार करते हैं। रामानुज चित्-अचित् एवं ईश्वर नाम से तीन तत्त्व मानते हैं। चित् जीव है एवं अचित् जड़ प्रकृति है, यही ब्रह्म का शरीर है। अतः चित्-अचित् रूप शरीर विशिष्ट ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म ही ईश्वर है उसकी स्वतंत्र सत्ता है, जीव और जगत् स्वतंत्र होने पर भी ब्रह्म पर ही आश्रित हैं किंतु ईश्वर की तरह वे भी नित्य है। ब्रह्म कभी भी निर्गुण या निर्विशेष नहीं होता। निर्गुण ब्रह्म की कल्पना ही असम्भव है।

श्रुतियों में ब्रह्म के निर्गुण होने की बात केवल इस दृष्टि से कही गई है कि उसमें जीव की तरह राग-द्वेषादि गुण नहीं रहते हैं। ईश्वर अनन्तज्ञान, अनन्त गुण सम्पन्न एवं आनन्द रूप है। वह भोक्ता जीव एवं भोग्य प्रकृति में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहते हुए उनका नियमन करता है। चित् एवं अचित् में दोष आ जाने पर भी ब्रह्म उससे असंपृक्त रहता है। चित् एवं अचित् की क्रिया से ब्रह्म परिणामी नहीं बनता। ईश्वर जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय का कर्ता है। सृष्टि रचना का प्रयोजन केवल लीला है। शंकर के अनुसार ब्रह्म सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित है किन्तु रामानुज ब्रह्म में स्वगत भेद मानते हैं। जीव और जगत् संसार काल में स्थूल एवं प्रलय काल में सूक्ष्म रूप में रहते हैं अतः ये दोनों नित्य पदार्थ हैं। ब्रह्म सृष्टि काल में कार्यावस्थ एवं प्रलयकाल में कारणावस्था कहलाता है। ईश्वर मे अनेक कल्याणकारी गुणों की सत्ता होते हुए भी वह प्राकृत हेय गुणों से सर्वथा रहित है।

जीव (चित्)–रामानुज मत में चित् ही जीव है। जीव देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं प्राण से विलक्षण, अनन्त, आनन्द रूप, नित्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, निर्विकार, निरवयव एवं अणु है। वह ज्ञान के बिना भी स्वयमेव

प्रकाशित होने से चैतन्य है। यह अणु रूप से हृदय में निवास करता है। यह ईश्वर द्वारा नियम्य एवं उसी पर आश्रित है। यह ईश्वर के अनुग्रह से ही कर्तव्य सम्पादित कर सकता है। जीव अनन्त है एवं एक दूसरे से पृथक् है। ब्रह्म देही है, जीव देह है, ब्रह्म से भिन्न है। जीव दुःख त्रय से पीड़ित है, ब्रह्म दुःख से परे है। ब्रह्म जीव का अधिपति है। ब्रह्म एवं जीव दोनों अज एवं अविनाशी हैं। ब्रह्म प्राज्ञ है, जीव अज्ञ है। ब्रह्म एवं जीव में अंशांशी भाव अथवा विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध है। जीव अल्पज्ञ तथा अनेक एवं ब्रह्म सर्वज्ञ तथा एक है। ब्रह्म एवं जीव में अभेद नहीं है। किन्तु ईश्वर प्रत्येक जीव में व्याप्त होकर अन्तर्यामी बन कर उनका नियमन करता है। अतः इस दृष्टि से दोनों में अभेद है। जीव आधेय एवं ईश्वर आधार है, जीव नियम्य एवं ईश्वर नियामक है। ईश्वर की शरणागति प्राप्त किए बिना जीव का कल्याण नहीं है। ईश्वर गुणों का आकर एवं करुणा का सागर है। ईश्वर शरणागत एवं प्रपन्न जीवों पर करुणा कर उन्हें अभ्युदय एवं निःश्रेयस प्रदान करता है। शरणागति की परिपक्व अवस्था का नाम ही प्रपत्ति है। प्रपत्ति द्वारा जीव पूर्णतया ईश्वर की कृपा पर अवलम्बित हो जाता है।

सृष्टि विचार (अचित्)—अचित् ही जड़ प्रकृति है। यह भी ईश्वर का अंश है एवं उसी से परिचालित है। प्रकृति स्वयं सृष्टि नहीं कर सकती, यह ईश्वर की अध्यक्षता में ही सृष्टि-कार्य करती है। ईश्वरेच्छा से सूक्ष्म प्रकृति तेज, जल एवं पृथ्वी में विभाजित होकर त्रिगुण की रचना करती है। इन्हीं तीनों गुणों के मिश्रण से सभी स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक पदार्थ में न्यूनाधिक रूप में सत्, रज एवं तम तीनों गुण रहते हैं। ईश्वर माया शक्ति से जगत की सृष्टि करता है। ईश्वर मायावी है, किन्तु उसकी सृष्टि भी ईश्वर की तरह सत्य है। विकारास्पद ज्ञान शून्य वस्तु ही अचित् है।

अचित् के तीन भेद हैं।

1. शुद्ध सत्व—यह शुद्ध सतोगुण का रूप है, नित्य विभूति हैं।

2. मिश्र सत्व—यह रजोगुण एवं तमोगुण मिश्रित है, यही प्राकृतिक सृष्टि का उपादान है। यही माया, अविद्या अथवा प्रकृति है।

3. सत्व शून्य—काल ही सत्व-शून्य है, यह संवेदना से रहित है।

शुद्ध सत्व में रजोगुण एवं तमोगुण नहीं होता। यह नित्य, ज्ञानानन्द

प्रदाता, निरवधिक तेजो रूप द्रव्य विशेष है। इसी से ईश्वर तथा नित्य एवं मुक्त पुरुषों के शरीर बनते हैं। भगवान के व्यूह विभावादि रूप इसी अप्राकृत शुद्ध सत्व से निर्मित होते हैं। रामानुज मत में आत्मा किसी भी अवस्था में शरीर के बिना नहीं रह सकता। मुक्तावस्था में भी भगवत्सेवा के लिए शुद्ध सत्व का अप्राकृत शरीर होता है।

साधन मार्ग—रामानुज मत से वेदान्त के शुष्क ज्ञान से कुछ नहीं होता। पुस्तकीय ज्ञान शब्दों की आवृत्ति मात्र है। शंकर के समान रामानुज भी अपरोक्षानुभूति को ही यथार्थ ज्ञान मानते हैं। यह भी मानते हैं कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती किन्तु रामानुज मत से ज्ञान का अर्थ ध्रुवा-स्मृति अर्थात् निरन्तर भगवत् स्मरण है। भगवत्प्राप्ति का मुख्य साधन भक्ति है। शंकर ने केवल ज्ञान पर किन्तु रामानुज ने ज्ञान कर्म-समुच्चय पर बल दिया है। वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से उपलब्ध ज्ञान रूप भक्ति ही रामानुज मत में मुक्ति का साधन है।

भक्ति का अर्थ—रामानुज के मत से भक्ति का अर्थ प्रपत्ति है। प्रपत्ति से ही ईश्वर-कृपा होती है। वेद विहित कर्म एवं वर्णाश्रम धर्म के पालन से चित् शुद्ध होकर प्रपत्ति के योग्य बनता है। भक्तों की दीन दशा देखकर नारायण की अनुग्रह-शक्ति का स्वतः उदय होता है और उनके अनुग्रह से ही मुक्ति लाभ होता है। प्रपन्न भक्त नवजात मार्जार-किशोर के समान पूर्णतः भगवान के आश्रित हो जाता है। भगवान ही सभी प्रकार से उसकी चिन्ता करते हैं एवं योग-क्षेम का निर्वाह करते हैं। प्रपत्ति के वश में हो भगवान स्वयं ही जीव को पूर्ण ज्ञान करा देते हैं, इसी का फल अपरोक्ष ज्ञान है। मुक्ति प्राप्त होने तक कर्म का अनुष्ठान करते रहना आवश्यक है।

मुक्ति—मुक्ति के लिए ईश्वर का साक्षात् अनुभव ही अन्तिम साधन है। रामानुज मत से ईश्वर से आत्मा का एकात्म्य सम्पन्न नहीं होता। मुक्तावस्था में आत्मा ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को पा लेता है, उसके समान हो जाता है किन्तु मिलकर एक नहीं होता। सर्वज्ञत्व, सत्य-संकल्पत्व आदि ईश्वर के गुण आत्मा में आ जाने पर भी सर्वकर्तृत्व का गुण ईश्वर में ही रहता है। मुक्तावस्था में भी पुनः अविद्या के आश्रित होने की योग्यता भी बनी रहती है। जीव को सृष्टि, स्थिति एवं लय में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं रहता है। अन्य वैष्णव आचार्यों की तरह रामानुज भी

जीवन्मुक्ति नहीं मानते। देहान्तर के बाद विदेह मुक्ति से रामानुज़ सहमत हैं। रामानुज मत से बैकुण्ठ में भगवान का किंकर बनना ही परमा मुक्ति है। प्रपत्ति पर रामानुज का सर्वाधिक आग्रह रहा है, अतः इनके मार्ग को प्रपत्ति मार्ग भी कहा जा सकता है।

(3) माध्व-मत (द्वैत-सिद्धान्त) का सारांश–

द्वैत सिद्धान्त के प्रवर्तक मध्वाचार्य हैं। आनन्द तीर्थ, पूर्णबोध, पूर्णप्रज्ञ आदि इन्हीं के नाम हैं। मध्वाचार्य ने ब्रह्म-सूत्र पर पूर्णप्रज्ञ-भाष्य की रचना कर श्रुतियों एवं ब्रह्म-सूत्रों का द्वैत परक अर्थ करते हुए द्वैत-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। मध्वाचार्य जीव एवं ब्रह्म में अभेद नहीं मानते। जीव एवं ईश्वर में सदैव द्वैत बना रहता है। यह द्वैत मुक्तावस्था में भी विद्यमान रहता है। जीव उपासक एवं ईश्वर उपास्य है। मध्व के अनुसार परमात्मा और उसकी शक्ति में भी अभेद नहीं है।

परमात्मा-(विष्णु)--मध्व के अनुसार विष्णु ही परमात्मा है। वह सर्वज्ञ तथा अनन्त गुणों से पूर्ण एवं जड़ प्रकृति से विलक्षण है। वे ही उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध एवं मोक्ष के कर्ता हैं। ज्ञान, आनन्द एवं कल्याण गुण ही भगवान के शरीर हैं। भगवान शरीरी होने पर भी नित्य एवं स्वतंत्र हैं, वे एक होकर भी नाना रूप धारण करते हैं। वे ही समय-समय पर अवतार लेते हैं। धर्म संस्थापन एवं अधर्म विनाश ही उनके अवतार का हेतु होता है। उनके मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंहादि सभी अवतार परिपूर्ण हैं। भगवान एवं भगवान के अवतार में भेद करना अनुचित है।

लक्ष्मी–लक्ष्मी परमात्मा विष्णु की शक्ति हैं, उनके अधीन हैं तथा उनसे भिन्न हैं। माध्व-मत शक्ति एवं शक्तिमान में अभेद नहीं मानता। भगवान की भार्या होने पर भी लक्ष्मी विष्णु से गुणादिकों में न्यून हैं। लक्ष्मी नाना रूप धारिणी, अप्राकृत देह धारिणी एवं नित्य मुक्ता हैं। माध्व मत से ब्रह्मा, रुद्र एवं देवादिक भी क्षर हैं, क्योंकि उनके शरीर का क्षरण होता है, किन्तु लक्ष्मी के शरीर का क्षरण नहीं होता, उसका देह अप्राकृत है वह अक्षरा है। यद्यपि लक्ष्मी भी देश एवं काल की दृष्टि से परमात्मा के समान व्यापक हैं तथापि गुणों में न्यून एवं परिच्छिन्न हैं। माध्व मत में शक्ति चार प्रकार की मानी गई है–

1. अचिन्त्य शक्ति–यह अघटित-घटना-घटीयसी शक्ति है, जो

सर्वदा भगवान विष्णु में ही निवास करती है। इसलिए भगवान विष्णु में सदैव अलौकिक कार्य सम्पादन का सामर्थ्य रहता है। इसी शक्ति के कारण भगवान में परस्पर विरोधी गुण भी सर्वकाल में एक साथ बने रहते हैं। लक्ष्मी, वायु आदि की शक्ति इस शक्ति से न्यून है।

2. **आधेय शक्ति**—विधिवत् प्रतिष्ठा करने पर देव प्रतिमा में जो देवता का सान्निध्य उत्पन्न होता है, वही आधेय शक्ति है। वह दूसरों द्वारा स्थापित की जाती है।

3. **सहज शक्ति**—प्रत्येक कार्य के अनुकूल स्वभाव रूपा शक्ति सहज शक्ति है। यह नित्य एवं अनित्य दो प्रकार की होती है तथा प्रत्येक पदार्थ में रहती है।

4. **पद-शक्ति**—पदार्थ में वाच्य-वाचक-सम्बन्ध से अर्थ प्रतीति कराने वाली शक्ति पद-शक्ति है।

जीव—माध्व मत में जीव अणु, अल्पज्ञ एवं अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषों से युक्त संसारी हैं। मध्वाचार्य ने जीव तीन प्रकार के माने हैं—

1. **नित्य-संसारी**—सदैव सुख-दुःख में संलग्न, कर्मानुसार ऊँच-नीच गति प्राप्त कर स्वर्ग, नरक तथा भू लोक में विचरण करते रहते हैं। ये मध्यम मनुष्य हैं जो कभी मुक्त नहीं होते।

2. **मुक्ति-योग्य**—देव, ऋषि, पितर, चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्य ये पाँच प्रकार के होते हैं।

3. **तमो योग्य**—दैत्य, राक्षस, पिशाच एवं अधम मनुष्य ये चार प्रकार के होते हैं। प्रत्येक जीव अन्य जीव से भिन्न है। सभी का पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व है। जीव ईश्वर से भी भिन्न है। मुक्तावस्था में आनन्दानुभूति की मात्रा में भी भिन्नता रहती है। चैतन्यांश की दृष्टि से ही परमात्मा एवं जीव की एकता प्रतिपादित की जाती है अन्यथा गुण दृष्टि से जीव एवं परमात्मा की भिन्नता तथा द्वैत पूर्णतः स्पष्ट है।

पदार्थ—माध्व मत में पदार्थ दस माने जाते हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, शक्ति, अंशी, सादृश्य एवं अभावादि दस पदार्थ हैं। द्रव्य 20 प्रकार का माना गया है—

परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्, अहंकार, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, मात्र, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना,

काल एवं प्रतिबिम्ब आदि बीस द्रव्य हैं। अव्याकृत आकाश नित्य, निर्विकार एवं व्यापक है किन्तु भूताकाश अनित्य है। प्रकृति जड़, नित्य, सर्व जीव लिंग–रूपा एवं जगत का उपादान कारण है। गुण–सत्, रज एवं तम हैं। शुद्ध सत्व से ही जीवों को लीलामय विग्रह प्राप्त होता है।

साधन मार्ग–श्रवण, मनन एवं ध्यान के साथ ही माध्व मत में पंच-भेद ज्ञान आवश्यक है।

पंचभेद ज्ञान–(1) ईश्वर-जीव का भेद (2) ईश्वर-जड़ का भेद (3) जीव का जीव से भेद (4) जीव का जड़ से भेद एवं (5) एक जड़ का दूसरे जड़ से भेद।

उपासना–शास्त्रभ्यास रूपा एवं ध्यान रूपा दो प्रकार की उपासना की जाती है।

ध्यान–ध्यान का अर्थ भगवान की स्मृति है।

मुक्ति–जीव मोक्ष के लिए भी भगवान के आधीन है।

भगवान के अनुग्रह के अभाव में जीव साधारण कार्य भी नहीं कर सकता। शास्त्राभ्यास से ध्यान, ध्यान से अपरोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान से भक्ति, भक्ति से परम भक्ति एवं अनुग्रह तथा भगवद् अनुग्रह से मोक्ष प्राप्त होता है। मुक्ति के चार प्रकार हैं–सालोक्य, सामीप्य, सारुप्य एवं सायुज्य। सायुज्य सबसे श्रेष्ठ है। भगवान में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करना ही सायुज्य है।

4. निम्बार्क मत (द्वैताद्वैत सिद्धान्त) का सारांश–

निम्बार्क ने जिस द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन पूर्ववर्ती आचार्य भास्कराचार्य ने भी भेदाभेद सिद्धान्त के नाम से किया है, किन्तु इस सिद्धान्त को उत्कर्ष तक पहुँचाने का श्रेय निम्बार्क को ही है। द्वैत एवं अद्वैत दोनों की अपरिहार्यता बताना ही इस सिद्धान्त का लक्ष्य है।

निम्बार्क ने भी तीन तत्त्व माने हैं–चित्, अचित् एवं ब्रह्म।

ब्रह्म–श्रीकृष्ण अथवा वासुदेव ही परब्रह्म हैं। वे निर्दोष, कल्याण-गुण-निधि, सत्यज्ञान स्वरूप एवं सच्चिदानन्द विग्रह हैं। श्रीकृष्ण गोपीकान्त होने के साथ रमानाथ भी हैं। गोपी प्रेम एवं रमा ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री है अतः श्रीकृष्ण प्रेम एवं ऐश्वर्य दोनों के आश्रय एवं आधार हैं इनकी शक्ति अनन्त एवं अचिन्त्य है। ये योगी के लिए ध्येय, भावगम्य

एवं भक्त वत्सल हैं। ये ब्रह्मादि देवगण से अर्चित, कर्म फल प्रदाता एवं कृपालभ्य है। वे स्वतंत्र, यज्ञ भोक्ता एवं मुमुक्षुओं के जिज्ञास्य हैं। उनकी देह मृदुलता, सौन्दर्य, लावण्य, सौकुमार्य एवं सौगन्ध आदि सद्गुणों से विभूषित है। उनकी देह में इन्द्रियादि विभाग नहीं है। वे सर्वशक्तिमान एवं एक रस हैं।

चित्-अचित् दोनों ब्रह्मात्मक हैं। ब्रह्म इन दोनों से विलक्षण है। ब्रह्म जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है। वे ही कर्ता एवं कर्म तथा सर्वज्ञ एवं अच्युत-विभव है। परमात्मा स्वयं निर्विकार रहते हुए भी सृष्टि कर सकते हैं। ब्रह्म सगुण, प्राकृत दोषों से रहित, अशेष ज्ञान, बल एवं कल्याण के निधान हैं। वह सम्पूर्ण-दृश्य जगत् नारायण रूप में व्याप्त एवं विद्यमान हैं। परमात्मा को ही परब्रह्म, नारायण, श्रीकृष्ण एवं पुरुषोत्तम कहा जाता है। परमात्मा ही उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण है। वही सर्वव्यापी, सर्व नियन्ता, निरतिशय सूक्ष्म एवं ईश्वरों का भी ईश्वर है। उसकी शक्ति एवं सामर्थ्य अपार है। वहीं अपनी इच्छा से जगत् व्यापार करता है।

चित् (जीव)—यह ज्ञान स्वरूप है तथा इन्द्रियों के बिना भी विषय का ज्ञान करने में समर्थ है। इसलिए इसे प्रज्ञानधन, स्वयं ज्योति तथा ज्ञानमय कहा जाता है। जीव ज्ञान का आश्रय होने के साथ ही ज्ञाता भी है। जीव प्रत्येक अवस्था में कर्ता ही रहता है। संसारी अवस्था में उसका कर्तृत्व स्पष्ट है किन्तु मुक्तावस्था में भी उपासना करते रहना उसके कर्ता होने का परिचायक है। गीता में प्रकृति द्वारा कार्य सम्पन्न होने पर भी कर्तृत्व का अभिमान रखने वाले को विमूढ़ बताया गया है। उसका गूढ़ आशय यही है कि प्राकृत गुणों से विमूढ़ आत्मा प्रकृति के गुणों से युक्त होकर ही कार्य करता है। विषयों का भोग करने के कारण जीव कर्ता ही नहीं, भोक्ता भी है। वह ज्ञान एवं भोग के लिए ईश्वर पर आश्रित है। चैतन्य एवं ज्ञान स्वरूप होने से ईश्वर के समान होते हुए भी भिन्न है क्योंकि जीव नियम्य एवं ईश्वर नियन्ता है। जीव का नियत्यत्व गुण ही उसे विशेष रूप से ईश्वर से भिन्न सिद्ध करता है। जीव बद्ध एवं मुक्त दोनों अवस्थाओं में ईश्वर पर ही आश्रित है। ईश्वर स्वतन्त्र एवं जीव परतन्त्र हैं क्योंकि उसमें ईश्वर की इच्छानुसार ही कर्तृत्व उत्पन्न होता है। ईश्वर ही हृदय में प्रवेश कर जीवों पर शासन तथा उनका नियमन करता है। परमात्मा की इच्छा से ही जीव में

स्मृति, ज्ञान एवं विस्मृति का संचार होता है।

जीव परिमाण में अणु होते हुए भी व्यापक गुण लक्षण लिए रहता है। हृदय में रहते हुए भी प्रत्येक अंग के सुख-दुःखादि का अनुभव कर लेता है। जीव अनन्त है तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। जीव प्रभु का अंश है किन्तु अंश का अर्थ विभाग न होकर शक्ति है। ईश्वर शक्तिमान एवं जीव उसकी शक्ति है। गुणमयी माया से आवृत्त होने से जीव का ज्ञान संकुचित हो जाता है और वह बद्ध हो जाता है। मुमुक्षु एवं बुभुक्षु भेद से जीव दो प्रकार के हैं। मुमुक्षु मोक्ष का एवं बुभुक्षु विषयानन्द का इच्छुक होता है। मुक्त जीव भी नित्यमुक्त एवं मुक्त भेद से दो प्रकार का होता है। मुक्त जीव गर्भ, जन्म, मरण रहित एवं प्राकृत दुःखों के अनुभव से शून्य होता है। वह सदैव भगवान के स्वरूप-दर्शन एवं भजनानन्द में मग्न रहता है। जो अविद्या के दुःख एवं क्लेशों से रहित हो जाता है, वह मुक्त जीव है। कुछ मुक्त जीव अपने आत्मज्ञान से आत्मानन्द पाकर ही सन्तुष्ट रहते हैं किन्तु कुछ मुक्त जीव प्रभु की भक्ति के बल से आनन्दस्वरूप भगवद्भाव को प्राप्त करते हैं। जीव जब विषयानन्द छोड़कर कर्म रूपी अविद्या का बन्धन काट कर सद्गुरु की कृपा एवं आश्रय से देहाभिमान से रहित हो जाता है तो परमात्मा की अहैतुकी कृपा से परामुक्ति अथवा परम पद प्राप्त कर लेता है। जीव तथा ब्रह्म के बीच भेदाभेद सम्बन्ध बद्ध एवं मुक्त दोनों अवस्थाओं में बना रहता है। जीव अल्पज्ञ एवं एकदेशव्यापी तथा ब्रह्म सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापक है अतः वह ब्रह्म से भिन्न है। किन्तु प्रत्येक अवस्था में ईश्वराश्रित रहने के कारण ब्रह्म से अभिन्न भी है। यही द्वैताद्वैत सिद्धान्त है। मुक्त जीव भी अपने विशेष स्वरूप एवं व्यक्तित्व से युत रहता है अतः परमात्मा से भिन्न रहता है।

अचित् (जड़ तत्व)—चेतनाहीन पदार्थ ही जड़ कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है—

1. **प्राकृत**—महत् तत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार, दस इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्र एवं पाँच महाभूत प्राकृत हैं।

2. **अप्राकृत**—प्रकृति से परे, भगवद्धाम जिसे विष्णु पद, परम व्योमन् तथा परम पद भी कहते हैं।

3. **काल**—यह अचेतन पदार्थ होने पर भी जगत् के समस्त परिणामों

का जनक है। यह जगत् का नियामक होने पर भी परमात्मा के अधीन है। यह अखण्ड है, स्वरुप की दृष्टि से नित्य एवं कार्य की दृष्टि से अनित्य है।

प्राकृत जड़ तत्त्व ही तीनों गुणों का आश्रय भूत द्रव्य है। यह कारण रूप से नित्य एवं कार्य रूप से अनित्य है। अप्राकृत विशुद्ध सत्व भी है जो सूर्य मंडल से परे है। अचित् की सत्ता स्वतन्त्र न होकर भगवत्सापेक्ष है। प्रकृति कालाधीन एवं विकारशील है। त्रिगुण प्रकृति ही देह, मन एवं बुद्धि में परिणत होकर जीव का बंधन करती है।

साधन मार्ग—निम्बार्क के मत से शरणागति ही भगवत्प्राप्ति का मुख्य साधन है शरण में आने पर ही जीव का कल्याण होता है। प्रपन्न जीव ही भगवद् अनुग्रह का पात्र होता है। भगवद् अनुग्रह से प्रभु के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं रागात्मिका भक्ति का उदय होता है। भगवान की करुणा ही जीव में प्रभु के प्रति आकर्षण एवं स्नेह पैदा करती है। प्रेमा-भक्ति का फल ही भगवद् साक्षात्कार है। भगवद् दर्शन से जीव समस्त क्लेशों से मुक्त होकर भगवद् भाव से परिपूर्ण हो जाता है। शरीर के साथ रहने तक भगवद् भावापत्ति नहीं हो सकती, इसीलिए निम्बार्क मत में भी जीवन्मुक्ति मान्य नहीं है। देह विसर्जन के पश्चात् विदेह मुक्ति ही मान्य है।

निम्बार्क सम्प्रदाय में भगवान श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा का चिर किशोर-किशोरी स्वरूप ही आराध्य एवं भक्ति का आलम्बन है। इन्हीं के युगल-स्वरूप की उपासना एवं सेवा की जाती है। इस सम्प्रदाय में श्रीराधा ही गुरु स्थानीय मानी गई है। श्रीराधा के कृपा-कटाक्ष से ही लीला में प्रवेश मिलता है। युगल स्वरुप की प्रेम-मयी लीलाओं के मधुर रस का आस्वादन ही भक्त के जीवन का परम ध्येय होता है। इसीलिए रागात्मिका भक्ति के उदय हो जाने पर भक्त जन श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य मय स्वरुप से उदासीन रह प्रेममय युगल स्वरूप की ओर ही आकर्षित रहते हैं। इस साधना के लिए इस सम्प्रदाय में निकुंज उपासना भी प्रचलित है जिसमें सखी भाव ही प्रधान होता है।

(5) चैतन्य मत (अचिन्त्य-भेदाभेद) का सारांश—चैतन्य मत को गौडीय वैष्णव मत कहा जाता है। इसका दार्शनिक सिद्धान्त अचिन्त्य-भेदाभेद है। भगवान श्रीकृष्ण एवं उनकी स्वरूपादि शक्तियों में भिन्नता एवं अभिन्नता दोनों प्रतीत होने पर भी भिन्न एवं अभिन्न दोनों रूप में चिन्तन

करना अशक्य है। भेद एवं अभेद दोनों ही अचिन्त्य है अतः इस विलक्षण दृष्टिकोण को अचिन्त्य-भेदाभेद कहा जाता है।

श्रीकृष्ण के रसमय संकीर्तन से सभी को भाव-विभोर बना देने वाले रसामृत-मूर्ति चैतन्य महाप्रभु का जीवन भक्ति का उच्चतम आदर्श रहा है। उनके शिष्यद्वय रूप गोस्वामी एवं सनातन गोस्वामी ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया है। श्री रूपगोस्वामी द्वारा प्रणीत "भक्तिरसामृत सिन्धु" भक्ति रस का अमूल्य ग्रन्थ है। चैतन्य मत में पाँच बातें मुख्य हैं–

(1) श्रीकृष्ण ही आराध्य हैं (2) उनका धाम वृन्दावन है (3) ब्रज वधुओं की उपासना ही रमणीय है (4) भागवत शास्त्र ही प्रमाण है (5) भगवद् प्रेम चारों पुरुषार्थों से ऊपर पंचम पुरुषार्थ है।

भगवान–श्रीकृष्ण ही भगवान है। वे पूर्ण विज्ञानानन्द विग्रह, अनन्त गुणों के धाम, सर्वज्ञ, सत्यकाम एवं सर्व विद्या परिपूर्ण है। उनके गुण उनसे अभिन्न एवं उनका विग्रह उनके स्वरूप से एकाकार है। उनका विग्रह नित्य एवं अप्राकृत है। उनके स्वरूप, गुण एवं विग्रह में भिन्नता नहीं है। चैतन्य मत में भेद का समर्थन 'जल-कल्लोल-न्यायवत्' किया गया है। इस मत में भी ब्रह्म सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से शून्य है। ब्रह्म अखण्ड सच्चिदानन्दात्मक पदार्थ हैं। अपनी अचिन्त्य शक्ति से वे नानात्मक होते हुए भी एकात्मक एवं मूर्त होकर भी विभु बने रहते हैं। भक्तों ने भगवान को वैदूर्य मणि के समान बताया है।

शक्ति–भगवान की अनन्त शक्तियों में (1) स्वरूप शक्ति, (2) तटस्थ शक्ति एवं (3) माया शक्ति मुख्य है।

1. स्वरुप शक्ति–यह अन्तरंग चित् शक्ति है जो भगवद् रूपिणी है इसके भी तीन प्रकार है।

1. सन्धिनी-भगवान इसी के बल पर सत्ता धारण करते हैं एवं दूसरों को भी सत्ता प्रदान करते हैं।

2. संवित्-भगवान इसी के कारण सर्वज्ञ हैं तथा दूसरों को भी इसी के बल से ज्ञान कराते हैं।

3. आह्लादिनी-भगवान इसी से आनन्दित होते हैं तथा दूसरों को भी आनन्द प्रदान करते हैं।

2. तटस्था शक्ति–जीव ही भगवान की तटस्था शक्ति है।

3. माया शक्ति–इसी से प्रकृति एवं जगत् का आविर्भाव होता है।

इन तीनों शक्तियों का समुच्चय ही परा शक्ति है। भगवान स्वरूप-शक्ति से जगत के निमित्त एवं माया शक्ति से जगत के उपादान कारण बनते हैं। भगवान धर्म संस्थापन एवं अधर्म विनाश हेतु विभिन्न अवतार ग्रहण करते हैं किन्तु श्रीकृष्ण अवतार मात्र न होकर साक्षात् भगवान हैं।

जगत्—चैतन्य मत में जगत् सत्य है। वैराग्य प्राप्त करने की दृष्टि से ही जगत् को अनित्य कहा गया है। जगत् सृष्टि काल में व्यक्त एवं प्रलय काल में ''वन-लीन-विहंगवत्'' अव्यक्त रहता है।

साधन मार्ग—भक्ति ही भगवान को प्रसन्न एवं वश में करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

ज्ञान के दो प्रकार हैं—(1) केवल ज्ञान एवं (2) विज्ञान। भक्ति ही विज्ञान है।

भक्ति—त्वं पदार्थ के ज्ञान से केवल ज्ञान एवं तत् पदार्थ के ज्ञान से भक्ति अर्थात् भगवत्सायुज्य प्राप्त होता है। भक्ति संवित एवं आह्लादिनी शक्तियों का सार है, भगवद्रूपिणी है। भक्ति दो प्रकार की होती है—

1. विधि-भक्ति—यह शास्त्र निर्दिष्ट उपायों पर अवलम्बित है। इस भक्ति का फल देवयान से वैकुण्ठ प्राप्ति है।

2. रुचि या रागात्मिका भक्ति—आर्त भक्त पर अहैतुकी कृपा होने पर रागात्मिका भक्ति प्राप्त होती है। यह विधि भक्ति से श्रेयस्कर है। इस भक्ति के कारण प्रभु अपने ही वाहन द्वारा भक्त को निज धाम की प्राप्ति करा देते हैं। भगवान के भी ऐश्वर्य मय एवं माधुर्य मय दो रूप हैं। ऐश्वर्य मय स्वरूप की भक्ति से ऐश्वर्य का एवं माधुर्य मय भक्ति से प्रेम-भक्ति का विकास होता है। ऐश्वर्य से अभिभूत होकर भक्त अपने एवं भगवान के प्रेममय सम्बन्ध को भूल जाता है। वह आदर भाव से युक्त अवश्य बना रहता है। माधुर्य भाव में भक्त भगवान को अपने प्रियतम रूप में ग्रहण करते हुए अलौकिक आनन्द का अनुभव करता हुआ भगवद् धाम को प्राप्त करता है। ब्रज गोपियों की यही भक्ति है जो परम रमणीय है। यह उपाय भूता न होकर उपेयभूता है। मुक्त आत्माओं के लिए यही भक्ति सेवानन्द का रूप धारण कर प्रकट होती है। भगवान कृष्ण की सेवा में मिलने वाला आनन्दलाभ मोक्ष से भी बढ़कर है। इसलिए गौड़ीय सम्प्रदाय भगवद् प्रेम, भगवत्सेवा एवं भगवत्प्राप्ति को पंचम पुरुषार्थ के रूप में

ग्रहण करता है। गौड़ीय सम्प्रदाय में भगवद् विरह का अनुभव करते हुए प्रेमपूर्वक भाव-विभोर होते हुए श्रीकृष्ण का संकीर्तन करने का सर्वाधिक महत्त्व है।

(6) शुद्धाद्वैव दर्शन (वल्लभ वेदान्त) एवं पुष्टि मार्ग का सारांश—शुद्धाद्वैत की दार्शनिक विचारधारा का मूल सम्बन्ध रुद्र सम्प्रदाय एवं विष्णु स्वामी की दीर्घकाल तक विलुप्त रही भक्ति मार्ग की धारा से माना जाता है किन्तु महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा ब्रह्म-सूत्र पर लिखा गया अणु-भाष्य ही शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का उपजीव्य ग्रन्थ है। इस दृष्टि से श्री वल्लभाचार्य को ही शुद्धाद्वैत का प्रवर्तक मानना समीचीन है।

शुद्धाद्वैत का आशय—"शुद्धं तद् अद्वैतं शुद्धाद्वैतं" का अभिप्राय यही है कि माया से अलिप्त नितान्त शुद्ध ब्रह्म ही एकमात्र अद्वैत तत्त्व है। माया सम्बन्ध रहित ब्रह्म ही शुद्ध ब्रह्म है।

"शुद्धयोरद्वैतं" के अनुसार माया सम्बन्ध रहित ब्रह्म एवं जगत् का अद्वैत है।

"शुद्धयोरद्वैतं" के अनुसार माया सम्बन्ध रहितं शुद्ध मित्युच्यते बुधैः का भी यही आशय है।

ब्रह्म—शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म सर्वशक्तिमान, अनन्त, सर्वधर्म विशिष्ट, नित्य, विविध एवं परस्पर विरोधी गुणों से युक्त, विरुद्ध-धर्माश्रय, निर्विकार, आनन्द-स्वरूप एवं सच्चिदानन्द है। वह अणोरणीयान् महतो महीयान्" होने के साथ ही अनेक होकर भी एक है। स्वतन्त्र होने पर भी वह भक्त-पराधीन है। आनन्द की न्यूनाधिक मात्रा से ही ब्रह्म अनेक रूपों में व्यक्त होता है। आनन्द की मात्रा के अनुसार ही शुद्धाद्वैत मत में ब्रह्म के तीन स्वरूप माने गए हैं।

1. आधिदैविक—ब्रह्म का आधिदैविक स्वरूप सच्चिदानन्द है। यह स्वरूप आनन्द से परिपूर्ण है। यही अखिल रसामृत मूर्ति, निखिल लीला धाम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं, यही परब्रह्म है, परात्पर तत्त्व हैं। **"एकोऽहं बहुस्याम्"** की भावना से लीला विलास के लिए श्रीकृष्ण परब्रह्म ही अपने आनन्द का आंशिक तिरोभाव कर अक्षर ब्रह्म एवं आनन्दांश का पूर्ण तिरोभाव कर जीव एवं जगत् बनते हैं। श्रीकृष्ण का ही एक रूप सूर्य मण्डल में है जो अन्तर्यामी बनकर प्रत्येक जीव के हृदय में विराजमान है।

यह रूप नारायण का है, सभी अन्तर्यामी उसके अंश हैं।

2. आध्यात्मिक--अक्षर ब्रह्म ही ब्रह्म का आध्यात्मिक स्वरूप है। क्षर एवं अक्षर भगवान कृष्ण की दो प्रकृतियाँ हैं। अक्षर ब्रह्म उनकी चैतन्य प्रकृति है। इसी अक्षर ब्रह्म को उनका चरण अथवा उनका धाम कहा जाता है। श्रीकृष्ण का आधिदैविक स्वरूप अक्षर ब्रह्म से परे है। भाव, सेवा, स्नेह एवं समर्पण के अभाव में इस स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता। श्रीकृष्ण ही ज्ञानियों को अक्षर ब्रह्म के रूप में प्राप्त होते हैं। ज्ञानियों के लिए अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति एवं भक्त जन का अन्तिम लक्ष्य श्रीकृष्ण-सायुज्य होता है। भक्ति के द्वारा ही भगवद् लीला में प्रवेश एवं भगवद् सायुज्य सुलभ होता है। अक्षर ब्रह्म ही समस्त कारणों का कारण है। अक्षर ब्रह्म में सत्व की प्रधानता होने से आनन्द का किंचित् अंश तिरोहित रहता है।

भगवान श्रीकृष्ण ही अप्राकृत सत्वगुण में आविष्ट हो विष्णु रुप हो जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश कृष्ण के ही अप्राकृत गुणावतार हैं तथा प्राकृत गुणों के नियामक होने से सगुण हैं। त्रिदेवों में केवल विष्णु में ही चतुर्भुज, वनमाला, पीताम्बर आदि पुरुषोत्तम गुणों का प्राकट्य होने से उन्हें उत्कृष्ट माना जाता है। 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' के अनुसार भगवान के अनन्त रूप हैं। सभी रूपों में श्रीकृष्ण ही आविष्ट हैं अतः सभी रूप वन्दनीय, उपास्य एवं वरणीय हैं।

जगत्

3. आधिभौतिक--पुरुषोत्तम सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण के सत् अंश से क्षर (अपरा प्रकृति) एवं चित् अंश से जीव चैतन्य (परा प्रकृति) का प्रादुर्भाव होता है। क्षर ब्रह्म ही भौतिक प्रकृति है तथा जीव के साथ मिलने पर इसे ही जगत् कहा जाता है। सच्चिदानन्द के आनन्द अंश का तिरोभाव होने से जीव एवं चित् तथा आनन्द दोनों का तिरोधान होने से प्रकृति मात्र शेष रहती है। महाप्रभु श्री वल्लभ के मत से ब्रह्म की तरह जगत् भी नित्य है एवं यह ब्रह्म का ही आधिभौतिक स्वरूप होने से सत्य है। सत् चित् एवं आनन्द तीनों अंश ब्रह्म रूप हैं तथा ये कभी विकारी नहीं होते। प्राकृत गुणों से रहित सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगत् रूप होता है। कुण्डल में रहते हुए भी स्वर्ण विकृत नहीं होता, कुण्डल के न रहने पर पुनः अपनी मूलावस्था में आ जाता है उसी तरह

जीव एवं जगत् रूप को प्राप्त करने पर भी ब्रह्म पुनः सच्चिदानन्द रूप हो जाता है। ब्रह्म सर्वावस्था में निर्विकार ही रहता है। ब्रह्म भी नाना रूपों में रहते हुए भी अविकृत ही रहता है। यही अविकृत परिणाम वाद का सिद्धान्त है। दूध से विकार होने पर दही बनता है यह परिणाम वाद है। दही को पुनः दूध नहीं बनाया जा सकता किन्तु जीव अवस्था में भी ब्रह्म निर्विकार एवं अविकृत ही रहता है इसीलिए पुनः सच्चिदानन्द रूप हो जाता है। यह सम्पूर्ण जगत् भगवान का ही आधिभौतिक आकार है। **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म"** का भी यही आशय है कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म-मय है। श्री वल्लभ जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश न मानकर जगत् का आविर्भाव एवं तिरोभाव ही मानते हैं। अनुभव योग्य रहने पर आविर्भाव एवं अनुभव योग्य न रहने पर तिरोभाव अवस्था मानी गई है।

जगत् एवं संसार की भिन्नता—सत् अंश से प्रादुर्भूत पदार्थ ही जगत् है, यह सत्य एवं नित्य है किन्तु जीव द्वारा कल्पित अहंता, ममता रूप पदार्थ की संज्ञा संसार है। संसार अनित्य है। अविद्या के कारण ही अहंता एवं ममता उत्पन्न होती है अतः अविद्या की सत्ता रहने तक ही संसार रहता है। अतः इसे अनित्य कहा जाता है अविद्या पंच-पर्वा है। इसके पाँच पर्व इस प्रकार हैं, स्वरूप-अज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास एवं अन्तःकरणाध्यास यह पंच-पर्वा अविद्या जीव को ग्रस्त कर लेती है। अविद्या के मिटने पर स्वरूपज्ञान का उदय होते ही इस अविद्या जनित संसार का भी नाश हो जाता है, किन्तु ब्रह्म रुप होने से जगत् का विनाश सम्भव नहीं है। ब्रह्म जीव एवं जगत् तीनों ही सत्, चित् एवं आनन्द होने से सत्य तथा नित्य हैं। अविद्यामय संसार में जीवों को कर्मानुसार सदैव ही शोक, मोह, सन्ताप एवं क्लेशादि का अनुभव होता रहता है, किन्तु जगत् शाश्वत है, उसमें भगवान श्रीकृष्ण ही विभिन्न रूप एवं नाम धारण कर लीला करते रहते हैं। विशुद्ध भगवदीय महानुभाव संसार का अनुभव न कर भगवान की लीलाओं का अनुभव सदैव करते रहते हैं। जगत् का आविर्भाव एवं तिरोभाव भी प्रभु की लीला का ही अंग है।

आविर्भाव एवं तिरोभाव—ब्रह्म ही आविर्भाव दशा में जगत् रूप एवं तिरोभाव दशा में ब्रह्म रहता है। वस्तुतः जगत् एवं ब्रह्म एक ही है। फैलाया हुआ कपड़ा पुनः समेट लेने पर थान कहलाता है उसी तरह जगत् फैलाए हुए कपड़े के समान आविर्भूत है तथा ब्रह्म लपेटे हुए कपड़े की

तरह है। ब्रह्म माया की सहायता के बिना भी कर्ता है। जगत् की सृष्टि केवल लीला के लिए है। प्रभु अपनी अचिन्त्य सामर्थ्य से ज़गत् की सृष्टि कर उससे क्रीड़ा करते हैं और अन्त में स्वयं में ही लीन कर लेते हैं। उनकी महिमा अतर्क्य है, उसे कोई नहीं जान सकता।

जीव—जीव ब्रह्म का चित् अंश है। ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति न होकर उससे जीव का उदय अथवा व्युच्चरण अग्नि-स्फुलिंग वत् होता है इसी से जीव की नित्यता का ह्रास नहीं होता है। जीव ज्ञाता एवं ज्ञान स्वरूप होने के साथ ही अणु रूप है। आनन्दांश के तिरोहित होने से अणु एवं आनन्दांश के आर्विर्भूत होने पर उसमें विभुत्व आ जाता है। अग्नि एवं चिनगारी की तरह ब्रह्म एवं जीव में स्वरूप गत अभेद है तथापि जीव अल्पज्ञ है एवं उसकी शक्ति सीमित है। ब्रह्म सर्वज्ञ है तथा उसकी शक्तियाँ असीम एवं अनन्त हैं। आनन्द, ऐश्वर्य, यश एवं श्री के तिरोधान होने से ही ब्रह्म जीव बनता है एवं दीनता, हीनता एवं क्लेशादि का पात्र बन जाता है। ज्ञान के तिरोधान से देहात्म-बोध होने पर अहंता एवं ममता रूपी अविद्या से ग्रस्त हो बन्धन को प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः प्रभु ही रमण की इच्छा होने पर अपने आनन्दांश को तिरोहित कर जीव रूप हो जाते हैं। शुद्धाद्वैत मत से जीव के तीन प्रकार हैं—

1. शुद्ध जीव—अविद्या से सम्बन्ध होने से पूर्व जीव शुद्ध होता है। शुद्ध जीव ज्ञानी एवं भगवदीय होता है।

2. संसारी जीव—अविद्या ग्रस्त जीव ही संसारी है। संसारी जीव दैवी एवं आसुरी भेद से दो प्रकार के होते हैं। दैवी जीव भी मर्यादा एवं पुष्टि के भेद से दो प्रकार के होते हैं। फलाकांक्षा रहने तक जीव मर्यादा मार्गी रहता है। प्रभु से निष्काम प्रेम होने पर पुष्टि जीव हो जाता है।

3. मुक्त जीव—भगवद् अनुग्रह से आनन्दांश का पुनः प्रादुर्भाव होने पर जीव प्रभु से अपना स्वरूप प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। जीव को आनन्दमय बना देना ही प्रभु का स्वभाव है। प्रभु द्वारा विशेष पुष्टि होने पर जीव भगवान से अभेद प्राप्त कर सच्चिदानन्द बन जाता है।

लीला रहस्य—भगवान ने अपनी लीला के लिए ही सृष्टि की है। सत् चित् दोनों ही उनकी क्षर एवं अक्षर प्रकृतियाँ हैं। अपरा (क्षर) प्रकृति के साथ भगवान का कार्यकारण तादात्म्य एवं परा प्रकृति (जीव) के साथ उनका अंशांशी तादात्म्य है। कारण से कार्य एवं अंशी से अंश अभिन्न ही

रहता है, इसका स्पष्ट आशय यही है कि वे स्वयं ही जीव एवं जगत् रूप है। सर्वत्र प्रभु ही है, वे ही सर्व रूप हैं। सृष्टि उनका लीला-विलास मात्र है, जिसका कोई अभिप्राय नहीं है। लीला कभी प्रयासजन्य नहीं होती, अन्तःकरण के आनन्द पूर्ण होने पर उल्लास से जो निर्दोष क्रिया होती है, वही भगवद् लीला है। यह अवश्य है कि प्रत्येक लीला रहस्यपूर्ण होती है एवं लीला-रहस्य जानने वाले भक्त जीवों को आनन्दित, अविद्याग्रस्त संसारी मनुष्यों को आश्चर्यचकित एवं आसुरी जीवों को भ्रमित करती है। अनुग्रह अथवा पुष्टि भी भगवान की नित्य लीला का विलास है। निस्साधन जीवों पर अनुग्रह करने हेतु भगवान भूतल पर अवतरित होते हैं। जीव के आर्त एवं शरणापन्न होने पर भगवान द्रवित हो उठते हैं। उनकी करुणा ही अनुग्रह अथवा पुष्टि के रूप में प्रकट होती है। यही पुष्टि लीला का रहस्य है। प्रभु शरणापन्न जीव को सतत पुष्ट करते हुए उसके लुप्त आनन्दांश का पुनः आविर्भाव कर लीला के माध्यम से उसे स्वरूप प्रदान कर कृतार्थ कर देते हैं।

साधन-मार्ग (पुष्टि मार्ग)--महाप्रभु वल्लभ ने अपने साधन मार्ग का नाम पुष्टि मार्ग रखा है। इसीलिए इसे अनुग्रह मार्ग अथवा कृपा मार्ग भी कहा जाता है। निस्साधन जीवों पर भगवान का अकारण अनुग्रह होता है। यही पुष्टि है जिसका अभिप्राय जीव का पोषण है। पुष्टि प्राप्त करने से पूर्व प्रभु श्रीकृष्ण से सम्बन्ध बनाना जीव के लिए आवश्यक है। पुष्टि मार्ग में इसे ही ब्रह्म-सम्बन्ध कहा जाता है। भगवद्-परायण भगवदीय सद्गुरु के द्वारा ही ब्रह्म सम्बन्ध कराया जाता है। ब्रह्म सम्बन्ध से ही जीव के समस्त दोषों की निवृत्ति होती है। शरणागत जीव ब्रह्म सम्बन्ध के साथ ही अपना समर्पण प्रभु के चरणों में करते हुए आत्मनिवेदन करता है एवं नाम दीक्षा प्राप्त करने पर अहंता एवं ममता से मुक्त होने के लिए प्रभु के चरणारविन्द का आश्रय ले भगवद् सेवा में प्रवृत्त होता है। भगवत्सेवा से अहंता, ममता नष्ट होने पर उसे प्रभु की पुष्टि प्राप्त हो जाती है। पुष्टि से अनेक लौकिक एवं अलौकिक फल उत्पन्न होते हैं। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की सिद्धि तो प्रभु की सामान्य पुष्टि से ही हो जाती है किन्तु बलवान प्रतिबन्धक की निवृत्ति एवं स्वरूप-प्राप्ति प्रभु की विशिष्ट पुष्टि से होती है। सामान्य अनुग्रह से मर्यादा भक्ति का उदय होता है। पुष्टि भक्त के लिए मोक्ष भी तुच्छ है, क्योंकि वह अहर्निश

भगवद् सायुज्य को प्राप्त कर उनकी रूप माधुरी एवं लीला रस का आस्वादन करता रहता है। पुष्टि भी प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि-पुष्टि एवं शुद्ध पुष्टि के भेद से चार प्रकार की होती है। विशुद्ध पुष्टि भक्ति प्राप्त करना ही पुष्टि मार्ग का चरम लक्ष्य है।

मुक्ति—शुद्धाद्वैत मत में मुक्ति भी दो प्रकार की मानी जाती है—

1. सगुणा मुक्ति—श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य सभी देवता सगुण हैं। उनकी उपासना से उन्हीं देवताओं के साथ सायुज्य प्राप्त होता है, यही सगुणा मुक्ति है।

2. निर्गुणा मुक्ति—श्रीकृष्ण ही पूर्ण परब्रह्म, सच्चिदानन्द हैं त्रिगुणातीत चिन्मय एवं अप्राकृत हैं, उनकी भाव पूर्ण सेवा एवं प्रेम भक्ति से ही उनका सायुज्य प्राप्त होता है, यही निर्गुणा मुक्ति है।

ज्ञान मार्ग में निर्गुणा मुक्ति नहीं होती। अक्षर ब्रह्म गुणानुरोधी एवं निर्गुण है। श्रवणादि से अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार करना ही ज्ञान मार्ग है। ज्ञान मार्ग की मुक्ति कैवल्य अथवा जीवन्मुक्ति है। कैवल्य सात्विक ज्ञान है, वैराग्य मूलक है। ज्ञानी वैराग्य युक्त होकर ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रवृत्ति मात्र सगुण भाव का सूचक है अतः जीवन्मुक्ति भी सगुण है। ब्रह्म भाव प्राप्त होने के बाद भी भक्ति का उदय होता है तथा भक्ति के बल पर गुणातीत श्रीकृष्ण से सायुज्य होता है, यही निर्गुणा मुक्ति है। प्रभु की अकारण कृपा के अभाव में भक्ति का उदय नहीं होता और जीव को अपने पुरुषार्थ द्वारा अर्जित ज्ञान एवं वैराग्य के कारण जीवन्मुक्त होकर ही रहना पड़ता है। वस्तुतः मुक्ति लाभ में भी भगवान की इच्छा ही सर्वोपरि है। वे ही किसी को ब्रह्म भाव प्रदान कर उसे जीवन्मुक्ति देते हैं तथा किसी पर विशेष कृपा कर अपना निज जन बना अपना सायुज्य प्रदान करते हैं।

पुष्टि मार्ग के आलम्बन—पुष्टि मार्ग में भगवान श्रीकृष्ण के ही श्री-विग्रह प्रभु श्रीनाथजी को सेव्य माना जाता है। श्रीनाथजी को साक्षात् श्रीकृष्ण मानकर ही उनकी विधि-विधान से विशिष्ट-सेवा-पद्धति से सेवा एवं परिचर्या की जाती है। श्रीनाथजी के अन्य स्वरूपों के प्रति भी स्नेह एवं सेवाभाव रखकर उनकी सेवा की जाती है। प्रत्येक पुष्टि मार्गी अपने घर में भी बाल मुकुन्द का पुष्ट स्वरूप रखकर पुष्टिमार्गीय-पद्धति से स्नेह, दुलार से उनकी सेवा करता है। पुष्टिमार्ग में श्री गिरिराज गोवर्द्धन,

यमुना, महाप्रभुजी एवं गुसाईं जी का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्हें भी श्रीनाथजी की तरह ही सेव्य स्वरूप ही माना जाता है। श्रृंगार, राग एवं भोग का पुष्टि मार्गीय सेवा में नियोजन कर देने से पुष्टि मार्गीय सेवा-पद्धति अन्य सेवा पद्धतियों से सर्वथा विलक्षण एवं आकर्षक बन गई है।

विभिन्न दार्शनिक धाराओं की समालोचना एवं शुद्धाद्वैत-दर्शन तथा पुष्टिमार्ग की विशिष्टता

समालोचना के लिए तटस्थता एवं पूर्वाग्रह रहित बुद्धि का होना अपेक्षित है। विभिन्न दार्शनिक धाराओं का गहराई से अध्ययन करने पर यह बात पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है कि एक ही सत्य को विद्वान चिन्तक भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से व्याख्यायित करते हैं। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान में योग देने के साथ ही आचार्य शंकर ने अद्वैत सिद्धान्त को भी सुदृढ़ तार्किक आधार प्रदान किया है। आचार्य शंकर ब्रह्म को निर्विशेष मानते हैं किन्तु अन्य सभी आचार्यों ने ब्रह्म को सविशेष ही माना है। रामानुज के अनुसार तो ब्रह्म किसी भी अवस्था में विशिष्टता रहित नहीं होता। महाप्रभु वल्लभ ने ब्रह्म को सच्चिदानन्द बताते हुए उसे सर्वधर्म विशिष्ट एवं विरुद्धाश्रय कहा है। इस दृष्टि से निर्विशेषता एवं सविशेषता दोनों ही उसका स्वरूप हो सकती है। सविशेष ब्रह्म को मायावच्छिन्न चैतन्य की संज्ञा देकर उसकी व्यावहारिक सत्ता मात्र ही स्वीकार करना भी भक्ति विरोधी है। ब्रह्म की भाँति आत्मा व जीव को विभु मानना भी असंगत है। माया को अनिर्वचनीय कहना, जगत् को मिथ्या बताना भी असंगत है, इसीलिए परवर्ती वैष्णव आचार्यों ने मायावाद का खंडन करते हुए जगत् को सत्य बताया है। अद्वैत मत में जीव को एक बताते हुए उसमें देहादि उपाधियों द्वारा नानात्व बताना भी अनुभव सिद्ध नहीं है। शंकर ने ही जीव को विभु बताया है, अन्य सभी वैष्णव आचार्य जीव को अणु रूप में ही स्वीकार करते हैं। शुद्धाद्वैत मत से आनन्दांश के आविर्भाव होने पर जीव में विभुत्व का आना बताया है जिसे तर्कसंगत कहा जा सकता है। आचार्य शंकर ने विवर्त वाद द्वारा रज्जु एवं सर्प का उदाहरण देते हुए ब्रह्म में जगत की प्रतीति को समझाने का प्रयत्न किया हैं किन्तु सत्कार्य वाद एवं अविकृत परिणाम वाद ही जगत की नित्य सत्ता को प्रमाणित करने में पूर्णतः सफल रहे हैं। अधिकारी निर्णय के अनुसार कतिपय विशिष्ट

अधिकारी ही अद्वैत चिन्तन के पात्र हैं जबकि अन्य सभी भक्ति-मार्गों का द्वार सभी के लिए समान भाव से खुला हुआ है। महाप्रभु वल्लभ ने तो सभी आचार्यों से आगे बढ़कर निस्साधनता को ही प्रभु अनुग्रह प्राप्त करने की योग्यता बताई है। रामानुज के अनुसार ईश्वर चित्-अचित्, विशिष्ट है तथा अन्तर्यामी अचित् विशिष्ट जीव देह धारी ब्रह्म है। इन दोनों विशिष्टों में ''विशिष्टयोरेक्यम्'' कह कर एकता का प्रतिपादन किया है। शुद्ध सत्व की कल्पना रामानुज दर्शन की अपनी विशेषता है। रामानुज जगत को विशेषण एवं ईश्वर को विशेष्य मानते हैं, इससे ईश्वर में भी जागतिक दोषों का आरोपण होता है। वस्तुतः रामानुज का सिद्धान्त परस्पर विरोधी है और इसका परिहार तभी सम्भव है जब अचित् को ईश्वर का आभ्यन्तर स्वरूप न मानकर बाह्य रूप ही माना जावे। अचित् को ईश्वर का आन्तरिक अंश मानना एवं साथ ही ईश्वर में परिणाम नहीं मानना ऐसा विरोधाभास है जो रामानुज सिद्धान्त को दुर्बल बनाता है। ज्ञानकर्म-समुच्चय पर जोर देना, प्रपत्ति की महिमा बताना एवं शुद्ध सत्व का विराट वैभव बताना रामानुज मत की अपनी विशेषता है।

मध्वाचार्य ने भेद को नित्य प्रमाणित करते हुए अभेद को बन्धन का कारण बताया है। वस्तुतः उन्होंने अपने द्वैत सिद्धान्त को सब प्रकार की अद्वैत गन्ध से मुक्त करने का प्रयास किया है। उनका द्वैत सिद्धान्त शंकर के अद्वैत की प्रतिक्रिया है। यह अद्वैत सिद्धान्त के ठीक विपरीत है। मध्व सिद्धान्त में पंच विध भेद का बोध अनुभव सिद्ध है। शक्ति एवं शक्तिमान में भी भेद मानकर बहुजन मान्य सिद्धान्त को भी नकार दिया गया है। नित्य संसारी जीवों को मध्यम मनुष्य मानते हुए उन्हें मुक्ति का पात्र न मानना दर्शन की दृष्टि से चिन्तन की दुर्बलता है। पदार्थ, द्रव्य, शक्ति, अविद्या आदि के विवेचन में मौलिकता एवं नूतनता है। मुक्तावस्था में आनन्द के तारतम्य से भेद बने रहना भी नूतन उद्भावना है जिसका प्रतिपादन अन्यत्र नहीं मिलता। रुद्रादिक के कर्म को निषिद्ध एवं ब्रह्मा, रुद्रादिक के कर्म को अनित्य बताना श्रुति सम्मत नहीं है। शुद्धाद्वैत में ब्रह्मा एवं रुद्र को भी कृष्ण का गुणावतार मानकर श्रुति परम्परा का पूर्ण निर्वाह किया गया है।

जीव को ईश्वर की शक्ति के रूप में स्वीकार करना निम्बार्क मत की अपनी विशेषता है। निम्बार्क के अनुसार अंश का अर्थ शक्ति है। प्रभु की

इच्छा से जीव में कर्तृत्व उत्पन्न होने की बात स्वीकार करने योग्य है। जीव का कर्ता और भोक्ता होना भी अनुभव से सिद्ध होता ही है तथापि मुक्तावस्था में भी उसके कर्तापन का अक्षुण्ण रहना संदिग्ध सा प्रतीत होता है। इस अवस्था में प्रायः सभी क्रियाएँ भगवत्प्रेरित ही हो सकती हैं। जीव को अणु मानते हुए उसे व्यापक गुण लक्षण वाला मानना भी निम्बार्क मत का निजी वैशिष्ट्य है किन्तु वल्लभ मत के अनुसार आनन्दांश के आविर्भूत होने से जीव के अणुत्व में विभुत्व का संचार होना अधिक युक्ति युक्त कहा जा सकता है। आत्मानन्द एवं भगवद् भाव के परमानन्द का अन्तर बताकर भक्ति मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन भी निम्बार्क ने किया है। श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य मय एवं मधुर दोनों स्वरूपों को भक्ति का आलम्बन मान कर मर्यादा भक्ति एवं रागानुगा दोनों प्रकार की भक्ति का अपने सम्प्रदाय में समावेश किया है। अन्य वैष्णव आचार्यों की तरह निम्बार्क ने भी शरणागति को ही भक्ति का मुख्य साधन माना है। रामानुज एवं मध्व में भगवान की लीला का विशद विवेचन नहीं है। निम्बार्क सम्प्रदाय में भगवान के लीला बिहारी रूप एवं उनकी मधुर लीलाओं को विशेष महत्त्व दिया जाता है। श्रीराधा को गुरु स्थानीय मानकर श्रीकृष्ण से भी अधिक महत्त्व देना भक्ति को ही महिमान्वित करना है। वल्लभ सम्प्रदाय में भी वल्लभाचार्य को ही स्वामिनीजी का स्वरूप माना जाता है। चैतन्य सम्प्रदाय में माधुर्य भक्ति की प्रधानता है। इस मत में नाम संकीर्तन को भक्ति का श्रेष्ठ साधन माना गया है। महाप्रभु वल्लभ ने भी अपने सम्प्रदाय में विप्रयोग रसात्मिका भक्ति का सन्निवेश कर भक्ति को सर्वांगपूर्ण बनाया है।

शंकर प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्त में शक्ति का स्थान न होने से जगत् भी मिथ्या के रूप में निरूपित हुआ है। माया को वैचारिक दृष्टि से अनिर्वचनीय बताकर शंकर ने प्रकारान्तर से मायावाद का ही मण्डन किया है। 'महाप्रभु वल्लभ ने सच्चिदानन्द अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप लक्षण से ही अपने सम्पूर्ण दर्शन का विवेचन कर दिया है।" सत् अंश से जड़ प्रकृति, जगत्, चित् अंश से जीव एवं आनन्द से ब्रह्म के विविध रूपों को व्याख्यायित करना विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है। भक्ति मार्ग में शक्ति को स्वीकार करना आवश्यक है। शक्ति को विशुद्ध रूप में स्वीकार न करने पर जीव, जगत्, ईश्वर सभी अज्ञान कल्पित से लगते हैं। शक्ति ग्रहण

मूलक है इसीलिए पाँच रात्र के अद्वैत वाद में शक्ति एवं शक्तिमान का समन्वय किया गया है। यद्यपि समस्त वैष्णव दर्शनों ने पाँच रात्र एवं भागवत मत का समन्वय किया है तथापि शुद्धाद्वैत पर भागवत का प्रभाव सर्वाधिक है। महाप्रभु वल्लभ ने पुष्टि सिद्धान्त भी भागवत से ही खोज कर निकाला है। शुद्धाद्वैत मत में उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्म सूत्र के साथ ही भागवत को भी प्रमाण कोटि में माना जाता है। महाप्रभु वल्लभ ने जगत् की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए संसार से उसकी भिन्नता बताई है। शंकर ज्ञान को मुक्ति का साधन मानते हैं। रामानुज एवं मध्व भक्ति तथा उपासना में भेद नहीं मानते। रामानुज प्रपत्ति को, निम्बार्क शरणागति को एवं चैतन्य तथा वल्लभ सर्वात्मना समर्पण पर अधिक जोर देते हैं। शंकर के अलावा जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त कोई नहीं मानता।

निष्कर्ष—समस्त दार्शनिक विचारधाराओं में ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, आत्मा, ईश्वर, बन्धन, मोक्ष एवं साधन मार्ग को लेकर कुछ साम्य एवं कुछ वैषम्य दिखाई देता है। अपनी-अपनी विशिष्टता के कारण सभी दर्शनों की उपादेयता असंदिग्ध है तथापि अपनी विलक्षणता के कारण पुष्टि मार्ग एवं शुद्धाद्वैत दर्शन सर्वाधिक उपादेय, व्यावहारिक एवं ग्राह्य है। ''सच्चिदानन्द की व्याख्या, सत्कार्यवाद, ब्रह्मवाद, आविर्भाव-तिरोभाव-सिद्धान्त, अविकृत-परिणामवाद, जगत् एवं संसार की भिन्नता का सिद्धान्त एवं लीलार्थ सृष्टिवाद की धारणा से युक्त होने से शुद्धाद्वैत दर्शन सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होता है।'' पुष्टि मार्ग में भी प्रभु के विग्रह स्वरूप श्रीनाथ को सेव्य मानना, तनुजा, मानसी एवं वित्तजा सेवा करना, ब्रह्म सम्बन्ध लेना, शरणागति एवं समर्पण द्वारा प्रभु को प्रसन्न करना, अहंता ममता का त्यागकर भगवदीय बनना, भगवान का विशेष अनुग्रह प्राप्त कर उनकी लीला में प्रवेश करना एवं प्रभु का सायुज्य प्राप्त करना आदि ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनका अनुपालन सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टि मार्ग अपनी इसी विलक्षणता के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय भी बना हुआ है। भगवान श्रीकृष्ण ही एक मात्र परब्रह्म है, उनकी कृपा प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। पुष्टि मार्ग भगवत्कृपा का ही अवतरण है, इसमें संशय नहीं। अहंता एवं ममता का त्याग कर पुष्टि पथ पर अग्रसर होने वाला ही भगवत्कृपा का अनुभव कर सकता है, प्रभु से प्रगाढ़ स्नेह कर लीला रस का आस्वादन कर सकता

है। उसे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत में भी प्रभु की रहस्यमयी लीला ही दिखाई देती है। वेदान्त की सभी धाराओं में वल्लभ वेदान्त ही समस्त धाराओं का सारभूत दर्शन है।

नोटः—यह आलेख प्रबुद्ध पाठकों की भावना के अनुरुप ही विभिन्न दार्शनिक धाराओं का सारांश प्रस्तुत करते हुए पुष्टि मार्ग एवं शुद्धाद्वैत दर्शन की विशिष्टता से पाठकों को परिचित कराने की दृष्टि से प्रकाशित किया जा रहा है। किसी भी दर्शन का खण्डन अथवा मण्डन करना इस आलेख का मन्तव्य न होकर शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टि मार्ग की विलक्षणता एवं वैशिष्ट्य बताना ही इस आलेख का एक मात्र प्रयोजन है।

श्री हरिराय महाप्रभु विरचित प्रथम शिक्षा-पत्र का पुष्टिमार्गीय विवेचन

शुद्धाद्वैत दर्शन के मर्मज्ञ आचार्यों में श्री हरिरायजी का अप्रतिम स्थान है। उनमें महाप्रभु श्रीमद् वल्लभाचार्य के समान ही उत्कृष्ट विप्रयोग रसात्मिका भक्ति, अद्वितीय-त्याग, स्वरूपानुभव की परमानंदमय स्थिति एवं दैन्य की उत्कृष्ट भावना होने के साथ ही दैवी जीवों के उद्धार के लिए अपार करुणा थी, इसीलिए उन्हें भी महाप्रभु के गरिमामय संबोधन से आज भी आदरपूर्वक स्मरण किया जाता है। महाप्रभु श्री हरिरायजी में गुसाईंजी श्री विट्ठलनाथजी के समान अपूर्व संगठन क्षमता, भगवद् सेवा में तत्परता एवं निपुणता तथा वैष्णवजन के प्रति आत्मीयता के कारण उन्हें महाप्रभु के साथ ही गुसांईजी की तरह प्रभु-चरण के नाम से भी स्मरण किया जाता है। श्री हरिरायजी में अपने दीक्षा गुरु गो. श्री गोकुलनाथजी के दिव्य गुणों का भी सहज समावेश हो जाने से, वे आचार-विचार एवं सेवा के मर्म से पूर्णतया परिचित थे, उनकी बुद्धि कुशाग्र एवं स्मरण शक्ति असाधारण थी। उन्होंने दैन्य एवं निस्साधनता को पूरा महत्त्व देते हुए मर्यादा के बाहरी आचारों के साथ ही दया, सत्य, अहिंसा, समदर्शिता आदि आभ्यन्तरिक धर्मों के अनुपालन पर भी पूरा बल दिया। अन्तर्मुखता पर पूरा बल देते हुए श्री हरिरायजी ने उन सभी आचरणों का निषेध किया जो चित्त को बहिर्मुखी बनाते हैं। श्री हरिरायजी ने जीवन में भाव का सर्वाधिक महत्त्व बताते हुए सदैव यही

समझाने एवं सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि पुष्टिमार्ग भावना-प्रधान है तथा प्रभु के भावनात्मक सम्बन्ध से प्रत्येक वस्तु एवं क्रिया भावात्मक हो जाती है।

महाप्रभु श्री हरिराय पुष्टिमार्ग के भावनात्मक स्वरूप के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता माने जाते हैं। उन्होंने विपुल ग्रंथों का प्रणयन किया है जिनकी संख्या 1000 तक मानी जाती है। इन ग्रंथों की अनेक श्रेणियां हैं। इनके द्वारा विरचित विपुल ग्रंथों में बड़े शिक्षा-पत्र का भी उल्लेखनीय स्थान है। इन शिक्षा-पत्रों के माध्यम से पुष्टिमार्ग के अनेक रहस्यों का सहज ही उद्घाटन हो जाता है। शिक्षा-पत्र में भी श्री हरिरायजी ने पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों पर प्रमेय दृष्टि से विचार कर इस मार्ग के गूढ़ रहस्य एवं मर्म का प्रकाशन कर दिया है। भगवान के स्वरूप बल पर ही सर्वाधिक आग्रह रखने वाली दृष्टि को प्रमेय दृष्टि कहा जाता है। शुद्धाद्वैत के सिद्धांतों को वेद अथवा अन्य प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयास प्रमाण दृष्टि है जो सर्वथा बहिरंग है। श्री पुरुषोत्तमजी ने इसी प्रमाण दृष्टि से पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों पर विचार किया है। महाप्रभु श्रीहरिराय की प्रमेय दृष्टि सर्वथा अंतरंग एवं भावात्मक रही है। शुद्धाद्वैत एवं पुष्टिमार्ग का अंतरंग पक्ष समझने के लिए श्री हरिरायजी के ग्रंथों का अनुशीलन अत्यावश्यक है। श्रीहरिरायजी ने शिक्षा-पत्रों के माध्यम से पुष्टिमार्ग के अंतरंग एवं भावात्मक पक्ष को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। श्री हरिराय जी ने 41 शिक्षा पत्र लिखकर पुष्टिमार्ग के आभ्यंतरिक पक्ष का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके प्रथम शिक्षा-पत्र में अंगीकृत जीवन की कर्तव्यता का निरूपण किया है। प्रस्तुत आलेख का प्रतिपाद्य इस शिक्षा-पत्र में निहित कतिपय पुष्टि सिद्धांतों को सारांश रूप में संकेतित करना है, जिससे पुष्टि पथ का पथिक संबल प्राप्त करते हुए निर्दिष्ट पथ की ओर अग्रसर हो सके।

पुष्टि भक्तों के मार्गदर्शन हेतु जिन सिद्धांतों का ज्ञान उपयोगी है, श्रीहरिरायजी के शिक्षा-पत्रों में उन सबका सहज समावेश है। व्यावहारिक जीवन में इन सिद्धांतों का ज्ञान एवं क्रियात्मक अनुसरण भगवद्-कृपा का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक है। प्रथम शिक्षा पत्र में जिन गूढ़ सिद्धांतों पर प्रकाश डाला गया है, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है–

1. पुष्टिमार्ग कृपा मार्ग है–पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के अनुसार जीव

अपनी अल्प सामर्थ्य से प्रभु को प्राप्त करने में अक्षम है। प्रभु स्वयं ही कृपा कर जीव का वरण करते हैं। वरण दो प्रकार से होता है। वरण का अर्थ स्वीकार करना है। (1) साक्षात् वरण—इसमें प्रभु स्वयं वरण करते हैं। लीला के लिए भक्तों का वरण प्रभु करते हैं।

(2) परम्परा से वरण—इसमें दूसरे के द्वारा वरण करते हैं। उन भक्तों का वरण जिनकी अंगीकृति महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा होती है।

श्रीहरिरायजी ने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा अंगीकृत कराए गए जीवों के कर्तव्यों का प्रथम शिक्षा-पत्र में निरूपण किया है। प्रभु द्वारा साक्षात् वरण आत्मीय-पन से एवं महाप्रभुजी द्वारा वरण दास पन से किया जाता है। दासपन में पुष्टि एवं मर्यादा भेद से दो प्रकार का वरण होता है। मर्यादापूर्वक वरण में साधन द्वारा फल प्राप्ति एवं पुष्टि पूर्वक वरण में भगवद् अनुग्रह द्वारा फल प्राप्ति होती है। आजकल वैष्णवों का वरण आचार्यजी द्वारा कृपापूर्वक मर्यादा पुष्टि में किया जाता है अतः श्रीमदाचार्य चरणों का आज्ञा पालन ही मर्यादा है। मर्यादा का पालन करने से ही ऐसे जीवों को अनुग्रह प्राप्त होता है।

2. अंगीकृत जीवों का समर्पण के पश्चात् सदैव प्रसन्न एवं निश्चिन्त रहना—श्रीमद् आचार्य चरण के दृढ़ आश्रय से श्रीकृष्ण का दृढ़ आश्रय स्वतः प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक अंगीकृत जीव को दृढ़ आश्रय ग्रहण करते हुए उनकी कृपा पर अटल विश्वास रखते हुए प्रसन्न एवं निश्चिन्त रहना है। किसी भी प्रकार की चिन्ता करना अथवा अप्रसन्न रहना दृढ़ आश्रय एवं प्रभु की कृपा पर अविश्वास का सूचक है।

3. सेवा में तन्मय होना एवं लौकिक तथा वैदिक फलों की आकांक्षा न रखना—अंगीकृत जीव को प्रभु सेवा में सदैव अपने मन को लगाए रखना हैं। यह तभी सम्भव है जब कि भावात्मक रूप से प्रभु को सेवा के समय अपने पास ही उपस्थित माना जावे एवं प्रभु की लीला सामग्री, प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक क्रिया को सेवा के समय भावात्मक बनाया जावे। लौकिक एवं वैदिक कर्मों के फलों की आकांक्षा भावात्मक स्वरूप एवं भावात्मक सेवा में बाधक है अतः इस आकांक्षा का दृढ़ता पूर्वक परित्याग आवश्यक है।

4. आवश्यक कार्यों का सम्पादन करते हुए भी चित्त को निरासक्त रखना—गृहस्थाश्रम में रहते हुए प्रायः अंगीकृत जीवों को भी आवश्यक

लौकिक एवं वैदिक कार्यों का सम्पादन करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में आवश्यक कार्य करते हुए भी अपने मन को निरासक्त एवं फलाकांक्षा से रहित रखना है। यदि मन में प्रभु के प्रति अहर्निश अनुराग की अभिवृद्धि होती रहे तो सभी लौकिक एवं वैदिक कार्य भी निरासक्ति पूर्वक यन्त्रवत् संपादित होते रहते हैं। लौकिक एवं वैदिक फलों को तुच्छ मानकर भगवत्सेवा को सर्वोपरि महत्त्व देने से भी इस समस्या का निराकरण हो जाता है।

5. दर्शन एवं सेवा में विघ्न उपस्थित होने पर खिन्नता एवं क्लेश का अनुभव करना—प्रायः अंगीकृत जीव भी लौकिक एवं वैदिक कर्मों का सुफल न मिलने पर अधीर एवं अशांत हो जाते हैं तथा चित्त में खिन्नता एवं क्लेश का अनुभव करते हैं। लौकिक लाभ-हानि पर दृष्टि रखने तथा अपनी स्वयं की कीर्ति, प्रतिष्ठा, महिमा एवं यश के प्रति आसक्ति रखने से भी क्लेश एवं खिन्नता का अनुभव होता है। इस स्थिति से बचने के लिए भगवद् दर्शन एवं भगवत्सेवा के प्रति दृढ़ आसक्ति रखना चाहिए। प्रभु के दर्शन एवं सेवा में विघ्न उपस्थित होने पर खिन्न होने का अभ्यास अहर्निश करना चाहिए।

6. प्रभु दर्शन के समय प्रसन्नता एवं अनोसर के समय वियोगार्ति का अनुभव करना—प्रभु के दर्शन के समय मन में खिन्नता एवं क्लेश रहने से प्रभु के भावात्मक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता। खिन्नता एवं क्लेश के आवरण के कारण चित्त प्रफुल्लित नहीं होता तथा उसमें स्नेहपूर्ण भावों का स्फुरण भी नहीं होता अतः दर्शन के समय खिन्नता एवं क्लेश को अपने चित्त में स्थान नहीं देना चाहिए। दर्शन करते समय जब कभी अनोसर का अवसर आता है तो उसी समय प्रभु के वियोग का अनुभव करते हुए आर्तभाव धारण करना चाहिए। इस प्रकार अनोसर के समय वियोगार्ति का अनुभव करते हुए प्रभु के मुखारविंद का मानसी ध्यान करना चाहिए।

7. वाणी का निग्रह एवं मुखरता दोष से बचना—भगवद् भाव को हृदय में स्थिर करने के लिए अंगीकृत जीवों को सदैव वाणी का निग्रह करना चाहिए। मुखरता दोष के कारण चित्त बहिर्मुख हो जाता है अतः भगवद् विषयक रति का तिरोभाव हो जाता है।

8. निरोध-युक्त चित्त से भगवत्सेवा करना एवं चित्त को भगवान की लीला में लगाए रखना—भगवत्सेवा का कार्य निरोधयुक्त चित्त से

करना आवश्यक है। प्रभु सेवा करते हुए मन में उत्पन्न होने वाले लौकिक विचार एवं चिन्तन को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। प्रभु में मन अहर्निश लगा रहता है तभी मन के रजोगुण की निवृत्ति अर्थात् मन की चंचलता का निवारण होता है। मन सदैव प्रभु में लगा रहे, इसके लिए मन को भगवान की नित्य लीला एवं उत्सव मनोरथ आदि की भावना से परिपूर्ण रखना चाहिए। अष्ट प्रहर लीला का अहर्निश चिन्तन एवं प्रभु सेवा में उपयोगी पदार्थों में भी प्रभु की लीला सामग्री का ही भाव रखना चाहिए।

9. प्रभु सेवा करते हुए मन में लौकिक आवेश अथवा उद्वेग को उत्पन्न न होने देना—मन के बहिर्मुख हो जाने पर प्रभु सेवा कार्य करते हुए भी लौकिक आवेश एवं उद्वेग उत्पन्न हो जाता है। लौकिक आवेश एवं उद्वेग सेवा के प्रतिबन्धक हैं। लौकिक आवेश एवं उद्वेग होने पर प्रभु के प्रति सेवा के उत्साह एवं उल्लास का अभाव हो जाता है एवं श्रद्धा का तिरोभाव हो जाता है अतः इस स्थिति से बचने के लिए मन, वाणी एवं क्रिया का निरोध करना आवश्यक है। सेवा-फल की सिद्धि भी इसी पर निर्भर है।

10. अनुकूल का ग्रहण एवं प्रतिकूल का परित्याग—भगवत्सेवा में प्रभु के अनुकूल सामग्री का ही नियोजन करना चाहिए। पुष्टिमार्ग की मर्यादा के अनुकूल रहते हुए प्रभु की सेवा स्वयं ही करनी चाहिए।

लौकिक सम्बन्धी एवं परिजन भी यदि प्रभु के प्रति स्नेह रखते हुए आवश्यक मर्यादा का पालन करते हों तो उनसे भी भगवत्सेवा में सहायता लेनी चाहिए। जिन परिजनों में भगवान के प्रति स्नेह, समर्पण एवं सेवा का भाव हो उन्हें भी प्रभु के ही सम्बन्धी मानकर उनके प्रति सद्भावपूर्ण व्यवहार करना उचित है। यदि परिजनों में प्रतिकूल भाव हों एवं वे भगवत्सेवा में भी सहायक न हों तो उनकी उपेक्षा की जा सकती है। यदि वे भगवत्मार्ग में अग्रसर होने में बाधा एवं व्यवधान उपस्थित करते हों तो उनका परित्याग कर देना भी अनुचित नहीं है।

11. निरासक्त रहते हुए धन का भगवत्सेवा में नियोजन करना—पुष्टिभक्त को धन में आसक्ति नहीं रखते हुए, हृदय में वैराग्य रखते हुए भी प्रभु की सेवा के लिए धन का रक्षण अवश्य करना चाहिए। धन का नियोजन प्रभु सेवा, मनोरथ एवं उत्सवादि में किया जा सकता है। धन को भगवत्सेवा में नियोजित करने से वित्तजा सेवा की सिद्धि होती है।

भगवत्सेवा की तरह ही धन का नियोजन गुरु-सेवा अथवा भगवदीय की सेवा के लिए भी अवश्य करना चाहिए, यही धन का सदुपयोग है। यदि पुष्टि भक्त अपने धन का नियोजन भगवत्सेवा, गुरु-सेवा अथवा भगवदीय की सेवा में नहीं करता हैं तो उसमें आसुरी आवेश होते रहने की प्रबल सम्भावना बनी रहती है। अपने स्वयं के लिए तथा अपने परिवार के लिए सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों में भी धन का व्यय इसी भाव से करना चाहिए कि यह धन प्रभु का है एवं दास होने के नाते प्रभु की आज्ञा से इन पर भी उचित व्यय किया जा सकता है।

12. भगवत्सन्मुख सेवा में संयोगात्मक लीला रस का अनुभव एवं अनोसर में दैन्य धारण करना–प्रभु सेवा करते समय अंगीकृत जीव प्रभु के सन्मुख होता है, अतः उसे इस समय प्रभु के संयोगात्मक लीला रस का अनुभव करना चाहिए। सेवा कार्य के साथ स्नेह भाव की प्रबलता होने पर ही ऐसा अनुभव किया जा सकता है। अनोसर के समय प्रभु वियोग का अनुभव करते हुए दैन्य भाव धारण करना चाहिए। अपने अपराधों पर विचार करते हुए स्वयं की अकिंचनता पर दृष्टि रखते हुए प्रभु को अपने प्रबल दैन्य से सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रभु सदैव दैन्य से प्रसन्न एवं तुष्ट होकर अंगीकृत शुद्ध जीव में अपने भावात्मक स्वरूप से प्रविष्ट हो जाते हैं। प्रेम एवं दैन्य के वशीभूत होकर जीव पर अनुग्रह कर अपने स्वरूप का अनुभव करा देते हैं।

13. अशुद्ध हृदय में प्रभु का आवेश सम्भव नहीं होता–महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य के अनुसार "विषयाक्रान्त देहानां नावेशः सर्वथा हरेः" अर्थात् विषयी जीवों में भगवद् भाव का स्फुरण एवं आवेश नहीं होता है। अतः हृदय के विशुद्ध होने तक प्रभु को राजा मानते हुए मन में भय रखना चाहिए। हृदय के विशुद्ध हो जाने पर भगवान स्वयं उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। हृदय के शुद्ध होने पर ही प्रभु की सर्वात्म-भाव से सेवा हो सकती है। सर्वात्मभाव से की गई सेवा से ही स्वरूपानन्द का अनुभव होता है।

14. दैवी एवं आसुरी भाव एवं पदार्थों के भेद ज्ञान से सुख दुख का निवारण करना–दैनिक जीवन में अनुभव में आने वाले सुख दुखों का कारण अपने पूर्व प्रारब्ध को मानते हुए उनसे चित्त हटाकर प्रभु के विशुद्ध स्वरूप में लगाना चाहिए। अहंता तथा ममता का आवरण नष्ट होते ही अपने एवं प्रभु के शुद्ध स्वरूप एवं सम्बन्ध का अनुभव हो जाता है।

प्रत्येक पुष्टि भक्त को दैवी एवं आसुरी भाव एवं पदार्थों के भेद का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि दैवी जीवों के देह, द्रव्य आदि का सहज ही भगवत्सेवा में नियोजन हो जाता है। आसुरी जीव भगवत्सेवा में रुचि नहीं ले पाते एवं न उनके देह द्रव्यादि का विनियोग ही भगवत्सेवा में हो पाता है। इस ज्ञान से पुष्टि भक्त के अज्ञान जनित सुख-दुख का सहज ही निवारण हो जाता है।

15. प्रभु के नित्य स्मरण में प्रमाद करने से आसुरी बुद्धि का प्रादुर्भाव होना—अंगीकृत पुष्टि भक्त के लिए प्रभु एवं गुरु का नित्य स्मरण आवश्यक है। इसमें प्रमाद करने से आसुरी बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। आसुरी बुद्धि हो जाने पर प्रभु प्रीति एवं दैन्य का अभाव हो जाता है एवं प्रभु सेवा करते हुए भी धन, प्रतिष्ठा एवं यश प्राप्ति की आकांक्षा बन जाती है तथा प्रभु सेवा भी अन्तरंग स्नेहाभाव के अभाव में प्रदर्शन मात्र रह जाती है।

16. पुष्टिमार्गीय सेवा संयोग एवं विप्रयोग रसात्मिका होने से अपूर्व एवं विलक्षण है—पुष्टिमार्गीय सेवा में संयोगावस्था के साथ ही स्वरूपानन्द का अनुभव होता है अतः इस अवस्था में संयोग के कीर्तन का एवं अनोसर के समय वियोगावस्था का अनुभव होता है अतः उस समय वेणु-गीत, युगल-गीत एवं गोपी-गीत आदि का गान करने से सम्बन्धित रस की अनुभूति होती है। रसात्मक विप्रयोग की अनुभूति पुष्टि भक्ति का परम फल है, जिसका अनुभव साक्षात् प्रभु अथवा महाप्रभुजी की कृपा से ही हो सकता है। इस रसानुभूति से लौकिक देह सम्बन्धी सभी भोग छूट जाते हैं तथा प्रेम लक्षणा भक्ति की प्राप्ति हो जाती है। ज्ञानी का सम्बन्ध केवल अक्षर ब्रह्म से होता है। रसात्मक प्रभु श्रीकृष्ण अनन्य भक्त जन के लिए अनुभव योग्य हैं, अतः ज्ञानी को प्रभु के रसात्मक स्वरूप का अनुभव नहीं होता। श्रीकृष्ण सेवा में रुचि एवं विप्रयोग रसात्मिका भक्ति का अनुभव महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य की कृपा से ही होता है। प्रभु के स्वरूप का अनुभव हो जाने पर पुष्टि भक्त को यह समस्त जगत् लीलामय दिखाई पड़ता है, उसमें किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष अथवा ईर्ष्या का भाव नहीं रह जाता।

17. पुष्टि भक्ति में साधन और साध्य दोनों ही श्रीकृष्ण ही हैं—श्रीकृष्ण सेवा ही साधन एवं श्रीकृष्ण सेवा ही साधन रूप सेवा का

चरम फल है।

18. आचार्य का दृढ़ आश्रय ही पुष्टि भक्त का परम धर्म है—मन, वचन एवं कर्म से महाप्रभु श्रीमदवल्लभाचार्य के चरणारविंदों का दृढ़ आश्रय लेने से श्रीकृष्ण के प्रति अनन्यता का भाव पैदा होता है। अनन्य भाव से सम्पन्न की गई प्रभु सेवा से महाप्रभु श्रीमद्वल्लभ की कृपा प्राप्त होती है अतः महाप्रभुजी का दृढ़ आश्रय ग्रहण करना ही पुष्टि भक्त का परम धर्म है।

19. भगवदीयों का सत्संग प्रभु का अनुग्रह प्राप्त कराने में सहायक है—भगवान श्रीकृष्ण एवं महाप्रभुजी जिस पर प्रसन्न हैं, वही भगवदीय है। भगवदीय के हृदय में प्रभु एवं गुरु का सदैव निवास होता है इसीलिए भगवदीय के संग से भगवत्कृपा की सहज प्राप्ति हो जाती है। भगवदीय के संग के बिना भगवान नहीं मिलते और न भगवत्प्रेम में अभिवृद्धि होती है। भगवदीय के प्रति अपने गुरु एवं भगवान जैसा ही विशेष भाव रखना चाहिए। अपने द्रव्य एवं साधनों का विनियोग भगवदीय के लिए भी किया जाना चाहिए, क्योंकि इससे प्रभु प्रसन्न होते हैं। भगवत्सेवा के भाव से ही भगवदीय की भी सेवा करनी चाहिए, क्योंकि प्रभु अपनी सेवा से भी अधिक अपने भक्त की सेवा से सन्तुष्ट एवं प्रसन्न होते हैं। श्रीकृष्ण सेवा, गुरु सेवा एवं भगवदीय सेवा शुद्ध भाव से करने पर पुष्टि भक्त अहंता एवं ममता का इनमें विनियोग कर स्वयं भी भगवदीय बन जाता है।

20. पुष्टि भक्ति में भगवदीयों के 9 गुणों का उल्लेख किया गया है—1. दृढ़ आश्रय, 2. अन्याश्रय रहित 3. भक्ति की अनन्यता 4. परम संतोष 5. काम-लोभादि मनोविकारों से रहित 6. निरपेक्ष 7. विरक्त 8. प्राणी मात्र का शुभेच्छु एवं 9. श्रीकृष्ण प्रेम में आकण्ठ निमग्न।

इन लक्षणों के आधार पर भगवदीय की पहचान कर उससे सत्संग करते रहना चाहिए। भगवदीय के साथ सत्संग करते हुए उससे धन, यश एवं व्यवहार की अपेक्षा भी नहीं रखनी चाहिए। महाप्रभु श्रीहरिराय विरचित प्रथम शिक्षा पत्र के आधार पर आचार्य परम्परा से अंगीकृत पुष्टि भक्त जन के लिए कर्तव्य सूत्रों का पुष्टि मार्ग के आलोक में निरूपण किया गया है। आशा है अंगीकृत पुष्टि जीव इनका अनुपालन कर महाप्रभु के निर्देशों का अनुसरण करेंगे।

यशोदोत्संग-ललित श्रीकृष्ण के रमणीयरसात्मक बाल-स्वरूप एवं बाल-सुलभ लीलाओं के अनुचिन्तन से निरोध-सिद्धि

"जानीत परमं तत्वं यशोदोत्संग लालितम्।
तदन्यदिति ये प्राहु रासुरांस्तान हो बुधाः ॥"

गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथजी ने यशोदोत्संग लालित श्रीकृष्ण को ही परम तत्त्व माना है। उनके अनुसार प्रभु के इस रसात्मक स्वरूप के अतिरिक्त भी यदि किसी अन्य को परम तत्त्व कोई मानते हैं तो वे असुर अथवा आसुरी जीव ही हैं। यशोदोत्संग-लालित श्रीकृष्ण ही सर्वलीला एवं सर्ववस्तु के कारण रूप हैं। यह श्रीकृष्ण का रमणीय बाल स्वरूप है जो भावात्मक ही नहीं अपितु पूर्णतः रसात्मक है। महाप्रभुजी की कृपा से ही यह स्वरूप भक्तजन के हृदय में आरूढ़ हो पाता है। **"रसो वै सः"** कहकर श्रुतियों में इसी विशुद्ध परब्रह्म का संकेत दिया गया है। वसुदेव-देवकी के यहाँ मथुरा के कारागार में प्रभु के जिस स्वरूप का प्राकट्य हुआ है, वह रसात्मक नहीं है। इस स्वरुप का प्राकट्य भूमि-भार-हरण, धर्म-संस्थापन, आर्त-जन परित्राण एवं मोक्षदानादि अनेक इतर कार्यों को सम्पन्न करने के लिए हुआ है। श्री कृष्ण का इस प्रकार का प्राकट्य अंशावतार के रूप में प्रत्येक कल्प के द्वापर युग में होता ही है किन्तु सारस्वत कल्प में ही द्वापर युग में पूर्ण पुरुषोत्तम के यशोदोत्संग लालित स्वरूप में प्रभु का प्राकट्य होता है। वेद की ऋचाएँ भी श्रुति स्वरूपा गोपियों के रूप में वरदान के कारण इसी कल्प में प्रभु के साथ ही प्रकट होती हैं। सारस्वत कल्प में प्रकट होने वाले यशोदोत्संग-लालित प्रभु श्रीकृष्ण का विशुद्ध एवं रसात्मक स्वरूप ही पुष्टि मार्ग में सेव्य माना जाता है।

श्रीहरिरायजी महाप्रभु ने अपने बड़े शिक्षा-पत्र में इन्हीं यशोदोत्संग-लालित मंगलमय प्रभु के रमणीय रसात्मक बाल-स्वरूप का अनुचिन्तन एवं उनकी लीलाओं का अपने हृदय में ध्यान निरोध सिद्धि के लिए आवश्यक बताया है। श्रीहरिराय महाप्रभु द्वारा निर्दिष्ट प्रभु के भावात्मक स्वरूप का ध्यान इस प्रकार है। (बालकृष्ण के सर्वांग (नखशिख)

श्रृंगार का निरुपण)।

1. यशोदा की गोद में विराजमान (यशोदोत्संग लालित)—यशोदाजी की मंगलमयी गोद में बालकृष्ण (लालन) मोदमयी मुद्रा में विराजमान हैं। यशोदाजी उन्हें स्नेह वश बार-बार पुचकार रही हैं। श्री ठाकुरजी के बिखरे हुए घुँघराले बालों को सँवार कर यशोदाजी उनकी वेणी गूँथ रही हैं। यशोदाजी के साथ ही स्वामिनीजी, श्रुति-रूपा चन्द्रावलीजी एवं कुमारिकाएँ (गोपियाँ) भी बाल सुलभ स्वरूप में ठाकुरजी के वेणी गूँथने का लोभ संवरण नहीं कर पा रही हैं। ठाकुरजी के हठ करने पर यशोदाजी स्वामिनीजी को भी अपनी गोद में बिठाकर ठाकुरजी के साथ उनकी भी वेणी गूँथ रही हैं। वेणी गूँथ लेने के बाद यशोदाजी ठाकुरजी के सुन्दर भाल पर मोती की लड़ का श्रृंगार करा रही है। ठाकुरजी के सुन्दर भाल पर मोतियों की लड़ नील-कमल पर जल बिन्दुओं अथवा श्याम-चन्द्रमा पर ताराओं की पंक्ति के समान सुशोभित हो रही हैं। शीतल मन्द सुगन्धित वायु से रह-रहकर हिलने वाली ठाकुरजी की अलकें मुख-कमल पर छोटे-छोटे भ्रमरों अथवा मुख-चन्द्र पर छोटे-छोटे सर्पशिशुओं के समान शोभित हो रही हैं यह देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो भ्रमर एवं सर्पशिशु मुख-कमल का रस-पान करने के लिए एकत्रित हो गये हों।

2. मोतियों की लड़ियों एवं कस्तूरी तिलक की अनुपम शोभा (भाल-सौन्दर्य)—बालकृष्ण के भाल के मध्यभाग से लेकर दोनों कानों तक मोतियों की लड़ों का एवं भाल के मध्य भाग पर सुन्दर कस्तूरी तिलक सुशोभित है। भाल पर मोतियों की लड़ें श्याम मेघ में बगुलों की दो पंक्तियों के समान सुन्दर लग रही हैं। स्वतः सिद्ध कस्तूरी का तिलक चन्द्रावलीजी ने अपने भाव से एवं सुवर्ण का आभूषण स्वामिनीजी ने अपने भाव से धराया है। वस्तुतः श्रीठाकुरजी के श्रृंगार के सभी आभूषण भावात्मक हैं।

3. कपोलों पर चित्रित कमल-पत्र एवं कर्ण द्वय में शोभित कुण्डलों से ठाकुरजी के श्रीअंगों को शोभा में अभिवृद्धि-(मुखारविन्द सौंदर्य)—बालकृष्ण के दोनों कपोलों पर केसर के अंगराग से अंकित दोनों ओर के कमल-पत्र स्वामिनीजी के मनोरथ के सूचक हैं। स्वामिनीजी का श्री अंग केसर जैसा है अतः केसर से चित्रित कमल-पत्र का यह भाव है कि उनके श्री अंग ठाकुरजी की शोभा के लिए है तथा वे उनसे सर्वथा

अभिन्न हैं। इसमें स्वामिनीजी द्वारा ठाकुरजी को वरण कर लिए जाने का भी संकेत छिपा है। दोनों कानों में पहने जाने वाले मकराकृति एवं मयूराकृति कुण्डलों में क्रमशः स्वकीय एवं परकीय भक्त जन के भाव-मनोरथ छिपे हुए हैं। ठाकुरजी के गण्डस्थलों पर झलकने वाली इन कुण्डलों की अनुपम कान्ति कोटि कन्दर्प की छवि का हरण करने वाली तथा नीलमणि की कान्ति को भी लजाने वाली है।

4. चिबुक मध्य में हीरा, नेत्र में अंजन तथा भ्रुव पर मषी-बिन्दु से ठाकुरजी का सौंदर्य रसात्मक हो उठा है। (मुखारविन्द सौंदर्य)—ठाकुरजी के चिबुक के मध्य में हीरा सुशोभित है उनके चंचल नेत्रों में अंजन लगा हुआ है तथा नेत्र प्रान्त के पास भौंह पर मषी-बिन्दु है जिससे उनके मुखारविन्द का सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है। स्वामिनीजी द्वारा ठाकुरजी का अधरा-मृत पान करते समय जो रस स्रवित होता है और चन्द्रावलीजी जिसका आस्वादन करती है वही चिबुक के मध्य में हीरे के रूप में दिखाई देता हुआ भक्त जन में रसोन्मेष कर रहा है। ठाकुरजी के अंजन से युक्त नयन-कटाक्ष चंचल होने से सभी दिशाओं के भक्त जन पर पड़ते हैं जिससे वे मुग्ध होकर अपने गृहादिक का लौकिक कार्य भी भूल जाते हैं। ठाकुरजी के ये अरुण और चपल नेत्र धूर्णायमान हैं तथा अनन्त भावों से भरे हैं। ठाकुरजी अपने इन नेत्रों द्वारा ही भक्त जन को रसपान कराते रहते हैं। ठाकुरजी की भौंह पर लगा हुआ मषी-बिन्दु (काजल का टीका) अनिष्ट निवारण के लिए है जिसे यशोदाजी ने इस भाव से लगाया है कि बालकृष्ण के सौन्दर्य पर किसी की नजर न लगे।

5. अधरों की लार से वात्सल्य भक्तों एवं वेणु नाद से सख्य एवं माधुर्य भाव पूरित भक्त जन को अधरामृत का पान कराने हेतु ठाकुरजी तत्पर हैं। (अधरामृत माहात्म्य)—ठाकुरजी का बाल-स्वरूप मनोहारी एवं रसात्मक है। यशोदाजी मुख का चुम्बन लेते समय मुख से टपकती लार का अधरामृत के रूप में पान कर रही हैं। नन्दरायजी एवं वृद्ध गोपियाँ भी वात्सल्य भाव से पूरित हो इसी तरह अधरामृत प्राप्त करने का अवसर प्राप्त कर रही हैं। ठाकुरजी के सखा भी जो सख्य भाव से पूरित हैं ग्वाल मण्डली में ठाकुरजी का जूठा खाकर अधरामृत का आस्वादन कर रहे हैं। ठाकुरजी के वेणुनाद से प्रवाहित अधरामृत का रस स्वामिनी जी एवं अन्य सभी गोपीजन को अधरामृत का पान अप्रत्यक्ष रूप

से करा ही देता है। यही नहीं वेणुनाद द्वारा पशु-पक्षी तक सम्मोहित हो रहे हैं। स्वामिनीजी अधरामृत पान करने का अवसर प्राप्त करने के लिए ही बार-बार यशोदाजी से माँग कर ठाकुरजी को खिलाने के बहाने एकान्त में ले जाती हैं और अधरामृत का पान करती हैं। इस प्रकार ठाकुरजी सभी पुष्टिभक्तों को अधरामृत पान का अवसर देकर उनके मनोरथ पूर्ण करते रहते हैं। अधरामृत पान किये बिना कोई भी भक्त पुष्टि लीला में ठाकुरजी को अंगीकार नहीं होता।

6. अपने श्री हस्तों से चरण कमलों के अंगुष्ठ मुखारबिन्द में प्रवेश कराने की ठाकुरजी की बाल-सुलभ-क्रिया में भक्त जन को अधरामृत पान कराने का गूढ़ अभिप्राय ही निहित है। (अधरामृत-माहात्म्य)—सुन्दर पालने में पोढ़े हुए ठाकुरजी अपने बाल सुलभ स्वभाव का परिचय देते हुए अपने दोनों श्री हस्तों से चरण कमलों के अंगुष्ठ को पकड़-पकड़ कर बार-बार अपने मुँह में प्रवेश करा रहे हैं। ठाकुरजी यह जानते हैं कि उनके चरण कमलों में कोटि-कोटि आर्त भक्तजन अपना चित्त लगाये हुए हैं अतः हृदय का ताप दूर करने हेतु अँगूठा चूसने के बहाने उन्हें अधरामृत का पान करा रहे हैं। अँगूठा मुँह में रखने और बाहर निकालने की इस क्रिया में मधुर रस का आस्वादन करने वाले भक्त जन के साथ रमण का भाव भी निहित है। अपने ही चरणारविन्द के उस मधुर रस को जिसे भक्त जन अहर्निश आस्वादन करने हेतु लालायित रहते हैं, उसका स्वयं भी आस्वादन करने का भाव भी इसमें निहित है। इस प्रकार ठाकुरजी जिस भक्त का जैसा अधिकार है, उसी को ध्यान में रखते हुए सभी भक्त जन को अधरामृत का पान किसी न किसी निमित्त से करा रहे हैं।

7. ठाकुरजी के श्रीकण्ठ में सुशोभित मोतियों की एवं उस पर धारण की हुई सुवर्ण मणि माला प्रभु का अपने भक्त-जन के प्रति वात्सल्य सूचित कर रही है।(प्रभु की भक्ति-वत्सलता)—मोतियों की माला एवं सुवर्ण माला से ठाकुरजी की ग्रीवा परम शोभायमान हो रही है। जिसके प्रति अत्यधिक स्नेह होता है उसी को कंठ से लगाया जाता है। भगवान को भक्त सर्वाधिक प्रिय हैं। सुवर्ण के मनकों के रूप में भगवान ने अपने सभी प्रिय भक्तों को अपने श्रीकण्ठ में धारण कर रखा है। मुक्ता एवं सुवर्ण की मालाएँ भावात्मक हैं जिन्हें प्रभु ने भक्तजन के भाव से अपने



कण्ठ में धारण कर रखा है।

8. वक्षःस्थल पर वक्र व्याघ्र-नख एवं उदर प्रदेश से ऊपर झूलती मोतियों एवं सुवर्ण की माला से सुशोभित वक्षःस्थल भक्त जन के निगूढ़ भाव एवं लीला-विहार का सूचक है। (अन्तरंग भक्तों के साथ नित्य लीला-विहार)—ठाकुरजी के वक्षस्थल पर व्याघ्र-नख के उपर झूलती हुई मोतियों एवं सुवर्ण की मालाएँ ठाकुरजी ने क्रमशः चन्द्रावलीजी एवं स्वामिनीजी के भाव से धारण कर रखी हैं। ठाकुरजी के वक्षःस्थल पर माता यशोदाजी ने अपनी ममता के कारण पुत्र की रक्षार्थ एक टेढ़ा व्याघ्र नख धारण करा रखा है जो आभूषण के समान शोभित है। टेढ़ा व्याघ्र नख धारण कर ठाकुरजी यह जता रहे हैं कि जिन भक्तों के हृदय टेढ़े हैं, उनके लिए मैं भी त्रिभंगी छवि धारण कर टेढ़ा बघनखा धारण करता हूँ ताकि उनके हृदयों को अपने स्नेह से सरल बना सकूँ। सरल चित्त वाले भक्त ही ठाकुरजी के अन्तरंग बनते हैं और उनके हृदय में प्रवेश पाकर निर्भयता पूर्वक नित्य लीला विहार करते हैं। यह बघनखा नृसिंह का स्वरूप है जो ठाकुरजी के हृदय प्रदेश अर्थात् लीला के सिंह द्वार पर शोभित हो अनुकूल भक्तजन को लीला प्रवेश कराता है एवं जो भक्त प्रतिकूल अथवा प्रभु को अंगीकृत नहीं है, उन्हें लीला में प्रवेश नहीं करने देता। पोरी पर सिंह की भाँति यह वक्र व्याघ्र नख पुष्टि लीला के भगवद्-धर्म को भी व्यक्त कर रहा है। बघनखा यह भी संकेत देता है कि रास-लीला में नखदान द्वारा भी पुष्टि प्रदान की जाती है।

9. ठाकुरजी की दोनों कलाइयों में कंकण एवं बाहुओं में रत्न जटित बाजू बन्धों से उनकी दोनों भुजाएँ परम शोभित हैं। (भुजाओं के भावात्मक आभरण)—ठाकुरजी की दोनों सुन्दर बाहुओं के मध्य-भाग में रत्नजटित रेशमी फुन्दों वाले बाजूबन्द सुशोभित हो रहे हैं। वाम भुजा में स्वामिनीजी एवं दक्षिण भुजा में चन्द्रावलीजी के भाव से आभूषण धारण कर रखें हैं। उन्होंने अपने दोनों छोटे-छोटे हाथों में रेशमी डोरे में पिरोये हुए रत्नजटित कंकण धारण कर रखे हैं जो ठाकुरजी द्वारा अंगीकृत भक्त जन के सूचक हैं।

10. ठाकुरजी की दसों अँगुलियों में धारित मुद्रिकाएँ भक्त जन को विभिन्न रस दान कराने वाली एवं कटि प्रदेश में किंकिणी लीला स्मरण कराने वाली है। (लीलामय प्रभु का रसात्मक स्वरूप)—ठाकुरजी

की दसों अँगुलियों में रत्नों से जटित मुद्रिकाएँ विभिन्न भक्तों के भावात्मक स्वरूप को व्यक्त करने वाली हैं। जो भक्त जिस रस का उपासक है, उसे उसी की रुचि के अनुसार अपनी अँगुली के नख से रस दान कर परम सुख पहुँचाते हैं। ठाकुरजी के कटि प्रदेश में रेशमी डोरी में गूँथी हुई किंकिणी सुशोभित है जो मधुर नाद करने वाली है। इस किंकिणी के मधुर नाद से रास-लीला एवं ठाकुरजी की अन्य अनेक लीलाओं का भक्तों को स्मरण हो जाता है और वे अन्तर्मुखी होकर ठाकुरजी की लीलाओं में तन्मय होने लगते हैं।

11. ठाकुरजी के चरण कमलों में धारण किये हुए नूपुरों की ध्वनि सम्मोहक एवं उनके नख चन्द्र की छटा, सूर्य, चन्द्र एवं मणि के प्रकाश को पराभूत करने वाली है, साथ ही उनका दिगम्बर स्वरूप भी मनोहारी है। (दिगम्बर स्वरूप एवं चरण-कमल सौंदर्य)—ब्रज भक्त एवं गोपियाँ ठाकुरजी के नूपुरों की ध्वनि भुनकर मोहित हो जाते हैं। उनका दिगम्बर स्वरूप सर्वांग दर्शन द्वारा भक्त जन के सभी आवरणों को दर्शन मात्र से दूर कर देने वाला है। उनके चरण नख की शोभा अनुपम है, जिनकी कान्ति के समक्ष सूर्य, चन्द्र एवं मणियों का प्रकाश भी कुण्ठित हो जाता है। ठाकुरजी के वाम चरण के नख-चन्द्र पुष्टि भक्त जन के हृदयान्धकार को दूर करने वाले हैं।

12. अपने ही स्वरूप के प्रतिबिम्ब से ठाकुरजी के खेलने की क्रीड़ा रमणीय है एवं सर्वांग में ब्रज रज लगे हुए ठाकुरजी की शोभा अनुपम है। (बाल स्वभावानुसार प्रतिबिम्ब से खेलने की लीला)—ठाकुरजी लौकिक बालक के समान ही मुग्धभाव से अपने ही प्रतिबिम्ब से खेल रहे हैं। प्रतिबिम्ब को पकड़ने का प्रयास करते हैं, किन्तु प्रतिबिम्ब हाथ में नहीं आने पर मुस्करा उठते हैं। मणिजटित आँगन एवं स्तंभों में अपना प्रतिबिम्ब देखकर किलकारी मारते हैं, खिलखिलाकर हँस देते हैं। यह बाल लीला भक्त जन को अत्यन्त मोहित करने वाली है। उनके सर्वांग में लगी हुई ब्रज रज उनकी शोभा बढ़ा रही है।

13. ज्ञान रहित से दिखाई देने पर भी उनकी लीला विलक्षण हैं, एक ही साथ अलग-अलग पात्रों से विभिन्न प्रकार की लीला करने में ठाकुरजी दक्ष एवं निष्णात हैं। (विरुद्ध धर्माश्रयत्व एवं लीला विलक्षणता)—लौकिक बालक की तरह ज्ञान रहित से दिखाई देने पर भी

ठाकुरजी अत्यन्त रसिक है एवं लीला करने में चतुर हैं। यशोदाजी, रोहिणीजी तथा अन्य वृद्ध गोप गोपी-जन उन्हें मुग्ध बालक ही समझती हैं किन्तु प्रभु के अन्तरंग ब्रज भक्त उनके स्वरूप एवं लीला रहस्य को भली-भाँति जानते हैं। ठाकुरजी पलने में झूलते हुए ही यशोदाजी को वात्सल्य सुख प्रदान करने के साथ ही कोटि-कोटि कामदेव की छवि को लज्जित करने वाले अपने लावण्य युक्त अंगों एवं हाव-भावों से स्वामिनीजी के मान हरण करने की विलक्षण लीला भी दिखा रहे हैं। विरुद्ध धर्माश्रयत्व के कारण ही वे लौकिक दिखाई देने पर भी अलौकिक हैं।

14. प्रिय गोपिकाओं के गूढ़ भावों एवं संकेतों को ग्रहण कर तदनुसार ही ठाकुरजी भावानुसार लीला कर भक्त जन को परमानन्द प्रदान करते हैं। (भावग्राही बालकृष्ण की अनुपम रसलीला)—ठाकुरजी परम रसिक एवं भावग्राही हैं। गोपिकाओं के भावों एवं संकेतों को ग्रहण कर उन्हें गोपनीय रखते हुए उनके भावानुसार उन्हें लीला सुख प्रदान करते हैं। यशोदाजी, स्वामिनीजी तथा अन्य गोप-गोपी जन के साथ एक साथ लीला करते हुए भी सभी को भावानुसार ऐसा लगता है मानो श्रीकृष्ण उन्हीं के अत्यधिक प्रिय हों। उन्हें यही प्रतीति रहती है कि ठाकुरजी उन्हीं से स्नेह कर रहे हैं, उन्हीं के साथ रमण कर रहे हैं। यही उनकी अनुपम रसलीला है जो सभी को आनन्द प्रदान करने वाली है।

15. ठाकुरजी लौकिक प्रपंच के विकार जनित दुःखों को हरण करने वाले एवं भक्त जन के अविद्या जनित दुख दूर कर उन्हें सुख देने वाले दयानिधि हैं तथा अंगीकृत भक्त-जन के अनुवर्ती हैं। (करुणा-सागर एवं भक्ताधीन)—ठाकुरजी काम क्रोधादि मनोविकारों का अपहरण कर भक्त जन की अविद्या दूर कर उन्हें लीला सुख प्रदान करते हैं। उन्होंने अविद्या रूपी पूतना का वध कर भक्त जन को लीला सुख प्रदान किया है। अपने ऐश्वर्य को छिपा कर भक्त जन के वात्सल्य भाव को पुष्ट करने के लिए ही उन्होंने बालक सा रूप प्रकट किया है। ऐश्वर्य के प्रकट हो जाने पर स्नेह भाव चला जाता है एवं स्नेह के अभाव में पुष्टि भक्ति की प्राप्ति असम्भव है। बालक के रूप में वे भक्त जन से थोड़ी सी वस्तु पाकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं वे सर्व सामर्थ्य युक्त होते हुए भी अंगीकृत भक्तजन के वश वर्ती हो उन्हीं के भाव और कथन के अनुसार कार्य करते हैं। उनकी कृपा का यही सर्वोत्कृष्ट रुप है।

16. क्षण-क्षण में अपनी विलक्षण लीलाओं द्वारा भक्तजन को जगत प्रपंच की विस्मृति करा उनके चित्त को अपने में अनुरक्त बना देते हैं। (विलक्षण लीलाओं द्वारा निरोध-सिद्धि)—अपने आकर्षण से ठाकुरजी भक्त जन का चित्त चुरा कर उन्हें गृह वित्तादि की आसक्ति से छुड़ा लेते हैं। आकर्षित भक्त जन के मन में सदैव उन्हीं का चिन्तन बना रहता है। वेणुनाद सुनकर गोपिकाओं को अपने पुत्र, पति, गृहादि तक का विस्मरण हो जाता है। प्रभु भक्त जन का अपनी लीलाओं से चित्त निरोध करने में सदैव तत्पर रहते हैं। गोवर्द्धन पूजा की संयोगात्मक लीला से भक्त जन की बाहरी चित्त वृत्ति एवं इन्द्रियों का अपने में निरोध कर देते हैं। वेणुनाद द्वारा गोपियों को अपने पास बुलाकर रमण अथवा सर्वांग विहार कर उनकी इन्द्रियों को शुद्ध कर देते हैं। उनकी वियोगात्मक लीला भी चित्त का निरोध करने वाली हैं। जो ब्रज भक्त गोपादिक मर्यादा, प्रवाही है उनके समक्ष बालक रूप में ही बने रहकर अपने स्वरूप एवं लीलाओं के दिव्य रहस्य प्रकट नहीं करते। केवल पुष्टि भक्त ही उनके स्वरुप एवं लीला रहस्य को जान पाते हैं।

17. ठाकुरजी निजजन के हार्दिक अभिप्राय जान कर उनके मनोरथ पूर्ण करने हेतु सदैव तत्पर रहते हैं। बाल लीला द्वारा सदैव निजजन का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किये रहते हैं। (लीलामय प्रभु की भक्त-वश्यता)—यशोदाजी के गृह कार्य में लगते ही क्रुद्ध होकर दही के मटके फोड़ने, बन्दरों को मक्खन लुटाने, भूमि पर लौटने एवं चन्द्रमा को हाथ में लेने की हठ ठानने तथा रोने की बाल लीला द्वारा यशोदाजी का ध्यान आकर्षित कर पुनः अपने में केन्द्रित करा देते हैं। नई वस्तु पाकर, यशोदाजी के मनाने पर पुनः हर्षित हो उठते हैं। निजजन को लीला में तन्मय कर अपनी उनके साथ संलग्नता दिखाते हैं एवं भक्त जन के हार्दिक अभिप्राय जानकर उनके मनोरथ पूर्ण करने हेतु सदैव तत्पर रहते हैं। वे अन्य इतर ज्ञान से रहित हो स्नेहमय लीला में संलग्न हो अपनी भक्त-वश्यता प्रदर्शित करते हैं। ब्रज भक्तों को सुख प्रदान करना ही उनका एक मात्र लक्ष्य है। पुष्टि मार्ग में इसीलिए प्रभु को भक्ताधीन एवं अन्य ज्ञान रहित माना गया है।

18. ठाकुरजी गूढ़ लीला परायण हैं, उनकी समस्त लीलाएँ रसात्मक हैं। (गूढ़ लीला-परायण)—ठाकुरजी की लीलाएँ अत्यन्त गूढ़

एवं भावात्मक हैं। उनकी लीला नित्य नूतन होती है । रास लीलाएँ भी अनेक प्रकार की हैं। दो-दो गोपियों के बीच एक-एक कृष्ण अर्थात् सोलह गोपियों मध्य आठ श्रीकृष्ण होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक गोपी के साथ एक-एक कृष्ण की रास-लीला भी होती है। अनेक भक्तजन एवं ऋषि मुनि भी गोपी भाव धारण कर ठाकुरजी के साथ रास लीला में संलग्न रहते हैं। दान लीला, मान लीला, चीर-हरण लीला तथा अनेक भाँति के वन-विहार एवं जल-क्रीड़ा की सभी लीलाएँ रसात्मक हैं। किशोर रूप धारण कर, माखन चोरी, गाय दुहावन एवं किशोरी जी के साथ की गई निकुंज-लीला भी पूर्णतः रसात्मक हैं। उनके लीला समुद्र का पार नहीं है, वे लीला क्षोराब्धिशायी हैं, गूढ़ लीला परायण हैं। मन में लौकिक आसक्ति न रखते हुए प्रभु के स्वरूप में ही सदैव आसक्त रहने से ही पुष्टि भक्त लीला प्रवेश का अधिकार पाते हैं तथा रसरूप प्रभु के साथ परमानन्द विहार करतें हैं।

यशोदोत्संग-लालित बालकृष्ण का यह भावात्मक स्वरूप है जो योगियों के लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है। महाप्रभुजी की कृपा से पुष्टि भक्तों को यह सहज प्राप्य है। सेवा के समय भी इसी स्वरूप में अपना चित्त लगाकर सेवा परायण होना एवं सेवा के अनन्तर अनोसर में विप्रयोग का अनुभव करते हुए बुद्धि से सदैव इसका चिन्तन करते रहने से निरोध सिद्ध हो जाता है। निरोध की सिद्धि ही पुष्टि भक्ति का सर्वोच्च आदर्श है। श्रीमद् भागवत तो भगवान का हृदय ही है, इसके दशम स्कन्ध में भगवान की निरोध लीला का ही वर्णन है। अचिन्त्य शक्तियों के साथ जगत् में भगवान की क्रीड़ा निरोध स्वरूपा है । सर्वव्यापी भगवान जब भक्तजन के हृदय में अपनी रसात्मक लीला का क्षीर समुद्र प्रकट कर वहीं विहार करने लगते हैं, तब उसे निरोध कहा जाता है। जगत्प्रपंच की विस्मृति न होने तक भगवद् लीला रस का पान असंभव है। भगवान अपने रसमय स्वरुप में भक्त के चित्त को आसक्त करा जगत का विस्मरण करा देते हैं। भगवान की क्रीड़ा ही निरोध का कारण, भगवान में आसक्ति निरोध का व्यापार एवं लीला रस का परम आनन्द ही निरोध का फल है। भगवदासक्ति दृढ़ होने पर भक्त का चित्त प्रभु के स्वरूप में लीन होता है और भक्त और भगवान दोनों एक दूसरे के बिना एक क्षण भी नहीं रह पाते। प्रभु के स्वरूप में भक्त की गति और भक्त के स्नेह पूर्ण चित्त में भगवान की गति निरुद्ध हो जाती है।

निरोध सिद्ध हो जाने पर सर्वात्म भाव भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। सभी लौकिक कार्य करते रहने पर भी चित्त भगवत् लीला में ही तल्लीन बना रहता है। निरोध की यह दशा परमहंस की दशा से भी उत्कृष्ट है। इस दशा के आगे धर्म, अर्थ एवं काम ही नहीं अपितु मोक्ष तक भी तुच्छ हैं। उद्धव जी को गोकुल की गोपांगनाओं में इसी निरोध सिद्ध-दशा का साक्षात्कार हुआ था जो ब्रह्मा, शिव एवं लक्ष्मी को प्राप्त होना भी असम्भव है। महाप्रभुजी ने भी 'भक्ति वर्द्धिनी' में इसी अवस्था का संकेत दिया है–

"यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्याद् तदैव हि"

श्रीहरिराय महाप्रभु द्वारा निर्दिष्ट प्रभु के भावात्मक स्वरूप का अहर्निश अनुचिन्तन एवं ध्यान समस्त पुष्टि भक्त जन को बना रहे, इसी मंगल कामना के साथ।

दीनता एवं निस्साधनता की भावना ही प्रभु-अनुग्रह की कुंजी है

प्रभु अनुग्रह प्राप्त करना ही पुष्टिमार्ग का अन्तिम लक्ष्य है। प्रभु के परम एवं विशेष अनुग्रह होने पर ही भगवत्प्राप्ति अर्थात् भगवान के स्वरूप की उपलब्धि होती है। जन्म-जन्मान्तर से जीव अपने आनन्दमय स्वरूप से वंचित हो अनेक प्रकार के क्लेश सहन करता हुआ असंख्य योनियाँ धारण कर भटकता रहा है। प्रभु की अकारण कृपा से मनुष्य देह मिलने पर उसे अपनी स्थिति एवं यथार्थ स्वरूप को जानने का अवसर प्राप्त होता है। मानव देह प्राप्त कर लेने पर भी प्रभु की इच्छा के बिना वह लौकिक एवं नश्वर आकर्षणों से मुक्त नहीं हो पाता। वासना-बद्ध जीव अहर्निश अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए ही प्रयासरत रहता है। बुद्धि का विकास होने पर भी वह अर्थ एवं काम को ही जीवन के परम पुरुषार्थ मानता रहता है। अध्ययन, जिज्ञासा, मनन, शास्त्र-श्रवण, सत्संग आदि के प्रभाव से धर्म एवं मोक्ष भी क्रमशः उसको आकर्षित करते हैं और वह सदैव धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष आदि चारों पुरुषार्थों के लिए ही अपना सम्पूर्ण मानव जीवन लगा देता है। जीवन में इन चारों पुरुषार्थों का आंशिक महत्त्व होते हुए भी इन्हें अन्तिम उपलब्धि नहा माना जा सकता, क्योंकि मानव जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि भगवद्-प्रेम है जो पंचम पुरुषार्थ है। जीव का यह

पंचम पुरुषार्थ मनुष्य के प्रयत्न से नहीं अपितु भगवान की अकारण कृपा से, उनके प्रमेय बल से प्राप्त होता है, जिसे पाकर अन्य कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता।

भगवत्प्राप्ति होने पर ही जीव के आधि-भौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक तापों का शमन होता है, उसके आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति होती है। प्रभु की कृपा अकारण मानी जाती है अतः इसके लिए बुद्धि द्वारा निर्दिष्ट किसी भी कारण को प्रभु की कृपा का कारण नहीं माना जा सकता। जीव स्व-प्रयत्न से भी कृपा प्राप्त करने में असमर्थ है इसीलिए वैष्णव आचार्यों ने शरणागति, सेवा, समर्पण, प्रपत्ति आदि का महत्त्व बताकर मनुष्य को प्रभु की कृपा प्राप्त करने का सत्परामर्श दिया है। प्रकारान्तर से यह मार्ग अपने अहंकार का विसर्जन कर दीनता का भाव धारण करने पर ही अपनाया जा सकता है क्योंकि दैन्य के अभाव में शरणागति, समर्पण अथवा प्रपत्ति प्रभु को स्वीकार्य ही नहीं होगी। गहराई से विचार करने पर यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि जीव में अपने प्रयत्नों के प्रति निष्ठा एवं कर्तव्य का अभिमान सूक्ष्म रूप में छिपा रहता है, इसी कारण उसमें दैन्य एवं निस्साधनता की भावना का स्फुरण नहीं होता।

वस्तुतः दैन्य एवं निस्साधनता की भावना ही प्रभु को जीव की ओर आकर्षित करती है, प्रभु ही करुणार्द्र होकर जीव का वरण करते हैं। जब तक जीव को अपनी अल्पज्ञता एवं अल्प सामर्थ्य का ज्ञान नहीं होता तब तक न तो वह अपनी न्यूनताओं को जान पाता है और न वह प्रभु के अलौकिक माहात्म्य एवं सामर्थ्य से ही परिचित हो पाता है। वह सत्, रज, तमादि प्राकृत गुणों को अपने गुण समझकर उनमें लिप्त रहता है। कर्तृत्व का सूक्ष्म अहंकार उसके अन्तःकरण को आच्छादित किये रहता है। व्यवहार में वह जो भी विनयशीलता एवं दैन्य प्रदर्शित करता है वह भी अपनी मिथ्या प्रशंसा सुनने का, सूक्ष्म अहंकार को तुष्ट करने का साधन मात्र होता है, उसमें वास्तविक दैन्य की महक नहीं होती। प्रभु अशेष, अनन्त कला-निधि हैं अतः वास्तविक भाव के अभाव में किसी भी कला अथवा अभिनय से आकर्षित नहीं होते। कला, अभिनय अथवा प्रदर्शन तो केवल संसार को ही आकर्षित कर पाते हैं। जीव का यह भाव कि वह प्रभु का है प्रभु का निज-जन है, वास्तविक भाव है किन्तु जब वह अपने

आप को प्रभु के निज-जन अथवा भक्त के रूप में प्रदर्शित करता है तो उसके अन्तःकरण में निहित सूक्ष्म अहंकार की ही तुष्टि होती है।

दीनता एवं निस्साधनता का भाव अत्यन्त गहन है। इसके अभाव में जीव का चित्त शुद्ध नहीं होता है और न भक्ति रस के आस्वादन की योग्यता उत्पन्न होती है। प्रायः निर्धन एवं असहाय व्यक्ति को संसार में दीन एवं निस्सहाय माना जाता है, किन्तु कर्तृत्व का अभिमान किंचित् मात्र भी शेष रहने पर्यन्त वह परमात्मा की दृष्टि में दीन नहीं होता। निर्धनता एवं निर्बलता के कारण उत्पन्न दीनता की स्थिति सापेक्ष है, स्थिति में परिवर्तन होते ही ऐसी दीनता तिरोहित हो जाती है। इसके विपरीत ऐसा साधन-सम्पन्न व्यक्ति जो अनासक्त हो, अपने समस्त साधनों को प्रभु की सेवा के लिए मानता हो, जिसमें कर्तृत्व का सर्वथा अभाव हो, जिसने सर्वभाव से प्रभु के चरणों में सर्वस्व अर्पण कर दिया हो, उसे दीन एवं निस्साधन कहा जा सकता है।

"दैन्यं तत्परितोष साधनम्" अर्थात् दैन्य ही प्रभु के परितोष का सर्वोत्तम उपाय है। भगवान ऐसे ही दीन भक्तों के बन्धु बन जाते हैं क्योंकि वे सच्चे अर्थों में दीन बन्धु हैं। दीनता स्थिति पर निर्भर न होकर आन्तरिक भाव पर आधारित है। यदि साधन सम्पत्ति रहित निर्धन एवं निर्बल व्यक्तियों को दीन माना जावे तो दीन बन्धु प्रभु की कृपा उन पर अवश्य होती और वे कष्ट, क्लेश एवं सन्ताप सहन करते रहने के लिए बाध्य नहीं होते। दीनता एवं निस्साधनता का भाव हमें भरतजी के चरित्र में उत्कृष्ट रूप में मिलता है। चौदह वर्ष तक समस्त साधन सम्पत्ति से युक्त राज्य कार्य का वहन करते हुए भी उनमें निस्साधनता का भाव अक्षुण्ण बना रहा। यही सच्चा दैन्य है जो प्रभु को आकर्षित ही नहीं करता, अपितु इस भाव से जीव प्रभु का परम प्रिय भी बन जाता है। प्रभु के जिन भक्तों को लौकिक अथवा वैदिक फल, धन, यश, मान, प्रतिष्ठा तथा स्वर्गादि की भी चाह नहीं होती, जिनमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षादि किसी पुरुषार्थ में रुचि नहीं होती, जिनका आलम्बन एक मात्र भगवद् प्रेम ही रहता है, उनमें दीनता एवं निस्साधनता का वास्तविक भाव सहज रूप में पाया जाता है।

पुष्टि-मार्ग कृपा-मार्ग है, साधना मार्ग नहीं क्योंकि किसी भी प्रकार की साधना से भगवत्-प्राप्ति होना असम्भव है। लौकिक एवं वैदिक फलों

को प्राप्त कराने पर्यन्त ही साधना का महत्त्व है। प्रत्येक साधना किसी न किसी सीमित लक्ष्य की प्राप्ति में ही सहायक सिद्ध हो सकती है। लौकिक एवं वैदिक गति से चारों पुरुषार्थ चाहे सिद्ध होते हों, चाहे उनसे उर्ध्व लोकों तक की प्राप्ति होती हो किन्तु ये गतियाँ और इनसे प्राप्त होने वाली स्थितियाँ शाश्वत नहीं होतीं, लौकिक एवं वैदिक गति के रहते हुए जीव आवागमन के चक्र से मुक्त नहीं होता। किसी भी प्रकार की साधना मनुष्य को अहंकार से मुक्त नहीं कर सकती, इसके विपरीत लक्ष्य प्राप्ति के साथ ही प्रत्येक साधना अहंकार में वृद्धि ही करती है। भगवान श्रीकृष्ण परम अलौकिक दिव्यातिदिव्य एवं परम पुरुषोत्तम है, अतः उनकी कृपा होने पर ही उन्हें प्राप्त किया जा सकता है, अन्य किसी साधन से उनकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है।

शास्त्रों में भगवत्प्राप्ति के तीन साधन बताए गए हैं, जिनमें कर्म मार्ग आधिभौतिक, ज्ञान मार्ग आध्यात्मिक एवं भक्ति मार्ग आधिदैविक साधन माना जाता है। लौकिक फल की सिद्धि के लिए आसक्ति पूर्वक किया गया कर्म बन्धन का कारण बन जाता है किन्तु भगवद् अर्थ अथवा प्रभु प्रीत्यर्थ किया गया कर्म समर्पण भाव को सुदृढ़ बनाने के कारण सार्थक एवं उपादेय हो जाता है। सांसारिक दुःख एवं अविद्या की निवृत्ति के लिए आध्यात्मिक चिन्तन करना उपादेय होते हुए भी तब तक अपूर्ण ही है जब तक उसका पर्यवसान भगवद् प्रेम में नहीं हो। कर्म एवं ज्ञान की उपादेयता होने पर भी भक्ति ही परमात्म प्राप्ति का सुलभ साधन है। वैधी भक्ति से प्रेम-लक्षणा भक्ति उत्कृष्ट होती है, क्योंकि उसमें श्रद्धा एवं भाव के साथ ही स्नेह की प्रबलता रहती है। भक्ति मार्ग में शरणागति, सेवा एवं समर्पण की भावना मुख्य है। अहंकार भक्ति मार्ग में सर्वाधिक बाधक है। इसके विपरीत अहंकार का विपरीत भाव दैन्य है। पुष्टिमार्ग भी भगवत्कृपा का मार्ग है, पुष्टि भक्ति ही प्रेम लक्षणा भक्ति है। इस मार्ग में प्रभु का अनुग्रह ही नियामक है। दैन्य भाव से प्रभु सुगमता से द्रवित होकर भक्त को अपने अनुग्रह का पात्र बना लेते हैं। शरणागति, सेवा एवं समर्पण में भी दैन्य भाव परमावश्यक है। दैन्य भाव के अभाव में प्रभु सेवा एवं समर्पण भी स्वीकार नहीं करते। पुष्टिमार्गीय सेवा में अहर्निश यह भाव बनाए रखना आवश्यक है कि सेवा के समस्त साधन प्रभु के ही हैं, मैं भी प्रभु का ही

निज जन हूँ, मुझसे प्रभु कृपा पूर्वक सेवा लेकर मुझे कृतार्थ कर रहे हैं। समर्पण में भी **"त्वदीयं वस्तु गोविंदः तुभ्यमेव समर्पये"** की अहर्निश भावना आवश्यक है। संसार के त्रय ताप से तप्त आर्त भक्त का मानस शतशः दैन्य पूरित होता है अतः उस अवस्था में शरणागति का भाव अत्यन्त तीव्र होता है।

पुष्टिमार्ग में सांसारिक दावानल से त्रस्त जीव जब आचार्य अथवा सद्गुरु की शरण में आता है तो उसमें दैन्य भाव ही मुख्य होता है। जीव के दैन्य से द्रवित होकर आचार्य उसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण से कराते हैं, जिसे ब्रह्म-सम्बन्ध कहा जाता है। ब्रह्म सम्बन्ध के समय आत्म-निवेदन करते समय भी उसमें दैन्य एवं निस्साधनता का भाव ही प्रमुख रहता है। उसी दैन्य से द्रवित होकर प्रभु उसे अंगीकार करते हैं। यही नहीं पुष्टि भक्ति का क्रमशः विकास होते रहने पर जीव प्रभु का नित्य दास ही नहीं अपितु सम्बन्धी भी हो जाता है। भावानुसार प्रभु जीव के सभी प्रकार के सम्बन्धों को स्वीकार करते हुए तदनुरूप उसका निर्वाह भी करते हैं। सम्बन्ध के अनुसार ही प्रभु का लीला-व्यापार भक्त के साथ अहर्निश चलता रहता है। जब प्रभु श्रीकृष्ण से सभी प्रकार के सम्बन्ध जुड़ जाते हैं तथा एक भी भाव का सम्बन्ध किसी अन्य से नहीं रहता तो सर्वभाव सिद्धि हो जाती है। सर्वभाव सिद्धि होने पर प्रभु श्रीकृष्ण अनुग्रह पूर्वक स्वरूप दान करते हैं तथा स्वरूप प्राप्ति के साथ ही उसे श्रीकृष्ण का सतत सायुज्य प्राप्त हो जाता है।

पुष्टि भक्त अपने लिए किसी भी प्रकार की कामना न रखते हुए केवल भगवान के ही सुख की अपेक्षा करते हैं। मन की निरन्तर भगवान में स्थिति होना ही पुष्टि भक्ति है। दीनता एवं निस्साधनता की भावना से ही चित्त शुद्ध होता है और उसमें प्रेम प्रधान शुद्ध पुष्टि भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। पुष्टि भक्ति का फल साक्षात् श्री कृष्ण की प्राप्ति है। यह शुद्ध भक्ति सर्वथा स्वतंत्र है, भगवान पुष्टि भक्ति से भक्त के अधीन हो जाते हैं। पुष्टि भक्ति में साधन, साध्य एवं फल एक मात्र श्रीकृष्ण ही है। पुष्टि भक्ति में किसी प्रकार के धर्म के प्रति निष्ठा न होकर केवल प्रभु निष्ठा ही प्रधान रहती है। इस प्रकार पुष्टि मार्ग में शरणागति से लेकर सायुज्य प्राप्ति पर्यन्त भक्त में दीनता एवं निस्साधनता का भाव अक्षुण्ण बना रहता है। दैन्य न केवल सेवा भाव में अपितु लीला भाव में भी सदैव सहायक

ही रहता है, स्वरूप-प्राप्ति के पश्चात् यह स्वतः ही तिरोहित हो जाता है। शरणागति एवं समर्पण के पश्चात् भी प्रभु की सेवा करते हुए भी दीनता का भाव यह मानते हुए बनाए रखना चाहिए कि मुझमें सेवा की योग्यता नहीं है, मुझे न तो सत्संग का अवसर मिला है, न मैं शरणागति को ही सिद्ध कर पाया हूँ, मेरे में भक्ति मार्ग में प्रवेश की भी योग्यता नहीं है, कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग में भी मेरी स्थिति नहीं है, न मैं किसी प्रकार का सदाचार अथवा धर्म का पालन करने योग्य हूँ। मैं प्रभु के माहात्म्य से भी परिचित नहीं हूँ और न मेरा प्रभु के प्रति प्रबल स्नेह है। मेरा आश्रय भी सुदृढ़ नहीं है तथा मुझमें विवेक एवं धैर्य का भी सर्वथा अभाव है। इस प्रकार दीनता का भाव बनाए रखने से अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध रहता है और प्रभु के प्रेम में अहर्निश वृद्धि होती रहती है।

दैन्य भाव को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए सदैव यह चिन्तन भी करते रहना चाहिए कि प्रबल प्रेम के अभाव में मुझे प्रभु श्रीकृष्ण के विरह का अनुभव भी नहीं हो रहा है, मेरी अहंता एवं ममता भी नष्ट नहीं हुई है, मैं पूर्णतया निस्साधन हूँ, प्रभु मुझ पर किस प्रकार कृपा करेंगे ? दैन्यभाव से आपूरित हो प्रभु से सदैव यह भी निवेदन करते रहना चाहिए, ऐसा महाप्रभु श्रीहरिरायजी का निर्देश है–

''कं प्रार्थयेयुस्ते दीनाः विहाय निज नायकम्।
तदेकं शरणं नित्यं विमुक्ताः सर्व साधनंः ॥''

(शिक्षा-पत्र)

अर्थात् दीन व्यक्ति अपने स्वामी को छोड़कर किसके सामने प्रार्थना करे! हे प्रभु यह दीन सभी साधनों से रहित है, नित्य केवल आपकी ही शरण में है।

''त्यक्तः कुत्र गमिष्यामि न मे अस्ति शरणं क्वचित्।
नावमारोप्य दीनं स्वं मध्ये धारं न मज्जय ॥''

(शिक्षा-पत्र)

अर्थात् हे प्रभु! आपके द्वारा त्याग दिए जाने पर मैं कहाँ जाऊँगा? मेरे अन्य कोई शरण अथवा आश्रय स्थान नहीं है। हे प्रभु ! मुझे अपनी शरण में लेकर नाव में बिठाकर अब कृपा कर मुझे मझधार में मत डुबोइये।

यही नहीं भक्तिजन्य दैन्य जब गोपी भाव की विरहाकुलता में

निज जन हूँ, मुझसे प्रभु कृपा पूर्वक सेवा लेकर मुझे कृतार्थ कर रहे हैं। समर्पण में भी **"त्वदीयं वस्तु गोविंदः तुभ्यमेव समर्पये"** की अहर्निश भावना आवश्यक है। संसार के त्रय ताप से तप्त आर्त भक्त का मानस शतशः दैन्य पूरित होता है अतः उस अवस्था में शरणागति का भाव अत्यन्त तीव्र होता है।

पुष्टिमार्ग में सांसारिक दावानल से त्रस्त जीव जब आचार्य अथवा सद्गुरु की शरण में आता है तो उसमें दैन्य भाव ही मुख्य होता है। जीव के दैन्य से द्रवित होकर आचार्य उसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण से कराते हैं, जिसे ब्रह्म-सम्बन्ध कहा जाता है। ब्रह्म सम्बन्ध के समय आत्म-निवेदन करते समय भी उसमें दैन्य एवं निस्साधनता का भाव ही प्रमुख रहता है। उसी दैन्य से द्रवित होकर प्रभु उसे अंगीकार करते हैं। यही नहीं पुष्टि भक्ति का क्रमशः विकास होते रहने पर जीव प्रभु का नित्य दास ही नहीं अपितु सम्बन्धी भी हो जाता है। भावानुसार प्रभु जीव के सभी प्रकार के सम्बन्धों को स्वीकार करते हुए तदनुरूप उसका निर्वाह भी करते हैं। सम्बन्ध के अनुसार ही प्रभु का लीला-व्यापार भक्त के साथ अहर्निश चलता रहता है। जब प्रभु श्रीकृष्ण से सभी प्रकार के सम्बन्ध जुड़ जाते हैं तथा एक भी भाव का सम्बन्ध किसी अन्य से नहीं रहता तो सर्वभाव सिद्धि हो जाती है। सर्वभाव सिद्धि होने पर प्रभु श्रीकृष्ण अनुग्रह पूर्वक स्वरूप दान करते हैं तथा स्वरूप प्राप्ति के साथ ही उसे श्रीकृष्ण का सतत सायुज्य प्राप्त हो जाता है।

पुष्टि भक्त अपने लिए किसी भी प्रकार की कामना न रखते हुए केवल भगवान के ही सुख की अपेक्षा करते हैं। मन की निरन्तर भगवान में स्थिति होना ही पुष्टि भक्ति है। दीनता एवं निस्साधनता की भावना से ही चित्त शुद्ध होता है और उसमें प्रेम प्रधान शुद्ध पुष्टि भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। पुष्टि भक्ति का फल साक्षात् श्री कृष्ण की प्राप्ति है। यह शुद्ध भक्ति सर्वथा स्वतंत्र है, भगवान पुष्टि भक्ति से भक्त के अधीन हो जाते हैं। पुष्टि भक्ति में साधन, साध्य एवं फल एक मात्र श्रीकृष्ण ही है। पुष्टि भक्ति में किसी प्रकार के धर्म के प्रति निष्ठा न होकर केवल प्रभु निष्ठा ही प्रधान रहती है। इस प्रकार पुष्टि मार्ग में शरणागति से लेकर सायुज्य प्राप्ति पर्यन्त भक्त में दीनता एवं निस्साधनता का भाव अक्षुण्ण बना रहता है। दैन्य न केवल सेवा भाव में अपितु लीला भाव में भी सदैव सहायक

ही रहता है, स्वरूप-प्राप्ति के पश्चात् यह स्वतः ही तिरोहित हो जाता है। शरणागति एवं समर्पण के पश्चात् भी प्रभु की सेवा करते हुए भी दीनता का भाव यह मानते हुए बनाए रखना चाहिए कि मुझमें सेवा की योग्यता नहीं है, मुझे न तो सत्संग का अवसर मिला है, न मैं शरणागति को ही सिद्ध कर पाया हूँ, मेरे में भक्ति मार्ग में प्रवेश की भी योग्यता नहीं है, कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग में भी मेरी स्थिति नहीं है, न मैं किसी प्रकार का सदाचार अथवा धर्म का पालन करने योग्य हूँ। मैं प्रभु के माहात्म्य से भी परिचित नहीं हूँ और न मेरा प्रभु के प्रति प्रबल स्नेह है। मेरा आश्रंय भी सुदृढ़ नहीं है तथा मुझमें विवेक एवं धैर्य का भी सर्वथा अभाव है। इस प्रकार दीनता का भाव बनाए रखने से अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध रहता है और प्रभु के प्रेम में अहर्निश वृद्धि होती रहती है।

दैन्य भाव को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए सदैव यह चिन्तन भी करते रहना चाहिए कि प्रबल प्रेम के अभाव में मुझे प्रभु श्रीकृष्ण के विरह का अनुभव भी नहीं हो रहा है, मेरी अहंता एवं ममता भी नष्ट नहीं हुई है, मैं पूर्णतया निस्साधन हूँ, प्रभु मुझ पर किस प्रकार कृपा करेंगे ? दैन्यभाव से आपूरित हो प्रभु से सदैव यह भी निवेदन करते रहना चाहिए, ऐसा महाप्रभु श्रीहरिरायजी का निर्देश है–

''कं प्रार्थयेयुस्ते दीनाः विहाय निज नायकम् ।
तदेकं शरणं नित्यं विमुक्ताः सर्व साधनंः ॥''

(शिक्षा-पत्र)

अर्थात् दीन व्यक्ति अपने स्वामी को छोड़कर किसके सामने प्रार्थना करे! हे प्रभु यह दीन सभी साधनों से रहित है, नित्य केवल आपकी ही शरण में है।

''त्यक्तः कुत्र गमिष्यामि न मे अस्ति शरणं क्वचित् ।
नावमारोप्य दीनं स्वं मध्ये धारं न मज्जय ॥''

(शिक्षा-पत्र)

अर्थात् हे प्रभु! आपके द्वारा त्याग दिए जाने पर मैं कहाँ जाऊँगा? मेरे अन्य कोई शरण अथवा आश्रय स्थान नहीं है। हे प्रभु ! मुझे अपनी शरण में लेकर नाव में बिठाकर अब कृपा कर मुझे मझधार में मत डुबोइये।

यही नहीं भक्तिजन्य दैन्य जब गोपी भाव की विरहाकुलता में

परिवर्तित हो जाता है तो दैन्य आपूरित विरहोद्गार भी कितने स्पृहणीय बन जाते हैं-यथा–

"हा कृष्ण? हा नन्द सूनो? हा यशोदा प्रियाऽर्भका।
हा गोपिका हृदाधार? धारयस्व करेण माम् ॥"

पुष्टि भक्तों में दीनता एवं निस्साधनता का भाव अक्षुण्ण रहे तथा अन्ततोगत्वा विरह ताप के रूप में सतत प्रज्वलित रहे, इसी शुभकामना के साथ।

गोपी-प्रेम की विलक्षणता

सच्चिदानन्दघन भगवान श्रीकृष्ण की प्रेम भक्ति में गोपियों का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। गोपियों की प्रेम-निष्ठा बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों, सन्त-महात्माओं एवं योगियों की तपोनिष्ठा, ज्ञाननिष्ठा एवं योग निष्ठा से भी-बढ़कर है। भगवद् प्रेम की इसी अनन्य प्रेम-निष्ठा के कारण पुष्टिमार्ग में गोपियों को श्रीकृष्ण की प्रेम ध्वजा एवं प्रेम मार्ग का आदर्श माना जाता है। इतना ही नहीं अपितु महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य ने अपने "संन्यास-निर्णय" ग्रन्थ में

"कौण्डिन्यौ गोपिकाः प्रोक्ता-गुरवः साधनम् च तत्"

कहकर गोपियों को पुष्टिमार्ग का गुरु उद्घोषित किया है। पुष्टिमार्ग अलौकिक मार्ग हैं अतः मार्ग के अनुरूप गोपिकाओं को गुरु स्थानीय मानना समीचीन है। गोपी भाव का प्रेम निगूढ़ है, विलक्षण है एवं काम गन्ध से शून्य है। निरक्षर एवं अनपढ़ होते हुए भी अपने प्रेम की विलक्षणता के कारण पुष्टि मार्ग में मर्यादा भक्तों से उन्हें उच्च स्थान दिया गया है। गोपियों की अनन्यता एवं प्रबल प्रेम-निष्ठा के कारण ही प्रभु स्वयं गोपीजन-वल्लभ कहलाये।

श्याम सुन्दर के जिस मधुर मनोहर व विशुद्ध स्वरूप का दर्शन गोपियां अपनी प्रेम दृष्टि से करती थीं, उस स्वरूप का दर्शन तो ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के लिए भी दुर्लभ है। समाधि लगाकर भी शिव जब इस स्वरूप के दर्शन नहीं कर पाए तो दर्शन के प्रलोभन से गोपियों के साथ स्वयं गोपी बनकर महारास लीला में जा पहुँचे और प्रभु के स्वरूप-दर्शन के साथ ही महारास के परमानन्द को प्राप्त किया। इसी कारण शिव को

गोपेश्वर भी कहा जाता है। गोपी भाव की महिमा अपार एवं अनिर्वचनीय है। पितामह ब्रह्मा भी गोपियों की चरण-रज की कामना करते हैं, परम वीतरागी मुनिवर शुकदेव भी गोपियों के भाग्य की सराहना करते हुए कहते हैं कि–

"नेमं विरिंचो, न भवो न श्री रप्यंग-संश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी, यत्तत् प्राप्त विमुक्तिदात् ॥"

(श्रीमद् भागवत 10/9/20)

अर्थात् प्रभु के कृपा पूर्ण जिस प्रेम-प्रसाद को पुत्र होने पर भी ब्रह्मा, आत्मा होने पर भी शंकर एवं अर्द्धांगिनी होने पर भी श्री (लक्ष्मी) प्राप्त न कर सकी उस प्रेमानन्द रूपी दुर्लभ प्रसाद को गोपियाँ अपने अमूल्य जीवन-धन श्याम-सुन्दर को हृदय में छिपाकर सदैव सुरक्षित रखती हैं, अतः उन्हें गोपियाँ कहा जाता है। गोपियाँ परम अनुरागमयी हैं, श्रीकृष्ण-प्रेम में पगी हुई हैं एवं रस-मूर्ति है। अपने विलक्षण प्रेम से उन्होंने श्याम सुन्दर को भी अपने अधीन कर रखा है।

नारद से शुक व्यास रटे, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावै।
ताहि अहीर की छोहरिया, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावै ॥

लौकिक मनुष्य केवल अपना सुख प्राप्त करने के लिए ही किसी से प्रेम-व्यवहार करता है। कुछ भक्तजन भी प्रभु से अपने सुख की चाह के लिए ही प्रेम करते हैं। किन्तु गोपियों का प्रेम अलौकिक है, उसमें स्वसुख का अंश मात्र भी नहीं है, वे श्याम सुन्दर को सुख पहुँचाने के लिए उनसे प्रेम करती है, सुकुमार भावों से उनकी सेवा करती है। **"तत्सुख सुखित्वम्"** अर्थात् श्याम सुन्दर को सुख पहुँचाने में ही उनका सुख है, वे देना और निरन्तर देना ही जानती हैं, प्रतिदान में श्याम सुन्दर से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं करती। उनकी एक मात्र अभिलाषा यही रहती है–

"सुखी रहें प्रभु प्रियतम मेरे, यही नित्य मेरी मन चाह।"

गोपियों के मन में सांसारिक भोग, ऐश्वर्य तथा मुक्ति तक की स्पृहा नहीं है–

"भुक्ति-मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेम सुखस्यात्र कथं अभ्युदयो भवेत् ॥"

वस्तुतः मन में भुक्ति एवं मुक्ति की इच्छा रहते हुए प्रभु से विशुद्ध प्रेम हो ही नहीं सकता। गोपियों का भाव-प्रवण निश्छल स्नेह भगवद् प्रेम

मार्ग के पथिकों के लिए प्रेरक एवं मार्गदर्शक है। श्रीकृष्ण की माखन चोरी-लीला, दान-लीला, चीर-हरण-लीला से लेकर रास-लीला तक की समस्त बाल-लीलाओं की माध्यम गोपियाँ ही थीं। गोपियों ने समस्त ब्रज मण्डल को अपने दिव्य स्नेह से आलोकित कर वहाँ के कण-कण में गो-लोक की प्रतिष्ठा कर दी। उनका चित घर के सभी कार्यों को करते हुए भी प्रभु में ही लगा रहता और प्रेमानन्द की सुधा रस-धारा में अवगाहन करता रहता। जब श्याम सुन्दर की मुरली का स्वर उन्हें सुनाई पड़ता तो वे अपने पति, पुत्र, पशु, गेह एवं देह तक की सुधि भूलकर उनमें तन्मय हो जाती, योगियों की समाधि भी उनसे पीछे छूट जाती। जब श्याम सुन्दर ने वेणु नाद द्वारा उनका आह्वान किया तो वे अपना सर्वस्व त्याग कर वेणु-नाद का अनुसरण करते हुए प्रभु के दिव्य रास में समुपस्थित हो गई। जो देहादि की अशक्तता के कारण नहीं पहुँच सकी तो वे भाव-देह से वहाँ उपस्थित हो गई। जब प्रभु ने स्त्री के नाते उन्हें गृहस्थ धर्म एवं पति-परिचर्या का उपदेश देकर पुनः लौट जाने को कहा तो इन अनपढ़ गोपियों ने जो शास्त्र सम्मत एवं युक्ति-युक्त उत्तर दिया उससे प्रभु को भी निरुत्तर होना पड़ा। गोपियों द्वारा दिए गए प्रत्युत्तर बडे-बड़े धुरन्धर धर्म-तत्त्व-वेत्ताओं एवं पंडितों के लिए भी मननीय हैं। लौकिक एवं वैदिक मार्ग की मर्यादा का भगवद् प्रेम के लिए उल्लंघन करना अनुचित नहीं है, यह सिद्धान्त अपने जीवन में क्रियान्वित कर उन्होंने भगवद्-प्रेम का प्रेरक आदर्श प्रस्तुत किया।

गोपियों के प्रेम का विलक्षण प्रभाव ज्ञान जनित एवं अज्ञान जनित दोनों प्रकार के आवरण हटाकर किसी अन्य के चित्त में भी भगवद्-प्रेम संचारित करने में समर्थ है। जब श्रीकृष्ण के प्रिय सखा एवं ब्रह्म-ज्ञानी भक्त श्रीउद्धवजी श्रीकृष्ण की आज्ञा से गोपियों के श्रीकृष्ण के प्रति मोह को दूर करने के उद्देश्य से वैराग्य, योग एवं निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने मथुरा से ब्रज मण्डल में पहुँचे तो गोपियों के कृष्ण प्रेम की अनन्यता एवं तल्लीनता देखकर अपना समस्त दार्शनिक ज्ञान भूल गए। उनका स्वयं का मोह एवं भ्रम दूर हो गया और वे गोपियों को अपना गुरु मानकर उनकी चरण-रज लेने को लालायित हो उठे। गोपियों के विलक्षण प्रभाव से प्रेमोन्मत्त उद्धवजी की अवस्था का मर्मस्पर्शी चित्रण महाकवि भक्त प्रवर सूरदास ने इस प्रकार किया है–

"लखि गोपिन को प्रेम, नेम उधो को भूल्यौ।
गावत गुन गोपाल, फिरत कुंजनि में फूल्यौ ॥"

(सूरदास)

प्रीति का पथ अनूठा है। जिसे भी श्याम सुन्दर का एक कृपा-कटाक्ष प्राप्त हो जाता है, वही गोपी भाव से युत हो जाता है। गोपी भाव की विलक्षणता अनिर्वचनीय हैं। "उनके प्रेम में भोग है पर स्वसुख की आकांक्षा नहीं, आसक्ति है पर अज्ञान नहीं, वियोग है पर विछोह नहीं, क्रन्दन है पर दुःख नहीं, विरह है पर वेदना नहीं, सेवा है पर अभिमान नहीं, मान है पर गुमान नहीं, दैन्य है पर दयनीयता नहीं, त्याग है पर संन्यास नहीं, ममता है पर मोह नहीं, अनुराग है पर कामना नहीं, तृप्ति है पर अनिच्छा नहीं, सुख है पर स्पृहा नहीं, देह है पर देहाध्यास नहीं, जगत है पर माया नहीं, ब्रह्म है पर निर्गुण नहीं, मुक्ति है पर लय नहीं," इस प्रकार की विलक्षणता भगवत्कृपा से ही सम्भव है।

गोपी भाव में अनन्त भावों का समावेश है। जब प्रभु से सभी प्रकार के सम्बन्ध एक साथ जुड़ते हैं, तभी गोपी-भाव प्राप्त होता है। अपने विलुप्त आनन्द के अन्वेषक भक्त जन गोपी-भाव अपनाकर ही भगवान के साथ स्वरूपानन्द का आस्वादन कर सकते हैं। वस्तुतः गोपियाँ जागृत आत्माएँ एवं श्रीकृष्ण परमात्मा है। परमात्मा अंशी एवं विशुद्ध आत्मा उसका अंश है जो सदैव परमात्मा से मिलने के लिए प्रयासरत है। निकुंज में श्रीकृष्ण से गोपियों का स्नेहमय मिलन आत्मा एवं परमात्मा का ही मिलन है, किन्तु यह मिलन बड़ा अलौकिक है, क्योंकि इसमें गोपी-भाव युत विशुद्ध आत्मा परब्रह्म श्रीकृष्ण में विलीन न होकर प्रेमास्पद के आनन्द के लिए अपने विशुद्ध अस्तित्व को बनाए रखती हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण रस रूप हैं तथा गोपियाँ उनकी रसात्मक शक्तियाँ है। श्रीराधा महाभाव रूपा है, एवं समस्त रसात्मक शक्तियों का पुंज है, वह स्वामिनी स्वरूपा है, प्रभु को आह्लाद प्रदान करने वाली रस-सिद्ध शक्ति है। गोपिकाएं इसी रस सिद्ध शक्ति की भिन्न-भिन्न रूप हैं। रसेश्वर कृष्ण एवं रस सिद्ध शक्ति श्रीराधा दूध और धवलता तथा चन्द्र एवं चन्द्रिका के समान सर्वथा अभिन्न हैं। गोपियाँ इसी चन्द्रिका को प्रसार देने वाली रश्मियाँ हैं। धर्म और धर्मी की तरह गोपिकाएँ भी श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं। भगवान श्रीकृष्ण रस सिद्ध शक्ति श्रीराधा के वश में रहते हैं। श्रीकृष्ण

अपने ही आनन्द का अंश भिन्न-भिन्न गोपियों के रूप में देखकर प्रमन्न होतें हैं, बालक वत् क्रीड़ा करते हैं और अपनी ही रसात्मक शक्तियों के साथ रमण करते हैं। गोपीभाव से ही भगवद् प्रेम रूपी परम रस की सिद्धि होती है। भगवान जिस गोपीभावापन्न भक्त पर जैसी कृपा करते हैं, उसे उसी प्रकार का आनन्द विग्रह प्रदान कर लीला में प्रविष्ट कर लेते हैं।

सच्चिदानन्द भगवान श्रीकृष्ण के 'सत्' रूप से जड़ जगत (प्रकृति) 'चित्' रूप से चैतन्य जीव तथा देवता एवं आनन्द रूप से गो, गोप, गोपी, गोलोक आदि की उत्पत्ति हुई है। आनन्द रूप से समुत्पन्न यह सृष्टि अलौकिक, चिन्मय एवं रसात्मक हैं। गोलोक प्रभु का शाश्वत निज-धाम हैं, जहाँ सदैव प्रभु की आनन्ददायक रसमयी लीलाएँ चलती रहती हैं। कृष्णावतार में प्रभु ने अपनी समस्त रस शक्तियों सहित ब्रज भूमि में अवतार लिया था। यह ब्रज भूमि भी प्राकृत न होकर गोलोक का ही अंश रूप भू-भाग है। इस ब्रज भूमि में हुई लीलाएँ गोलोक में होने वाली नित्य लीलाओं का ही अवतरण हैं। गोपियाँ भी श्रीकृष्ण के साथ ही गोलोक से ब्रज में प्रकट हुई थीं। इन शाश्वत गोपियों के अतिरिक्त भी प्रभु की लीला के रस का पान करने को उत्सुक ऋषि-मुनियों ने एवं वेद की ऋचाओं ने स्वयं में रस का संचार करने की अभिलाषा से कृष्णावतार में गोपी रूप धारण कर लीला रस का परमानन्द प्राप्त किया था। ब्रजांगनाओं के रूप में आविर्भूत ये गोपियाँ अन्यपूर्वा, अनन्यपूर्वा एवं सामान्य भेद से मुख्यतः तीन प्रकार की थीं—

अन्यपूर्वा—जो विवाहित होने पर भी जार भाव से कृष्ण में आसक्त थीं, जिन्होंने लोकलाज और वैदिक मर्यादा को त्याग कर परकीया भाव से श्रीकृष्ण से प्रेम किया, उन्हें अन्यपूर्वा कहते हैं।

अनन्यपूर्वा—जो कुमारियाएँ कृष्ण को पति बनाने की अभिलाषा से व्रत, पूजा, उपवास करती थीं और वे गोपियाँ जो श्रीकृष्ण से ही विवाहित थीं जिन्होंने स्वकीया भाव से श्रीकृष्ण की प्रेम पूर्ण सेवा की तथा जो प्रेम की तीव्रता बढ़ जाने पर कुल मर्यादा तोड़कर कृष्ण से आ मिली थीं, उन्हें अनन्य पूर्वा कहा जाता है।

सामान्या—जिन ब्रजांगनाओं के हृदय श्रीकृष्ण के बाल स्वरूप पर आसक्त थे तथा जो यशोदा मैया की तरह ही मातृ भाव अर्थात् वात्सल्य भाव से प्रभु से स्नेह करती थीं, उन्हें सामान्या कहा जाता है।

पुष्टि मार्ग में श्रीकृष्ण के बाल-स्वरूप की सेवा से भक्ति का प्रारम्भ होता है, यह वात्सल्य भाव की भक्ति है। इसे भक्ति का उच्च रूप माना जाता है, क्योंकि इससे हृदय उदार बनता है, अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा कृष्ण से अपनत्व बढ़ता है। यह भी गोपी भाव है।

अनन्यपूर्वा गोपियों के स्वकीया भाव में मर्यादा-पुष्टि भक्ति रहती है। इस भाव में मधुर रस अपनी प्रारम्भिक अवस्था में रहता है, किन्तु श्रीकृष्ण की सेवा में सजगता एवं तत्परता बनी रहती है यह भी गोपी भाव है, जो पुष्टि भक्ति का उच्चतर रूप है।

अन्यपूर्वा गोपियों के परकीया भाव में जार भाव से प्रभु को प्रेम समर्पित किया जाता है। इसमें माधुर्य भाव परिपक्व होकर मधुर रस में परिणित हो जाता है। पुष्टिमार्ग में इसे पुष्टि-पुष्ट भक्ति कहा जाता है। यही भक्ति का उच्चतम रूप है एवं अन्तिम सोपान है। समाज और मर्यादा की दृष्टि से हेय होने पर भी प्रेम का यह उत्कृष्ट स्वरूप है, जिसे पुष्टिमार्ग में महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

पुष्टिमार्ग में रास रस लेने वाले गोपी स्वरूप भक्तों में एक प्रकार के तामस भक्त भी होते हैं जो कर्म, ज्ञान, योगादि मार्ग छोड़कर केवल भगवान की कृपा का अवलम्बन लेकर भगवत्प्राप्ति करते हैं। ऐसे भक्त सर्वथा निस्साधन होते हैं, इनमें कर्म, ज्ञान योगादि की सामर्थ्य ही नहीं होती। महाप्रभुजी ने ऐसे भक्तों को स्त्री की संज्ञा दी है और अपने भगवद् प्रेम की प्रबलता के कारण ये भी प्रेमा-भक्ति के अधिकारी हैं। स्त्रियों के लिए तो प्रेम करना सहज है किन्तु पुरुष भी चाहे तो गोपी भाव से रास-लीला का आनन्द प्राप्त कर सकता है। रास का रस प्राप्त करने हेतु सर्वात्म भाव एवं श्रीकृष्ण के प्रति समर्पण आवश्यक है। गोपियों द्वारा भी दैन्य भाव से आत्म-समर्पण करने पर ही श्रीकृष्ण ने प्रकट होकर उन्हें रास का परमानन्द दिया था। महाप्रभुजी के अनुसार रास-लीला में प्रवेश पाने वाली गोपियाँ भी उन्नीस प्रकार की है, इसीलिए गोपी-गीत में उन्नीस प्रकार के वाक्यों में विरह भाव प्रकट हुआ है।

पुष्टि मार्ग में मधुर भाव से भक्ति करने वाले भक्त सखि रूप एवं सख्य भाव से भक्ति करने वाले भक्त सखा रूप माने जाते हैं। मुख्य सखा आठ हैं और सखियाँ भी आठ हैं। अष्ट छाप के भक्त कवि गोचारण लीला में सखा रूप में एवं निकुंज लीला में सखि बनकर प्रभु के साथ ही

रहते हैं। श्रीराधा, चन्द्रावली, यमुना आदि स्वामिनी हैं और उनके प्रत्येक यूथ में अनेक सखा एवं सखियां हैं। जो अपनी इन्द्रियों रूपी गो पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, ऐसे स्त्री-पुरुष ही गोप-गोपियाँ हैं। गोलोक में गोपाल के साथ गोप-गोपी बनकर रहना पुष्टि भक्ति का चरमोत्कर्ष है।

श्रीगोसाईंजी तथा श्री महाप्रभु जी के अनुसार समस्त पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का सार यही है कि शरणागत भक्त गोपी भाव से प्रभु की सेवा करें। श्रीगोसाईंजी ने 252 वैष्णवन की वार्ता में नागजी भाई साठोदरा के प्रसंग में गोपी भाव से ही प्रभु की सेवा करने का निर्देश दिया है। जो गोपियों जैसे प्रगाढ़ प्रेम की भावना के अनुरूप प्रभु की सेवा करती हैं तो उन्हें भगवान के साथ नित्य संयोग तथा रास रूप महाफल प्राप्त होता है, जो पुष्टि मार्ग का सम्पूर्ण फल है। शरण में लेकर जीव को गोपी-जन-वल्लभ का प्रिय-भाजन बना देना ही महाप्रभु जी का मुख्य कार्य था। वे जीव को किसी कर्तव्य अथवा सिद्धान्त का बोध न करा कर उसके गोपी भाव को ही प्रस्फुटित कर देते ताकि उसे सहज ही भगवत्प्राप्ति हो जावें।

"अंगीकृत्यैव गोपीशः वल्लभीकृत मानवः।"

(सर्वोत्तम स्तोत्र)

महाप्रभुजी ने अपने वंशजों के निर्देश के लिए जो साढ़े तीन शिक्षा श्लोक लिखे उनमें अन्तिम श्लोकार्द्ध में यह स्पष्ट कर दिया है कि पुष्टिमार्गीय आचार्यों के लिए भी प्रभु का गोपीश स्वरूप ही सेव्य रूप में इष्ट है–

"सेव्यः स एव गोपीशो विधास्यत्यखिलं हि नः"

(शिक्षा लोक)

महाप्रभु द्वारा शिक्षा-श्लोक लिख देने के पश्चात् गोवर्द्धनधरण प्रभु ने डेढ़ श्लोक और लिखकर महाप्रभु की सम्मति का अनुमोदन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि यदि वल्लभ-वंशजों का मेरे गोपीजन-वल्लभ स्वरूप में विश्वास बना रहा तो उनके समस्त कार्य मेरे द्वारा ही सम्पादित होंगे और जीवन में शोचनीय स्थिति नहीं बनेगी।

"मयि चेदस्ति विश्वासः श्रीगोपीजन वल्लभे।
तथा कृतार्थाः यूयं हि शोचनीयं न कर्हिचित् ॥"

इस प्रकार प्रभु ने भी अपने गोपीजन-वल्लभ स्वरूप की ही सेवा करने का आदेश दिया हैं प्रभु गोपीजन को प्रिय हैं और गोपियाँ उन्हें प्रिय

हैं अतः गोपीभाव से ठाकुरजी की घर में सेवा करना, दौड़-दौड़ कर नन्दालय (ठाकुरजी के मन्दिर) में दर्शन के लिए जाना एवं उनकी सेवा करना एवं निकुंज लीला में गोपी भाव से सेवा करना आदि गोपियों की त्रिविध सेवा रीति अपनाना पुष्टिमार्गीय भक्तजन हेतु प्रभु को प्रसन्न करने का महत्त्वपूर्ण उपाय है। गोपी भाव की सेवा से गोकुलाधीश के संयोग और वियोग की दोनों अवस्थाएँ सुखकर हो जाती हैं।

महाप्रभुजी एवं गुसाईंजी ने गोपी भाव से युत होकर निकुंज-नायक श्रीनाथजी की भीतरी एवं बाहरी सेवा-विधि अपनाने का निर्देश दिया है। वस्तुतः गोपी भाव से युत होकर अर्थात् गोपी भाव के अनुरूप ही प्रभु की सेवा का विधान है जिसे समस्त सेवक वृन्द एवं वैष्णव जन को अपनाना आवश्यक है। गोपी भाव के अभाव में परम्परागत सेवा-विधि भी औपचारिकता मात्र बनकर रह जावेगी और प्रभु की प्रसन्नता का कारण नहीं बनेगी। पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का ज्ञान होने पर भी यदि हृदय में गोपी भाव स्फुरित नहीं होता तो स्थिति शोचनीय है। ऐसे व्यक्तियों का चिन्तन एवं लेखन भी पुष्टिमार्ग में ग्राह्य नहीं है। इसके विपरीत सिद्धान्तों का ज्ञान न होने पर भी यदि किसी में गोपी भाव स्फुरित हो चुका हो तो निश्चय ही प्रभु द्वारा अंगीकृत भक्त है, ऐसा मानना समीचीन है।

श्रीठाकुरजी के समक्ष ब्रह्म-सम्बन्ध लेते समय जो आत्मनिवेदन किया था उसी के अनुरूप यदि समर्पित भक्त-जन अहंता एवं ममता का त्याग कर लौकिक एवं वैदिक भावों का परित्याग कर गोपी भाव से प्रभु की स्नेहमयी सेवा करेंगे तो उन्हें निश्चित ही पुष्टिमार्ग का परम फल मिलेगा, भगवत्प्राप्ति होगी, यही मेरा दृढ़ मत है जो गोपीश के चरणों में सस्नेह समर्पित है।

गोपी-गीत से

"न खलु गोपिका नन्दनो भवान्
अखिल देहिनामन्तरात्म दृक्।
विखन सार्थितो विश्व गुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वताम् कुले ॥"

श्रीमद भागवत (10/31/4)

"तव कथामृतं तप्तजीवनं
कवि भिरीडितं कल्मषापहम्

श्रवण मंगलं श्रीमदायतं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥''
श्रीमद् भागवत (10/31/9)

''भगवान श्रीकृष्ण ही एक मात्र वरेण्य हैं''

वरेण्य का अर्थ है, जो वरण करने योग्य हो, जो पूर्णतम हो, सर्व सामर्थ्य युक्त हो, सर्वगुण सम्पन्न हो तथा जो समस्त कलाओं में दक्ष हो। वरेण्य वही हो सकता है जिसे एक बार वरण करने पर अन्य किसी को पुनः वरण करने की इच्छा एवं आवश्यकता ही नहीं रहे। मानव जीवन में वरण का अत्यधिक महत्त्व है। अनेक विकल्पों में से श्रेष्ठतम विकल्प का वरण करना मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। मनुष्येतर प्राणी भी अपनी जीवन सुविधा के लिए श्रेष्ठ वस्तु का ही चयन करते हैं। विकल्प न होने की अवस्था में वरण सम्भव नहीं है। विवश स्थिति में नियति द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, उसी में सन्तोष करना पड़ता है। जीवन में श्रेष्ठ वस्तुओं को प्राप्त करने एवं श्रेष्ठ व्यक्तियों से सम्पर्क करने के लिए प्रयास भी करना पड़ता है। अज्ञानी मनुष्य देह एवं आत्मा का, नश्वर एवं अविनाशी का अन्तर नहीं समझता इसलिए नश्वर जीवनोपयोगी सुख साधनों को वरण कर प्रभु को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त नहीं होता। नश्वर पदार्थों की प्राप्ति कर लेने पर भी जीवन में सच्चे सुख एवं शान्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं होता। विरासत से प्राप्त माता-पिता, भाई, बहन आदि के पारिवारिक सम्बन्धों में वरण की स्वतन्त्रता नहीं होती अतः उन सम्बन्धों का निर्वाह मनुष्य को विवशता से भी करना पड़ता है। विवाह एवं गुरु-शिष्य सम्बन्धों में वरण की स्वतन्त्रता अवश्य रहती है अतः मनुष्य इन सम्बन्धों के लिए श्रेष्ठतम का वरण कर सकता है।

विवेकवान पुरुष प्रेय मार्ग की तुलना में श्रेय मार्ग का वरण कर अपना आत्मिक उत्थान करता है, भौतिकता से ऊपर उठकर अध्यात्म की ओर उन्मुख होता है। अध्यात्म में भी असंख्य विकल्प हैं जो सभी आत्मा के लिए श्रेयस्कर हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से जीवात्मा परमात्मा का ही वरण करती है किन्तु वरण-स्वतन्त्रता की बात अपने इष्टदेव के वरण पर भी लागू होती है। जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है तथा **''यो यदंशः सः**

तं भजेत्" के अनुसार जो जिसका अंश होता है, उसे अपने उसी अंशी की ही उपासना करना उचित है। परमात्मा विभिन्न स्वरूपों में होते हुए यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से एक ही है तथापि रुचि की भिन्नता के कारण जीवात्माएँ परमात्मा के विभिन्न स्वरूपों का वरण किया करती हैं। कतिपय जीवात्माएँ परमात्मा के निर्गुण प्रकाशमय स्वरूप का तो कतिपय उनके सगुण साकार स्वरूप का वरण करती है। विष्णु के विभिन्न अवतारों से लेकर, ब्रह्मा, शिव, गणेश, सहित विभिन्न देवी-देवताओं का भी अपने इष्ट देव के रूप में वरण कर जीवात्माएँ विभिन्न प्रकार के साधन मार्गों में प्रवृत्त होती हैं। यद्यपि परमात्मा के उक्त विभिन्न स्वरूप भी अपनी-अपनी क्षमता के अनुरूप मनुष्य की इहलौकिक एवं पारलौकिक कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं तथापि पूर्णता के अभाव में वे मनुष्य की परमानन्द प्राप्त करने की चिर-पिपासा शान्त नहीं कर सकते।

कई आत्माएँ गुरु का वरण करती हैं। जो गुरु परमात्मा के जिस प्रकार के स्वरूप का उपासक होता है, वह उन आत्माओं को अपने उपास्य एवं अपने साधन पथ की ओर बढ़ाता है। जो सद्गुरु परम भगवदीय, श्रीकृष्ण-सेवा-परायण तथा श्रीमद्भागवत का एवं श्रीकृष्ण की लीलाओं का मर्मज्ञ होता है, वह उन्हें श्रीकृष्ण-सेवा-परायण बनाकर उनको लीला में प्रवेश का अधिकारी बना देता है। वरण की यह प्रक्रिया केवल मनुष्य की तरफ से ही सम्पन्न होती हो, ऐसा नहीं है। **"यमे वेष वृणुते"** श्रुति वाक्य से ही प्रतिपादित होता है कि आत्मा अथवा परमात्मा ही जीव का वरण कर उसे अपनी ओर उन्मुख करते हैं। आत्मा जिसे वरण करती है, वही उसे जान सकता है। आत्मा अथवा ब्रह्म (निर्विशेष) द्वारा वरण किए जाने पर मनुष्य आत्मज्ञानी अथवा ब्रह्मज्ञानी बन जाता है। भगवान श्रीकृष्ण जिसका वरण करते हैं, वह भी भगवत् तत्त्व का ज्ञाता होकर उनकी लीलाओं का रहस्य समझ जाता है। प्रभु द्वारा किया गया वरण जीव की किसी योग्यता एवं पात्रता पर निर्भर न होकर नितान्त अहैतुक एवं विशुद्ध करुणा मूलक होता है। इस प्रकार के वरण की प्रतीक्षा करना भी भक्ति का ही अंग है किन्तु इसके लिए प्रबल धैर्य की आवश्यकता है। इसलिए अनेक कृपालु आचार्यों ने मनुष्य को स्वयं आगे बढ़कर भगवान का वरण करने के लिए प्रोत्साहित किया है।

भगवद् तत्त्व भी अज्ञात है तथा अज्ञात तत्त्व का वरण सम्भव नहीं

है किन्तु भगवान की कथाओं के श्रवण से तथा सत्संग से यह ज्ञात होने लगता है । भगवान के माहात्म्य ज्ञान एवं उनकी लीलाओं के श्रवण से भगवान के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तथापि वरण के अभाव में भगवान से सम्बन्ध नहीं जुड़ता। वेदों में वर्णित ब्रह्म, स्मृतियों में वर्णित परमात्मा एवं पुराणों में वर्णित भगवान यद्यपि तत्त्वतः एक ही है किन्तु श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व है, यह जान लेना ही भगवत्-तत्त्व का ज्ञान है। इस भगवद्-तत्त्व के ज्ञान के अभाव में जो भी तत्त्व ज्ञान है, चाहे वह सांख्य वर्णित तत्त्व ज्ञान हो, चाहे आत्म ज्ञान हो, चाहे ब्रह्म ज्ञान ही क्यों न हो नीरस एवं शुष्क हैं। **"रसौ वै सः"** के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, सच्चिदानन्द घन हैं एवं रस-स्वरूप हैं उनकी कृपा सर्वोपरि है, वे परम स्नेही हैं, प्राप्त करने योग्य हैं अतः उनका वरण ही सार्थक है। पुष्टिमार्ग में ब्रह्म सम्बन्ध प्रक्रिया भगवान श्रीकृष्ण को वरण करने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के निर्देशन में आत्म निवेदन द्वारा भगवान श्रीकृष्ण का वरण किया जाता है और उनसे भावात्मक सम्बन्ध जोड़ा जाता है। महाप्रभु श्रीहरिरायजी ने अपने शिक्षा पत्र में दो प्रकार के वरण का उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्रभु जिस पर अनुग्रह करते हैं, स्वयं अपनी लीला के लिए उसका वरण कर लेते हैं, यह प्रथम प्रकार का वरण है। द्वितीय प्रकार का वरण मनुष्य करता है। श्रीकृष्ण-सेवा-परायण आचार्य अथवा सद्गुरु जीव को भगवान की ओर उन्मुख कर उसका प्रभु से सम्बन्ध कराते हैं, यही ब्रह्म-सम्बन्ध है।

द्वितीय प्रकार के वरण में यदि आचार्य का आग्रह मुख्य एवं वरण करने वाले मनुष्य में उत्साह की न्यूनता रहती है तो इस प्रकार का वरण रुढ़िबद्ध एवं औपचारिक मात्र रह जाता है। यदि प्रभु का स्वेच्छा से एवं स्नेह भाव से वरण किया जाता है तो यह वरण भी महत्त्वपूर्ण एवं असाधारण हो जाता है। सकाम अथवा निष्काम किसी भी भाव से प्रभु का वरण करना सार्थक ही होता है तथापि विशुद्ध भक्ति के उद्रेक हेतु निष्काम भाव ही उपादेय होता है। वरण का अर्थ है, स्वीकार करना, अंगीकार करना, प्रभु को अपना मानना। जो प्रभु को अपना मानते हैं, वे किसी विशेष सम्बन्ध द्वारा उनसे जुड़कर, उनके निज-जन बन जाते हैं। भगवान को केवल भगवान के रूप में ही स्वीकार नहीं करना है, अपितु अपने भाव-सम्बन्ध के अनुसार उनके प्रति स्नेह भाव एवं सेवा धर्म का

निर्वाह करना है। सर्वभाव का सम्बन्ध बन जाने पर गोपी भाव उदित हो जाता है और मनुष्य स्वयं को भगवद् प्रीत्यर्थ नियोजित कर देता है। स्नेह की इस उच्चतम अवस्था में वह स्वयं के सुख की कोई कामना न रख प्रभु को सुख पहुँचाने की भावना रखता है।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ने भगवान श्रीकृष्ण को ही वरेण्य एवं उनकी सेवा को ही परम धर्म माना है। श्रीकृष्ण ही सत् रूप से जड़ प्रकृति में, चित् रूप से समस्त चेतन जीवों में एवं आनन्द रूप से सभी भूतों के हृदय में अन्तर्यामी बनकर स्थित हैं। वे ही ब्रह्म हैं, सत्यं शिवं सुन्दरम् हैं, पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, सच्चिदानन्दघन हैं, माया सम्बन्ध रहित एक मात्र अद्वय तत्त्व हैं, सर्वरूप ब्रह्म हैं, सर्वरूप तथा अद्वितीय हैं। श्रीकृष्ण ही अनादि, समस्त कारणों के मूल कारण **"अणोरणीयान्-महतो महीयान्"** हैं। वे ही श्री, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य, यश एवं वैराग्यादि षट् ऐश्वर्यों से परिपूर्ण हैं। वे मात्र अवतार न होकर स्वयं भगवान हैं। श्रीकृष्ण ही कूटस्थ ब्रह्म के सगुण साकार स्वरूप हैं, वे प्राकृत गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण एवं आनन्दादि अप्राकृत अलौकिक गुणों से सम्पन्न होने के कारण पूर्णतः सगुण साकार हैं। श्रीकृष्ण के स्वरूप में परस्पर विरोधी तत्त्वों का एक साथ समावेश है, वे विरुद्धधर्माश्रय हैं। वे ही मायाधिपति हैं, महाविष्णु भी उन्हीं के अंश हैं, ब्रह्मा, विष्णु एवं महेशादि त्रिदेव भी श्रीकृष्ण के ही अप्राकृत रज, सत् एवं तम आदि गुणों के अवतार हैं। श्रीकृष्ण का निज स्वरूप आधिदैविक है, अक्षर ब्रह्म उन्हीं का आध्यात्मिक एवं सम्पूर्ण जगत उन्हीं का आधिभौतिक स्वरूप है। समस्त देवी-देवता एवं विशिष्ट विभूतियाँ भी उन्हीं का अंश रूप हैं। श्रीकृष्ण ही इस जगत के माता-पिता, धारक एवं पितामह हैं, चराचर जगत के आधार हैं, अतः वे ही वरण करने योग्य हैं।

भगवान श्रीकृष्ण की तुलना में मनुष्य के लिए अन्य कोई वरेण्य हो ही नहीं सकता। सकल वेद, शास्त्र, पुराण, निगम एवं आगम आदि ग्रन्थ भी इसी तथ्य का अनुमोदन करते हैं। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य सभी स्वरूप प्राकृत हैं, उनमें आनन्द की आंशिक न्यूनता होने से वे गणितानन्द मात्र हैं। श्रीकृष्ण ही पूर्णानन्द हैं, उनसे स्नेह करने पर ही परमानन्द सुलभ होता है जो ब्रह्मानन्द से भी अनन्त गुणा बढ़कर है। श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जीवों के एक मात्र रक्षक हैं। श्रीकृष्ण के चरणों का दृढ़ आश्रय ही इस

संसार-सागर को पार कराने वाला है। श्रीकृष्ण ही पतितों का भी उद्धार कराने वाले हैं–

"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्या स्तथा शूद्राः, तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥"

(गीता 9/32)

भगवान श्रीकृष्ण की शरण में जाने से सम्पूर्ण दुरितों का क्षय हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं ही अपने मुखारविन्द से अर्जुन को समस्त धर्मों का परित्याग कर अपनी शरण में आने का, अपने मन एवं बुद्धि को उनके स्वरूप में ही लगाने का परामर्श दिया है–

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"

(गीता 18/66)

इतना ही नहीं उनकी शरण में जाकर उनका अनन्य चिन्तन करने वाले भक्त जन के योग-क्षेम के निर्वाह का वचन देकर वे शरणागत जीव को सर्वथा निर्द्वन्द्व, निर्भय एवं निश्चिन्त कर देते हैं–

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां, योग क्षेमं वहाम्यहम् ॥"

(गीता 9/22)

इस प्रकार के सर्व सामर्थ्य युक्त, स्नेह-परवश, पर-दुःख-कातर, करुणामय भगवान श्रीकृष्ण को वरण न कर जो किसी अन्य का वरण करते हैं वे तो भक्त प्रवर सूरदास के शब्दों में कामधेनु का दूध त्याग कर छेरी (अजा) के दूध का ही सेवन करने वाले हैं। भगवान श्रीकृष्ण को वरण किए बिना मानव जीवन का पंचम पुरुषार्थ "भगवद् प्रेम" सिद्ध नहीं हो सकता। इतना ही नहीं इसके अभाव में उसे अपने आनन्दमय स्वरूप की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। प्राणी मात्र के अकारण हितैषी एवं परम सुहृद भगवान श्रीकृष्ण का वरण न करना, अथवा उनका वरण कर उनसे प्रेम न करना घोर आत्म-प्रवंचना है। भगवान श्रीकृष्ण से प्रेम करने पर ही सत्व की संशुद्धि होती है, स्वरूप की प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण भी प्रेम का प्रतिदान करने में पीछे नहीं रहते, वे भी स्नेही भक्त जन को ब्रज रस लुटाकर सदैव के लिए अपनी स्वरूप-माधुरी एवं लीला-माधुरी से उनके चित्त को चुरा कर उन्हें सदा

के लिए निज जन बना लेते हैं। समस्त वेदों, शास्त्रों एवं पुराणों का सार यही है कि श्रीकृष्ण ही वरेण्य हैं, प्राप्त करने योग्य हैं, सेव्य हैं तथा उन्हें केवल प्रेम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

''सर्वदा सर्व भावेन, भजनीयो ब्रजाधिपः''

भक्ति-मार्ग में भगवत् अनुग्रह-बोध हेतु अनन्य भाव की सार्थकता

भक्ति मार्ग में भगवत् अनुग्रह-बोध का एक मात्र आधार अनन्यता का भाव है। साधना काल में जीवात्माओं को उत्तरोत्तर भगवत् अनुग्रह का साक्षात्कार होता रहता है। अनुग्रह का साक्षात्कार ही उसे अविरल गन्तव्य की ओर गतिशील करता है। जहाँ अनुग्रह-बोध की अनुभूति मन्द हो जाती है वहीं जीवात्मा की गति शिथिल हो जाती है एवं अनुग्रह-बोध के नितान्त अभाव में चेतना ऊर्ध्वोन्मुखी नहीं रह पाती है। चित्त की विषयाकार वृत्ति होने से जीवात्मा के दृष्टि पथ की परिधि संकुचित हो जाती है और वह भौतिक उपलब्धियों में ही उस अनुग्रह की झलक देख पाती है। भगवत्-विषयक रति के उत्तरोत्तर आविर्भाव होने पर ही जीवात्मा की संकुचित अविद्याजनित वासना का तिरोभाव हो पाता है। कालान्तर में यही भगवत्-प्रेम जीवात्मा के अस्तित्व को सार्थक सिद्ध करने वाला एक मात्र अवलम्बन बन जाता है।

भगवत्प्रेम के चरमोत्कर्ष से पूर्व जीवात्मा की आकांक्षा सदैव भौतिक-परिवेश में अपने क्षेम का प्रतिफलन चाहती है, परन्तु यह अनुग्रह-बोध की अवस्था नहीं है। अनुग्रह का यथार्थ तात्पर्य आत्मविकास हेतु प्राप्त परमात्म-कृपा की दिव्य अनुभूति है जिसके माध्यम से जीवात्मा अपनी लघु सत्ता के यथार्थ बोध को ग्रहण करने के साथ ही विराट एवं अलौकिक सत्ता से अपने तात्त्विक सम्बन्ध की प्रत्यभिज्ञा करती है। भगवद् अनुग्रह की परिधि चक्राकार है अतः कभी तो इसकी उपलब्धि जीवात्मा की वैयक्तिक इच्छा के अनुरूप एवं अधिकतर विराट सत्ता के समक्ष सीमातिक्रमण की अक्षमता के रूप में प्रतिफलित होती है। प्रथम अवस्था में जीवात्मा में भगवान के प्रति दृढ़ निष्ठा का अभ्युदय होता है एवं द्वितीय अवस्था में उसके जीवत्व का परिमार्जन होता है। परिणामतः

दोनों अवस्थाएँ हितकारिणी हैं। यह प्रक्रिया सम्पूर्ण साधना काल तक चलती रहती है। इसका अन्त तभी होता है जब जीवत्व का परिमार्जन शेष नहीं रहता ।

इस प्रक्रिया में अप्रत्यक्ष रूप से जीवात्मा की भौतिक वासनाओं का क्षय होता रहता है एवं इन वासनाओं की पृष्ठ-भूमि में निहित ऊर्जा स्वतः स्वरूप-साक्षात्कार के प्रबल सहकरण के रूप में परिवर्तित हो जाती है। वस्तुतः जीव और ब्रह्म के स्वाभाविक सम्बन्ध की गवेषणा एवं अनुभूति के लिए भगवत् अनुग्रह ही एक मात्र माध्यम है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस अनुग्रह को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? जीवात्मा केवल भौतिक प्रतिफलन में ही अनुग्रह का बोध करने का अभ्यस्त हो गया है अतः निरपेक्ष चेतना में उसको अनुग्रह बोध नहीं हो पाता। फिर परमात्मा का यह अनुग्रह अकारण माना गया है अतः जीवात्मा का तिल मात्र भी दुराग्रह इस सम्बन्ध में नहीं चल पाता है। अनुग्रह बोध के बिना गति बनती नहीं और अनुग्रह प्राप्ति का कोई सा साधन या उपाय जीवात्मा के पास नहीं। परन्तु इस स्थिति में धैर्य खोने की आवश्यकता नहीं है। भगवती श्रुति का मत है कि परमात्मा स्वभाव से ही करुणामय है एवं जीवात्माओं के अहर्निश कल्याण हेतु उसमें से स्वतः प्रतिक्षण करुणा-तरंगें प्रवाहित होती रहती हैं। विडम्बना केवल यही है कि जीवात्मा को इन करुणाप्लावित करने वाली तरंगों का बोध नहीं हो पाता। परमात्मा के इसी सतत प्रवहमान अनुग्रह से अभिभूत होने के लिए ही अनन्य भाव से समर्पण की आवश्यकता है। दीक्षा द्वारा इसी अनन्य भाव के स्थिरीकरण का प्रयत्न किया जाता है।

अनन्य भाव से समर्पित जीवात्मा अहर्निश भगवद्-अनुग्रह का सुधा-पान करता रहता है। यह अनुग्रह रूपी कृपामृत उसी महापुरुष को प्राप्त होता है जो अनन्य भाव से परमात्म-स्वरूप के सामने अपने लघु परिवेश-जनित दैन्य को धारण कर स्थिर रह पाता है। चूँकि अनन्य भाव ही अनुग्रह बोध का एक मात्र आधार है अतः वल्लभ दर्शन में इसका सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। गोपियों का भगवान श्रीकृष्ण के संयोग में महारास-लीला में स्थान पाने का आधार भी यही अनन्य भाव है। इसीलिए जहाँ-जहाँ अनन्य भाव का तिरोभाव हुआ है, वहीं पर श्रीकृष्ण-विरह का प्रादुर्भाव हुआ है। अनन्य भाव को प्राप्त जीवात्माएँ ही उस महारास-मण्डल

की गोपिकाएँ हैं जिनके सर्व सांसारिक सम्बन्धों एवं धर्मों का समावेश एक मात्र श्रीकृष्ण के पावन निरपेक्ष सम्बन्ध में हो चुका है। सम्पूर्ण गीता के श्रवण के बाद अर्जुन के जिस अविद्या जनित संशय की निवृत्ति हो पायी उस सन्देह का लेश मात्र भी गोपिकाओं के मन में नहीं था। उनके मन में तो अविरल परमात्म-स्वरूप श्रीकृष्ण की एक ही स्मरणीय छवि अंकित थी। अनन्यता का यह पाथेय जीवात्मा के निष्कामी स्वरूप को उद्‌घाटित करने में समर्थ है। साधना-काल में यही अनन्य भाव उस विराट के किसी एक नाम एवं स्वरूप तक ही सीमित रहकर प्रिय एवं जगत् के बीच एक विभेदक रेखा खींच देता है परन्तु सिद्धि काल में सम्पूर्ण जगत् प्रियतममय हो जाता है। यही महाभाव जिसे महाप्रभु श्रीमद्‌वल्लभ ने धारण किया था और जिसे धारण करने के बाद सम्पूर्ण जगत् का कृत्रिम बोध तिरोहित होकर उस लीला निकेतन आननन्दघन श्रीकृष्ण की एक मात्र अलौकिक, मधुर एवं रमणीय छवि ही अवशिष्ट रह जाती है जिसके लिए योगस्थ एवं ब्रह्मवेत्ता पुरुष भी लालायित रहते हैं। अतः समस्त प्रतीयमान लोक सत्ताओं का समावेश परमात्म-स्वरूप श्रीकृष्ण में अन्तर्निहित मानकर अनन्य भाव से उनकी आराधना अपेक्षित है। पं. मधुसूदन सरस्वती की निम्नांकित अभिव्यक्ति तात्त्विक दृष्टि से परमात्मस्वरूप श्रीकृष्ण में ही एक मात्र अन्तिम तत्त्व की उपलब्धि का उद्‌घोष करती है–

"बंशी-विभूषित करान्-नव नीरदाभात्
पीताम्बरादरूण बिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दु सुन्दर मुखारविन्द नेत्रात्
श्रीकृष्णापत्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥"

सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति भाव एवं उनके अनुग्रह का बोध सभी जीवात्माओं को प्राप्त हो, यही शुभ कामना है।

सर्व धर्मान् परित्यज्य

आज कामाकुल बुद्धि ने मानवों के अन्तःकरण को विक्षुब्ध कर रखा है। अविद्या से ग्रस्त मानव समुदाय में अहर्निश राग रूपी रोग की वृद्धि हो रही है। तमोगुण एवं रजोगुण के आधिक्य ने सतोगुण को प्रच्छन्न कर लिया है। सत्वगुण के अभाव में चित्त में आनन्द का

आविर्भाव होना अत्यन्त दुष्कर हो गया है। भूत-दया, मैत्री, करुणा एवं आत्म-सन्तोष आदि उदात्त गुणों का लोप होता जा रहा है। स्वार्थान्ध जीवों का एक मात्र कार्य जीना एवं मरना शेष रह गया है। दुष्टों का संग पद-पद पर सुलभ है जो चित्त को आनन्द से विच्छिन्न करने में सहायक सिद्ध हो रहा है।

जहाँ एक ओर अन्तःकरण में सतोगुण के अभाव से दुष्प्रवृत्तियों का अभ्युदय हो रहा है वहाँ दूसरी ओर दर्शन के बौद्धिक ऊहापोह में उलझकर कामाकुल बुद्धि केवल पाखन्डा अथवा दम्भ का विस्तार कर रही है। सात्विक अनुभूतियों के अभाव में बुद्धि कलुषित हो अपने गन्तव्य को निश्चित नहीं कर पा रही है। संक्षेपतः आज मानव आभ्यन्तरिक एवं बाह्य धरातल पर भ्रष्टाचार का महान् संगम बना हुआ है। व्यथित एवं व्याकुल होने पर भी वह इस स्थिति से मुक्त नहीं हो पा रहा है। वह ज्ञानी होने का पूर्ण अभिनय करता हुआ भी आन्तरिक आनन्द के अभाव में विक्षुब्ध है।

यद्यपि धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार की अनेक साधन-पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जिनका यथोचित पालन कर मानव अपनी इस क्षुद्र स्थिति से ऊपर उठ सकता है। तथापि वे समस्त साधन-पद्धतियाँ प्रबुद्धता एवं संयम की अपेक्षा करती हैं। साथ ही साधना मार्ग में एकाकी आरूढ़ होने पर किसी महत् संबल के अभाव में सिद्धि प्राप्त नहीं होती। फिर यदि इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त हो भी गयी तो वह अस्थायी एवं अधूरी ही होती है क्योंकि गन्तव्य फिर शेष ही बना रहता है। अतः अब देखना यह है कि वह कौन सा महान् धर्म है जिसे धारण कर मानव समस्त क्लेशों से मुक्त होकर अहर्निश उस दिव्य एवं लोकोत्तर आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है। मेरे दृष्टिकोण से वह धर्म एक ही है जिसका रहस्योद्घाटन सच्चिदानन्दघन भगवान श्रीकृष्ण ने अपने परम प्रिय भक्त अर्जुन के समक्ष किया था। भगवान् की भक्त के प्रति अकारण प्रीति का यह चरमोत्कर्ष था जिसमें भगवान् की ओर से भक्त के जन्म-जन्मान्तर के समस्त लेखों-जोखों का उत्तरदायित्व स्वयं भगवान् के द्वारा वहन करने की घोषणा थी। भगवान् श्रीकृष्ण ने नाना प्रकार के मार्गों में से अपने लिए उचित मार्ग को न खोज पाने वाले उस परमप्रिय भक्त अर्जुन को स्पष्ट सुझाव दिया कि–

"सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वां सर्वं पापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"

(भ. गीता)

(हे अर्जुन ! समस्त धर्मों का परित्याग कर तू मुझ एक की शरण को ही प्राप्त कर। मैं तुझे समस्त पाप एवं क्लेशों से छुड़ा दूँगा। इस विषय में निश्चिन्त रह।)

भगवान श्रीकृष्ण की यह अनुग्रह-पूर्ण घोषणा ही समस्त भक्तों का आलम्बन एवं समस्त वैष्णव धर्मों की आधार भित्ति बनी। शरणागति के लिए प्रोत्साहित करने वाला यह सुझाव ऐसी अचूक, अमोघ एवं रामबाण औषधि है जिसे धारण करने पर शरणागत भक्त के लिए कुछ भी चिन्तन करना शेष नहीं रह जाता। समर्पित भक्त स्वयं को भगवान् के आश्रय में उपलब्ध कर कृत-कृत्य हो उठता है। अपने अनन्य भक्त के लिए शरणागत वत्सल भगवान की ऐसी महती कृपा समुचित ही है। भगवान् के परम अनुग्रह होने पर भक्त को समस्त लोक-धर्मों की निस्सारता का अनुभव हो जाता है। वह समस्त लोक-धर्मों के केंचुल का सर्वथा परित्याग कर अहर्निश अनन्य भाव से केवल भगवान श्रीकृष्ण में लीन रहता है। अतः कहा जा सकता है कि इस प्रकार की अनन्य पराभक्ति प्राप्त करने हेतु भगवत् अनुग्रह परमावश्यक है। सभी भक्त महान् ही होते हैं परन्तु अनन्य भक्ति की पात्रता सब में नहीं होती अतः अधिकांश भक्तों का उन्नयन लोक-धर्मों के समाश्रय द्वारा होता है, परन्तु जिन्हें भगवत्-प्रेम के अतिरिक्त और किसी प्रकार की आकांक्षाएँ नहीं होतीं, जो केवल प्रेमी हैं उन्हें ही यह अनन्यता प्राप्त हो सकती है।

भगवान श्रीकृष्ण ने समस्त धर्मों का परित्याग करने का जो सुझाव अर्जुन के समक्ष रखा उसका अत्यन्त गूढ़ रहस्य है। अन्य समस्त धर्म सीमित अभिव्यक्ति के कारण प्रकारान्तर से साधक होते हुए भी अन्तिम परिणति में बाधक ही सिद्ध होते हैं। भगवान् अपने प्रिय भक्तों को समस्त भटकनों से बचाना चाहते हैं अतः वे इन धर्मों के परित्याग का संकेत कर अपने एवं भक्त के बीच प्रतीयमान व्यवधान को हटाने का आदेश देते हैं।

अब देखना यह है कि इन धर्मों का परित्याग करना किस प्रकार सम्भव है? क्या इन्द्रियाँ अपने स्वाभाविक धर्म का परित्याग कर दें, कान

सुनना छोड़ दें, हाथ कार्य करना बन्द कर दें, पाँव चलना छोड दें एवं बुद्धि विचार करना छोड़ दें, या मन संकल्प-विकल्प करना छोड़ दे अथवा संस्कार जनित रुचि से अन्य देवों की पूजा उपासना का परित्याग कर दिया जावे? वस्तुतः सर्व धर्मान् परित्यज्य का यह अर्थ कदापि नहीं है। इसका अभिप्राय मात्र इतना ही है कि हमारी चित्तवृत्ति अनन्यता पूर्वक भगवान में तल्लीन हो ताकि समस्त इन्द्रियाँ भी विषय की ओर प्रवाहित होने के बजाय भगवान् की ओर उन्मुख हों। हमारे नयन सर्वत्र अपने आराध्य श्रीकृष्ण के सौन्दर्य की छवि का पान करें। हमारे कान सर्वदा प्रभु यश सुनें, हमारी जिह्वा सदा प्रभु का मंगलमय गुणगान करने में प्रवृत्त हो, मन में इच्छा केवल भगवान के लिए ही हो एवं बुद्धि केवल भगवान का चिन्तन करती रहे। एक बार इस प्रकार समस्त इन्द्रियों को नियोजित कर देने पर ये स्वतः उसी भगवत्-प्रेम का ग्रहण एवं अभिव्यक्ति करने लग जाती है। समस्त तर्क-वितर्कों से परे होकर प्रज्ञा युक्त हो जाना ही बुद्धि के धर्म का त्याग है। दुविधाग्रस्त मन ही संकल्प-विकल्प से युक्त रहता है।

समर्पित मन में एक मात्र ईश्वरार्थ शिव-संकल्प का ही प्रादुर्भाव होता है अतः संकल्पों का परित्याग ही मन के धर्म का परित्याग है। सांसारिक विषयों को ग्रहण न कर उनकी ओर उदासीन रहना ही इन्द्रियों के धर्मों का परित्याग है। समस्त सांसारिक धर्म बुद्धि-कल्पित हैं। देवताओं के समस्त प्रतीक आलम्बन मात्र हैं। अन्ततम सत्ता मात्र उस पर ब्रह्म की ही हैं यह जानना ही ज्ञान है। समस्त प्रतीपमान व्यक्त एवं अव्यक्त सत्ताएँ उस एक विराट का ही अप्रत्यक्ष संकेत दे रही हैं, यह जानना ही बुद्धि की अनन्यता है एवं चित्त का समस्त संस्कारों से विच्छिन्न हो भगवत-स्वरूप श्रीकृष्ण से संयुक्त हो जाना ही चित्त की अनन्यता है। चित्त की इस अनन्यता को प्राप्त करने के बाद किसी माध्यम की, प्रतीक एवं आलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती । यही सर्व धर्म परित्याग की स्थिति है जहाँ मात्र भक्त प्रेमानुभूति के बल पर सतत भगवान से युक्त बना रहता है। इसी सातत्य की प्राप्ति के लिए भगवान का गीता में निर्देश है–

"मन्मना भव मद् भक्तो, मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्ये तें, प्रतिजान प्रियोऽसि मे॥"

(गीता 18/65)

भगवान का प्रिय पात्र बनकर भक्त समस्त क्लेशों से छुटकारा पा लेता है। विराट् धर्म की प्राप्ति के लिए लघु धर्मों का परित्याग उचित ही है। शरणागति के इस महान् धर्म के समक्ष अन्य समस्त लोक-धर्म लघु एवं सीमित हैं अतः प्रभु प्रेम के लिए लोक-धर्मों का परित्याग करने से कोई दोष समुत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में तो लोक-मर्यादा को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करने वाले सन्त गोस्वामी श्री तुलसीदास ने भी लोक-मर्यादा का परित्याग करने का ही परामर्श दिया है जो निम्नांकित पंक्तियों में दृष्टव्य है–

''जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।
X X X X
नाते सभी राम सों गनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
X X X X
तुलसी सो सब भाँति आपुनो पूज्य प्राण ते प्यारो।
जासु होहि सनेह राम पद, एतो मतो हमारो ॥''

बलि ने इसी महान् भाव के वश हो श्री हरि के लिए गुरु शुक्राचार्य का परित्याग किया। प्रह्लाद ने पिता का, भरत ने माता कैकयी का एवं विभीषण ने ज्येष्ठ भ्राता रावण का परित्याग किया। ब्रज की स्त्रियाँ तो अपने पति तक को भूल कर श्रीकृष्ण प्रेम में मग्न हुईं परन्तु लोक-धर्म का यह परित्याग उनके लिए मंगलमय ही सिद्ध हुआ। अनन्य भक्ति संयुत ब्राह्मणियाँ श्रीकृष्ण प्रेम में विभोर होकर यज्ञ करते हुए ब्राह्मणों को, अपने पतियों को छोड़कर उस नन्द-नन्दन गोपाल श्रीकृष्ण को पक्वान्न देने हेतु दौड़ती हुई आईं, यह उनकी इसी परम भक्ति का ही उदाहरण है। उनके द्वारा समर्पित पक्वान्नों की स्मृति के रूप में ही आज भी छप्पन भोग की प्रथा प्रचलित है।

अतः कहा जा सकता है कि आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में' **सर्व धर्मान् परित्यज्य'** के निर्देश को ग्रहण कर ही भटकता मानव समुदाय अपने वास्तविक गन्तव्य को प्राप्त कर सकता है।

सुनना छोड़ दें, हाथ कार्य करना बन्द कर दें, पाँव चलना छोड दें एवं बुद्धि विचार करना छोड़ दें, या मन संकल्प-विकल्प करना छोड़ दे अथवा संस्कार जनित रुचि से अन्य देवों की पूजा उपासना का परित्याग कर दिया जावे? वस्तुतः सर्व धर्मान् परित्यज्य का यह अर्थ कदापि नहीं है। इसका अभिप्राय मात्र इतना ही है कि हमारी चित्तवृत्ति अनन्यता पूर्वक भगवान में तल्लीन हो ताकि समस्त इन्द्रियाँ भी विषय की ओर प्रवाहित होने के बजाय भगवान् की ओर उन्मुख हों। हमारे नयन सर्वत्र अपने आराध्य श्रीकृष्ण के सौन्दर्य की छवि का पान करें। हमारे कान सर्वदा प्रभु यश सुनें, हमारी जिह्वा सदा प्रभु का मंगलमय गुणगान करने में प्रवृत्त हो, मन में इच्छा केवल भगवान के लिए ही हो एवं बुद्धि केवल भगवान का चिन्तन करती रहे। एक बार इस प्रकार समस्त इन्द्रियों को नियोजित कर देने पर ये स्वतः उसी भगवत्-प्रेम का ग्रहण एवं अभिव्यक्ति करने लग जाती है। समस्त तर्क-वितर्कों से परे होकर प्रज्ञा युक्त हो जाना ही बुद्धि के धर्म का त्याग है। दुविधाग्रस्त मन ही संकल्प-विकल्प से युक्त रहता है।

समर्पित मन में एक मात्र ईश्वरार्थ शिव-संकल्प का ही प्रादुर्भाव होता है अतः संकल्पों का परित्याग ही मन के धर्म का परित्याग है। सांसारिक विषयों को ग्रहण न कर उनकी ओर उदासीन रहना ही इन्द्रियों के धर्मो का परित्याग है। समस्त सांसारिक धर्म बुद्धि-कल्पित हैं। देवताओं के समस्त प्रतीक आलम्बन मात्र हैं। अन्ततम सत्ता मात्र उस पर ब्रह्म की ही हैं यह जानना ही ज्ञान है। समस्त प्रतीपमान व्यक्त एवं अव्यक्त सत्ताएँ उस एक विराट का ही अप्रत्यक्ष संकेत दे रही हैं, यह जानना ही बुद्धि की अनन्यता है एवं चित्त का समस्त संस्कारों से विच्छिन्न हो भगवत-स्वरूप श्रीकृष्ण से संयुक्त हो जाना ही चित्त की अनन्यता है। चित्त की इस अनन्यता को प्राप्त करने के बाद किसी माध्यम की, प्रतीक एवं आलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती । यही सर्व धर्म परित्याग की स्थिति है जहाँ मात्र भक्त प्रेमानुभूति के बल पर सतत भगवान से युक्त बना रहता है। इसी सातत्य की प्राप्ति के लिए भगवान का गीता में निर्देश है–

"मन्मना भव मद् भक्तो, मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्ये तें प्रतिजान प्रियोऽसि मे॥"

(गीता 18/65)

भगवान का प्रिय पात्र बनकर भक्त समस्त क्लेशों से छुटकारा पा लेता है। विराट् धर्म की प्राप्ति के लिए लघु धर्मों का परित्याग उचित ही है। शरणागति के इस महान् धर्म के समक्ष अन्य समस्त लोक-धर्म लघु एवं सीमित हैं अतः प्रभु प्रेम के लिए लोक-धर्मों का परित्याग करने से कोई दोष समुत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में तो लोक-मर्यादा को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करने वाले सन्त गोस्वामी श्री तुलसीदास ने भी लोक-मर्यादा का परित्याग करने का ही परामर्श दिया है जो निम्नांकित पंक्तियों में दृष्टव्य है—

"जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।
X X X X
नाते सभी राम सों गनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
X X X X
तुलसी सो सब भाँति आपुनो पूज्य प्राण ते प्यारो।
जासु होहि सनेह राम पद, एतो मतो हमारो ॥"

बलि ने इसी महान् भाव के वश हो श्री हरि के लिए गुरु शुक्राचार्य का परित्याग किया। प्रह्लाद ने पिता का, भरत ने माता कैकयी का एवं विभीषण ने ज्येष्ठ भ्राता रावण का परित्याग किया। ब्रज की स्त्रियाँ तो अपने पति तक को भूल कर श्रीकृष्ण प्रेम में मग्न हुईं परन्तु लोक-धर्म का यह परित्याग उनके लिए मंगलमय ही सिद्ध हुआ। अनन्य भक्ति संयुत ब्राह्मणियाँ श्रीकृष्ण प्रेम में विभोर होकर यज्ञ करते हुए ब्राह्मणों को, अपने पतियों को छोड़कर उस नन्द-नन्दन गोपाल श्रीकृष्ण को पक्वान्न देने हेतु दौड़ती हुई आईं, यह उनकी इसी परम भक्ति का ही उदाहरण है। उनके द्वारा समर्पित पक्वान्नों की स्मृति के रूप में ही आज भी छप्पन भोग की प्रथा प्रचलित है।

अतः कहा जा सकता है कि आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में' **सर्व धर्मान् परित्यज्य'** के निर्देश को ग्रहण कर ही भटकता मानव समुदाय अपने वास्तविक गन्तव्य को प्राप्त कर सकता है।

'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति'

उपर्युक्त श्रुति वाक्य समस्त ज्ञान-विज्ञान का निचोड़ है। बाह्य दृष्टि से अवलोकन एवं विश्लेषण करने पर इस अखिल ब्रह्माण्ड में विविधता एवं भिन्नता दिखाई देती है परन्तु सूक्ष्म एवं दिव्य दृष्टि से देखने पर समस्त दृश्यमान पदार्थों एवं दृश्यों का मूल अधिष्ठान एक ही है। यह मूल अधिष्ठान वही परम सत्ता है जिसका वर्णन एवं विश्लेषण भिन्न-भिन्न प्रकार से अनादिकाल से किया जा रहा है। जिस प्रकार काव्य की सम्पूर्ण विधाओं का मूल-संवेद्य एक होने पर भी उनकी मात्र एवं शैली के अनुसार विविधता प्रतीत होती है, उसी प्रकार समस्त जड़, चेतन, चर, अचर एवं स्थावर, जंगम का मूल आदि-स्रोत एक ही है। अनेकत्व में एकत्व का यह रहस्योद्घाटन अनासक्त वृत्ति की अपेक्षा रखता है। ज्ञान-विज्ञान के अगाध पारावार में अवगाहन करते हुए ऊर्ध्वोन्मुखी आर्ष मनीषियों ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त उस एक मूल सत्ता का साक्षात्कार किया और उन्हें अनुभव हुआ कि व्यावहारिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाली प्रत्येक इकाई में एक ही 'सत्' पदार्थ अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। यह अनुभव प्राप्त कर उनकी अन्तश्चेतना आनन्दमयी विराट चेतना से तादात्म्य स्थापित कर कृतकृत्य हो उठी। यही अनुभूति कबीर के काव्य में इस तरह से व्यक्त हुई–

''लाली मेरे लाल की जित देखों, तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल ॥''

एक मात्र कबीर ही नहीं, अनेक सन्तों, भक्त कवियों एवं ज्ञानियों ने इस रहस्यानुभूति में लीन होकर समाधान ढूँढ़ लिया। उनकी जिज्ञासा इस आनन्द का अनुभव कर निवृत्त हो गयी। वे रस-मग्न हो उठे।

परन्तु इस रस-मग्न स्थिति का अनुभव वे ही कर पाये जिनके अन्तःकरण में शुद्ध सतोगुण का उद्रेक था। रजोगुण एवं तमोगुण से आवृत्त बुद्धि में अनेकत्व का आभास होता रहा। वाद-विवाद, तर्क-वितर्क, पक्ष-विपक्ष, खण्डन-मण्डन, आरोप-प्रत्यारोप की प्रक्रिया अविरल चलती रही और क्रमशः मानव बुद्धि विभिन्न भेदों-प्रभेदों के सूक्ष्म जाल में धँसती चली गयी। उदात्त एवं दिव्य अनुभूतियाँ तिरोहित होती गयीं और बौद्धिकता के शुष्क विकास से मन में ऊब, अनास्था, कुण्ठा, आक्रोश एवं

नकारात्मकता का प्रादुर्भाव हुआ। समष्टिगत चेतना बुद्धि को माध्यम बनाकर सूक्ष्म से स्थूल की ओर, किंवा दर्शन से उपराम होकर विज्ञान की ओर मुड़ गयी। अनेक रहस्यों का अनावरण हुआ। पृथ्वी, समुद्र एवं अन्तरिक्ष की खोज में वैज्ञानिक बुद्धि संलग्न हो गयी। उसकी बाह्य चेतना ने ब्रह्माण्ड को सीमित कर दिया, परन्तु उसकी अन्तश्चेतना, उसका 'स्व' उसके लिए अनजाना ही रहा। विज्ञान की शक्ति से अनेकों असम्भव उपलब्धियाँ हो जाने पर भी उसका अन्तर चीत्कार ही करता रहा। बुद्धि के मरुस्थल में उसकी भाव-गंगा सूख गयी। व्यष्टि और समष्टि जीव एवं जगत् के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए वह कोई सूत्र नहीं खोज पाया। अज्ञान जनित भेद-दर्शन की भित्ति पर उसने असंख्य आविष्कार किये पर उससे आत्म-तुष्टि न हो सकी।

कितना अच्छा होता यदि वह **'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'** के उद्घोष को समझता, दर्शन के संगीत को सुनता, अन्तर्मुखी हो आत्मालोचन करता एवं स्वार्थ परिवेष्ठित अहं के संकुचित परिवेश से मुक्त हो पाता? कितना सुन्दर होता यदि वह हृदय की समुदार भाव-भूमि पर खड़ा रह **''वसुधैव कुटुम्बकम्''** की उद्घोषणा कर सकता ? पर अपनी सिमटती हुई अन्तश्चेतना को भाव के आधार पर उदार बनाने की क्षमता उसमें नहीं रह गयी । अन्तर में दरिद्रता एवं रिक्तता का अनुभव होने पर भी वह स्वयं को धनी, सम्पन्न एवं पूर्ण दिखाना चाहता है। यह दर्शन का नहीं, प्रदर्शन का पुजारी है, कितनी बड़ी विडम्बना है?

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त एक मात्र 'सत्' की सत्ता का अनुभव होने पर्यन्त उसका यह प्रदर्शन अविरल चलता रहेगा। उसकी आकुल आकांक्षाएँ नूतन आयामों का शोध करती ही रहेंगी ।

शुद्धाद्वैत की पृष्ठभूमि एवं रास क्रीड़ा का रहस्य

यह जो कुछ भी दृश्य पदार्थ है वह केवल सच्चिदानन्द परब्रह्म श्रीकृष्ण की ही क्रीड़ा है। नाना स्वरूपों में नाना भाँति से भासमान होते हुए भी यह परब्रह्म कदापि विकार को प्राप्त नहीं होता परन्तु जिनके दृष्टि-पथ पर माया का आवरण छा जाता हैं उन्हें विकार के अलावा कुछ नहीं दिखाई देता। भगवत्क्रीड़ा का प्रतिबिम्ब दो प्रकार के चित्त-फलकों

पर पड़ता है। एक निज स्वरूप में भासमान क्रीड़ा है एवं अन्य निज की परिधि से इतर ऐन्द्रिक समुच्चय में क्रियान्वित सी प्रतीत होती है। निजस्वरूप में भासमान जो परब्रह्म की क्रीड़ा है; यह विकार रहित है एवं पूर्णतः शुद्ध है इसकी परिधि का नाम जगत है। ऐन्द्रिक समुच्चय में भासमान क्रीड़ा की परिधि का नाम ही संसार है। यद्यपि परब्रह्म की यह आनन्दमयी क्रीड़ा सहज शुद्ध एवं अविकारी है परन्तु पंकयुक्त जल में पड़ने वाले चन्द्र प्रतिबिम्ब के समान विकार युक्त सी दृष्टिगत होती है। यद्यपि समस्त सांसारिक सम्बन्धों में भी अविरल भगवत्-क्रीड़ा की ही अभिव्यक्ति होती है तथापि माया-सम्बन्ध के कारण अभिव्यक्ति में शुद्ध रूप में स्वयं स्फूर्त सत्ता का साक्षात्कार नहीं हो पाता। अतः जब जीवात्मा सांसारिक सम्बन्धों से ऊपर उठकर अर्थात् माया जनित सम्बन्धों से निरपेक्ष होकर उस शुद्धतम सत्ता के साथ अपनी अभिन्नता अनुभव करता है, तभी वह जगत की परिधि में अवस्थित हो परब्रह्म की उस आनन्ददायिनी क्रीड़ा का साक्षात्कार करता है। परब्रह्म द्वारा शुद्धतम परिधि में स्फूर्त क्रीड़ा का नाम ही रास-क्रीड़ा है।

देहाध्यास को विस्मृत कर देने वाली जीवात्माएँ ही गोपिकाएँ हैं जिनके सांसारिक सम्बन्धों के आवरण हट चुके हैं और जो प्रत्यक्षतः स्वयं स्फूर्त सत्ता की मोदमयी क्रीड़ा में सहज रूप से आनन्द का आदान-प्रदान एवं दान-प्रतिदान करने हेतु संयोजित हैं। शुद्ध अद्वैत की अनुभूति से संयुक्त जीवात्माओं एवं परब्रह्म के मिलन तथा संगम का जो माध्यम एवं निमित्त है वही पुष्टि स्वरूपिणी राधिका हैं, यही परब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति है जो स्वयं स्फूर्त है परब्रह्म से अभिन्न है, यही रासेश्वरी है एवं परब्रह्म की रास-क्रीड़ा का शुद्ध अधिष्ठान है। रास-क्रीड़ा के माध्यम से ही आनन्द का सर्वाधिक आविर्भाव होता है। शुद्धता के स्तरानुसार इसका क्रमशः तिरोभाव होता रहता है एवं अपूर्ण मायिक सम्बन्धों में जटिलता धारण कर यही आनन्ददायिनी क्रीड़ा संसार के नाना भाँति के संक्लेशों के रूप में प्रतिफलित होती है। सांसारिक कष्ट इस शुद्ध रास-क्रीड़ा से बहिष्कृत होने का उस परब्रह्म परमात्मा के विछोह का प्रतिफलन मात्र है। अतः कहा जा सकता है कि इस आनन्द विधायिनी रास-क्रीड़ा के अविरल साक्षात्कार हेतु शुद्धाद्वैत ही एक मात्र आधार है। जहाँ अधिष्ठान में सांसारिक विकार की प्रविष्टि हुई कि वहीं से स्वरूप विस्मृति प्राप्त हो

जीवात्मा का संसार की ओर स्खलन हो जाता है। परब्रह्म श्रीकृष्ण की यह रास-क्रीड़ा सार्वकालिक है। वैज्ञानिक लोगों ने अणु का विभाजन कर जो इलोक्ट्रोन एवं प्रोटोन तथा उसके बाद न्युजिट्रोन एवं प्रोजीट्रोन नामक तत्त्वों का साक्षात्कार किया है; ये राधा कृष्ण के ही पर्याय हैं। ये नृत्य निरत तत्वांश ही समस्त ब्रह्माण्ड को गतिशील बनाने के आदि कारण हैं। निज स्वरूप में अवस्थित जीवात्माएँ अविरल अहर्निश उस परम आनन्ददायिनी रास-क्रीड़ा का सहजानुभव करती रहती हैं। कृष्णाकार वृत्ति होने पर ही शुद्ध अद्वैत की वह पारमार्थिक पृष्ठ-भूमि प्राप्त होती है, जहाँ स्थिर होकर जीवात्मा गोपी भाव से उसी रासमण्डल की सदस्य बनकर अविरल आनन्द लाभ करती है। परब्रह्म परमात्मा सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण की इस आनन्दप्रदायिनी रास-क्रीड़ा का अवर्णनीय आनन्द सब जीवात्माओं को सुलभ हो ऐसी शुभ कामना है।

मानव जीवन का परम लक्ष्य "पराभक्ति"

"दुर्लभं मानुषं जन्म इमं प्राप्य भजस्व माम्" भगवान के उक्त निर्देश में मानव जीवन का परम लक्ष्य सन्निहित है। मनुष्य जैसा अमूल्य जीवन संसार की अनित्य एवं नश्वर वस्तुओं की प्राप्ति के लिए कदापि नहीं है। किसी उच्चतर उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही यह मानव जन्म प्राप्त हुआ है। संसार की सभी वस्तुएँ उद्योग एवं परिश्रम द्वारा साध्य हैं। प्रारब्ध का संयोग होने पर समस्त अनित्य वस्तुओं की प्राप्ति सम्भव है। परन्तु मानव जीवन को अनित्य, नाशवान वस्तुओं की प्राप्ति में लगा देना गहन अज्ञान है। अपने अचेतन मन में भौतिकवाद को बसा लेने एवं मान्यता दे देने से भौतिक उन्नति एवं लौकिक अभ्युदय ही आज मानव जीवन के साध्य हो गये हैं। लौकिक अधिकारों को हस्तगत करने, वैभवशाली एवं विद्वान् बनने से इस लोक में कुछ समय के लिए नश्वर सुख की प्रतीति चाहे होती हो परन्तु यथार्थ सन्तोष एवं शान्ति की प्राप्ति इन साधनों से कदापि सम्भव नहीं है।

मानव जीवन की पूर्णता भगवान को प्राप्त करने में है अतः भगवत्प्राप्ति ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। विज्ञ पुरुषों ने भगवत्प्राप्ति के भी अनेक मार्ग बताये हैं। ज्ञान योग, राजयोग, कर्मयोग एवं ध्यान

योग आदि परमात्मा को प्राप्त करने के अनेक साधन हैं और इन साधनों द्वारा अनेक साधकों ने अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर कृतार्थता भी अनुभव की है परन्तु परमात्मा को प्राप्त करने का सहज और सुगम आधार भक्ति है। भक्ति केवल साधन मात्र नहीं अपितु साध्य परमात्मा का ही रमणीय एवं प्रेममय स्वरूप है। लौकिक तत्त्व की तरह परमात्म तत्त्व उद्योग-साध्य नहीं है। परमात्मा की प्राप्ति कोई क्रिया-जन्य-फल नहीं है, क्रियाजन्य फल सदैव नाशवान होता है। भगवान तो अविनाशी हैं, अतः भगवान की प्राप्ति के लिए उन्हें प्राप्त करने की प्रेममयी लालसा, इच्छा एवं भावना मात्र ही पर्याप्त है।

जब तक मनुष्य की सांसारिक पदार्थों, सांसारिक सम्बन्धों एवं अपनी देह में आसक्ति होती है तब तक परमात्मा के प्रति शुद्ध प्रेम-भावना की अनुभूति नहीं होती। नित्यानित्य वस्तु का विवेक होने एवं भगवत्कृपा होने से ही हमें भगवान से अपने वास्तविक एवं शाश्वत सम्बन्ध की पहचान होती है। भगवान के प्रेम के अलावा जो कुछ भी लालसा है, उसी का नाम संसार है। भगवान के अतिरिक्त जो भी चाहना है, वासना है, उसी ने संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ रखा है। जब तक संसार के साथ सम्बन्ध जुड़ा रहता है, तब तक भगवान के प्रेम की तरंगें हमारे मानस में प्रवाहित नहीं हो पातीं।

अपने दिल में भगवान के लिए तड़प होना, उनसे मिलने की वास्तविक इच्छा होना, रह-रहकर उनकी याद आना और अपने प्रिय भगवान की माधुरी मूर्ति का हर समय ध्यान रहना उन तक पहुँचने के लिए हृदय में वेदना होना, प्रतिक्षण उन्हें स्मरण करना ही भक्ति है। यही भक्ति अपनी पराकाष्ठा पर भक्तियोग बन जाती है जिसमें नित्य संयोग का अनुभव ही शेष रह जाता है।

वैधी भक्ति में वेद और शास्त्र की मर्यादा होती है एवं उसमें लोक परलोक की इच्छाएँ रहती हैं। प्रभु से अपना सुख प्राप्त करने की इच्छा रहने से यह भक्ति सकाम है एवं भौतिक सुख स्वर्गादि इसके फल हैं किन्तु रागानुगा भक्ति विशुद्ध प्रेम पर आधारित है अतः भगवत्प्राप्ति ही इसका शाश्वत फल है। रागानुगा भक्ति ही निष्काम भक्ति है। यही भक्ति शरणागति सिद्ध होने पर पराभक्ति का रूप धारण कर लेती है और हृदय के चित्त-चोर से मिलाप करा देती है। पराभक्ति में न कोई कामना रहती

है और न मैं रहता है और न तू रहता है। भक्त और भगवान में अभिन्नता हो जाती है मन, बुद्धि और अहंकार सबका निरोध हो जाता है। ऐसा प्रेम जो प्रभु को अपनी ओर खींच ले आवे, उनसे मिलाप करा देवे, वही प्रेम धन्य है। यही प्रेम परा-भक्ति का आधार है।

पराभक्ति प्रेम-स्वरूपा है, इसमें प्रभु के मिलन की वासना के अतिरिक्त और सारी कामनाएँ छूट जाती हैं। भक्त के हृदय में मोक्ष की इच्छा तक भी शेष नहीं रहती। ब्रज़ की गोपिकाओं में इसी परा-भक्ति का स्फुरण है और पुष्टिमार्ग भी इसी प्रकार के भगवत्प्रेमी जीवों का मार्ग है, स्वसुख-लोलुप सकामी जीवों का नहीं। भगवान से प्रेम होने पर उनका स्मरण स्वतः सदैव बना रहता है। प्रेम के अभाव में उनको स्मरण करने के लिए प्रयत्नपूर्वक भजन करना पड़ता है। अतः भगवत्प्रेम की प्राप्ति ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। पराभक्ति ही जीवन का सर्वोच्च ध्येय है। गम्भीरतापूर्वक विचार कर प्रत्येक मानव को इसी ध्येय को प्राप्त करना है। अध्ययन और अध्यापन का भी यही उद्देश्य हो सकता है।

"बुद्धि का पर्यवसान ही प्रज्ञा की जागृति है"

मानव जीवन में यद्यपि बुद्धि का सर्वोपरि स्थान है तथापि बुद्धि की भी अपनी परिधि है जिसका अतिक्रमण करना बुद्धि की शक्ति के बाहर है। बुद्धि द्वारा बहिर्जगत के पदार्थों की प्रकृति का अन्वेषण अवश्य सम्भव है और साथ ही अन्तर्जगत् के गहन भावों की कुशल अभिव्यक्ति में भी बुद्धि जैसा सर्वश्रेष्ठ उपकरण अत्यन्त उपयोगी एवं सार्थक सिद्ध होता है परन्तु अन्तश्चेतना का वह गुह्य भाग भी अवस्थित है जहाँ कि बुद्धि का प्रवेश नितान्त दुष्कर है। बुद्धि से परे जो चेतना अवस्थित है वही परम तत्त्व है जिसे बुद्धि द्वारा उपलब्ध करना असम्भव है। बुद्धिवादी के लिए यह परम तत्त्व अज्ञेय ही बना रहता है।

एक स्थिति ऐसी भी है जिसमें न तो चिन्तन की प्रक्रिया ही अवशिष्ट रहती है और न अनुभूति या संवेदना के लिए कोई सामग्री। इस स्थिति में बुद्धि,मन,वाणी एवं इन्द्रियाँ सभी स्तब्ध हो जाती हैं। प्रतीत होता है कि कहीं कुछ है अवश्य पर वह क्या है, कैसा है ? इसका परिज्ञान करने की सामर्थ्य किसी में नहीं होती। नियति और पुरुषार्थ की ऊहापोह

में मन क्रमशः संकल्प-विकल्प रहित होने लगता है, उसकी दौड़ समाप्त हो जाती है। वाणी अपनी असमर्थता का परिज्ञान कर मूक हो जाती है तो सभी इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों का आकर्षण त्याग कर शुद्धता को धारण कर लेती हैं।

इस स्थिति में जन्म-जमान्तर से संचित प्रज्ञा सजग हो उठती है। प्रज्ञा के माध्यम से देश-काल से आवृत्त बहुरूप ब्रह्माण्ड के एकत्व का अनुसन्धान हो जाता है। यह प्रज्ञा ही गीता में वर्णित दिव्य चक्षु है जिसके द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त मूल शक्ति का साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार ही अपरोक्षानुभूति है जिसे योगी ध्यानस्थ होकर समाधि अवस्था में प्राप्त करता है। अतः कहा जा सकता है कि प्रज्ञा ही आत्म-साक्षात्कार का एक मात्र साधन है जिसके द्वारा उस अद्वितीय तत्त्व का परिज्ञान होता है जिसके बाद और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। अब आधुनिक बुद्धिवादी मानव अपने संकुचित अहं के परिवेश से मुक्त होकर प्रज्ञा द्वारा दिव्य ज्ञान उपलब्ध करे या बुद्धि की परिधि में अहर्निश दौड़ लगाता रहे, यह उसकी इच्छा पर ही निर्भर है। कहा भी है—

"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रः तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः कि करिष्यति ॥"

अर्थात् जिस मनुष्य में प्रज्ञा का उदय नहीं होता, अनन्त शास्त्र भी उसका हित सम्पादित नहीं कर सकते। आँखों से रहित पुरुष के लिए दर्पण का उपयोग ही क्या है?

प्रेम भक्ति का विलक्षण मार्ग

अविद्या के आवरण से संत्रस्त जीवात्मा सतत अपनी अपूर्णता का बोध करते हुए इस जगत में दुःख, क्लेश, कुण्ठा एवं अतृप्ति का अनुभव करता रहता है। इस अपूर्णता के बोध से छुटकारा प्राप्त करने के लिए वह सदैव बेचैन रहता है। शास्त्रों में निर्दिष्ट अनेक प्रकार की साधनाओं को अपनाकर वह पूर्णता का बोध प्राप्त करने के लिए सतत प्रयासरत रहता है। अपनी साधना के बल पर वह अनेक दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है, परन्तु अपनी स्वरूप-स्थिति प्राप्त करने हेतु उसे दिव्य शक्ति के आश्रय, संरक्षण एवं पुष्टि की आवश्यकता होती है। इसी को

भगवत्-कृपा कहा जाता है। यह दिव्य एवं अलौकिक संबल प्रेमाभक्ति के बिना कदापि प्राप्त नहीं किया जा सकता।

यह दिव्य संबल कभी-कभी आत्म-स्फुरित होता है तो कभी किसी सद्गुरु के माध्यम से स्फुरित होकर अनुभव में आता है। इसीलिए साधना के क्षेत्र में निराकार, साकार आदि को लेकर विभिन्न मत-मतान्तर प्रकट हुए हैं, परन्तु सबका लक्ष्य, ध्येय एवं गन्तव्य एक ही है, और वह है विलक्षण, इन्द्रियातीत, गुणातीत अनुभूति, जो स्वरूप में अवस्थित करने का एक मात्र कारण है। भक्ति की परिभाषा में इसे ही भगवत्-कृपा कहा जाता है और यह भगवत्-कृपा प्रेमा भक्ति से प्राप्त करना अत्यन्त सहज एवं सरल है। सभी वैष्णव आचार्यों ने भगवत् कृपा के इस रहस्य को अपने-अपने ढंग से समझाया है।

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य ने चिन्तन के क्षेत्र में शुद्धाद्वैत दर्शन का प्रतिपादन करते हुए, भक्ति के क्षेत्र में पुष्टिमार्ग की स्थापना की है। महाप्रभु के अनुसार सच्चिदानन्दघन भगवान श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व एवं परम आराध्य हैं। श्रीकृष्ण के प्रति माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक परम सुदृढ़ स्नेह का नाम ही भक्ति है। यह भक्ति केवल प्रभु के अनुग्रह द्वारा ही साध्य है। **''पोषणं तदनुग्रह''** के भागवत वाक्य के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण अपने प्रिय भक्तों का अनुग्रह पूर्वक पोषण करते हैं। भगवान द्वारा पुष्ट एवं पोषित किये जाने के आधार पर ही भक्ति के क्षेत्र में इसे पुष्टि-मार्ग की संज्ञा दी गई है। प्रभु का अनुग्रह प्राप्त करने की पात्रता प्रेम भक्ति से प्राप्त होती है और यह पात्रता होने पर भक्त सदैव के लिए निश्चिन्त हो जाता है। उसके परमाराध्य भगवान कृष्ण ही उसके समस्त इहलौकिक एवं पारलौकिक कार्यों के नियामक बन जाते हैं।

परमेश्वर प्रेममय हैं, प्रेम स्वरूप हैं, प्रेम के द्वारा ही प्राप्त होने योग्य हैं। भगवान का प्रेममय स्वरूप ही सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण का निज-स्वरूप है। जीव को अपने प्रेम के आधार पर ही इन प्रेम स्वरूप भगवान को प्राप्त करना होता है। प्रत्येक जीवात्मा अणु रूप में भगवान का ही चैतन्य अंश है, परन्तु अविद्या के प्रभाव से आनन्दांश का तिरोभाव हो जाने से वह अपने स्वरूप को विस्मृत कर त्रिगुणपाश में आबद्ध होकर छटपटा रहा है। जीवात्मा में भगवान के प्रति अनन्त प्रेम विद्यमान है, परन्तु उसे इसकी अनुभूति एवं जानकारी न होने से वह सदैव स्वयं को दीन, अपूर्ण एवं

असहाय समझता रहता है।

सम्पूर्ण जगत महान् प्रेम-सूत्र से जुड़ा हुआ है, परन्तु अविद्या के आवरण के कारण जीव अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाते। इसी अविद्या के नाश हेतु शास्त्रों एवं पुराणों में जप, तप, योग, ज्ञान आदि विभिन्न साधन निर्दिष्ट किये गये हैं। भक्ति मार्ग में इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन आदि नवधा भक्ति का अभ्यास करते रहने का परामर्श दिया गया है। इस नवधाभक्ति के अभ्यास से कमशः जीवात्मा का परमात्मा के प्रति सुषुप्त प्रेम जागृत हो उठता है। नवधा-भक्ति में प्रथम छः प्रकार की भक्ति को क्रिया एवं दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन को भाव माना गया है। दास्य, सख्य एवं आत्म-निवेदन का सम्बन्ध भगवान के विग्रह स्वरूपों से है। इन भावों के साथ ही वात्सल्य एवं मधुर भावों से भगवान की उपासना की जाती है। यह भावोपासना ही प्रेम रूपा अथवा प्रेम लक्षणा भक्ति है।

अष्ट छाप कवि परमानन्द द्वारा प्रणीत 'परमानन्द सागर' में भक्ति के चरम आदर्श के रूप में अनेक भक्तजन का उल्लेख है। श्रवण भक्ति में राजा परीक्षित, कीर्तन में शुकदेव, स्मरण में प्रह्लाद, पादसेवन में कमला, अर्चना में पृथु, वन्दन में सुफलक-सुत, दास्यभक्ति में हनुमान, सख्य भक्ति में अर्जुन, आत्मसमर्पण में राजा बलि, वात्सल्य भक्ति में नन्द-यशोदा एवं मधुर भक्ति में गोपियों एवं श्री राधिका को आदर्श बताया गया है। महाप्रभु ने नवधाभक्ति से प्रेम लक्षणा भक्ति को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हुए गोपियों को प्रेम की ध्वजा कहा है। अष्ट छाप कवि नन्ददास ने प्रेम को अलौकिक बताते हुए कहा है–

'सबै वस्तु जग में तुलित, अतुलित एकै प्रेम''।

पुष्टि मार्ग के जहाज महाकवि सूर ने प्रेम के इसी महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट घोषणा की है–

''प्रेम भक्ति बिनु कृपा न होई। सर्व शास्त्र हम देख्यो जोई ॥''

इसी प्रेम को प्राप्त करने के लिए समर्पण की भावना एवं शरणागति आवश्यक है। गीता में सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर जीवात्मा को भगवान की शरण में आने का परामर्श दिया गया है। प्रेम एवं श्रद्धापूर्वक भगवान के शरणागत हो जाना ही समस्त साधनों की कुंजी है। अपने नाम, गुण, मन, बुद्धि, जाति एवं समस्त लौकिक उपाधियों के प्रति

ममत्व का त्याग करने से भगवान शरणगति को स्वीकार कर लेते हैं और ऐसे भक्तों को अपना पोषण प्रदान करते हैं।

कर्म एवं कर्मफल में आसक्ति का परित्याग, कर्तव्य के लिए कर्मों का सम्पादन करते हुए उन्हें भगवद् अर्पण करने से शरणागति सिद्ध हो जाती है। इसी से अज्ञान का आवरण हटकर गुणातीत अवस्था एवं अनन्य प्रभु भक्ति प्राप्त होती है। यह एकनिष्ठ प्रेम ही वल्लभ दर्शन की आधार-शिला है। प्रेम सर्वस्व समर्पण की अपेक्षा करता है, किसी प्रकार का प्रतिदान नहीं चाहता। इस प्रेम की प्राप्ति होने पर जगत्-जगत् नहीं रहता, ब्रह्ममय हो जाता है। सर्वत्र आनन्द कन्द भगवान श्रीकृष्ण नटनागर की अलौकिक क्रीड़ा ही दिखलाई पड़ती है। वह अपूर्णता के बोध से छुटकारा पाकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

आधुनिक परिवेश में जब सभी व्यक्ति भौतिक साधनों की चकाचौंध में बहिर्मुख होते जा रहे हैं, साधन प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा में नैतिक मूल्य समाप्त होते जा रहे हैं, ऐसे समय में प्रबुद्ध, विवेकी एवं जागृत जीवों के लिए भगवान के दिव्य प्रेम को प्राप्त करने की अभिलाषा रखकर शरणागति एवं समर्पण द्वारा भगवत्-प्रेम को प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त कर कृतकृत्य होना ही मानव जीवन की चरम सार्थकता है।

महाप्रभु-श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनकी विश्व को देन

चिन्तन द्वारा परमतत्त्व का अनुसन्धान करते हुए भारतीय मनीषियों को आत्मचेतना की उपलब्धि हुई एवं **"एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति"** का मूलमन्त्र धारण कर अद्वैतवाद की सुदृढ़ भित्ति खड़ी कर दी गयी। **"अहं ब्रह्मास्मि"** का गम्भीर घोष लेकर आचार्य शंकर अवतरित हुए जिन्होंने तर्क के बल पर अद्वैतवाद की पताका दर्शन के क्षेत्र में फहराई। ज्ञान के इस अन्तिम सोपान पर आरूढ़ होकर भी प्रभु-दर्शन की सहज आकांक्षा का तिरोभाव न हुआ। अद्वैतवाद ने जीव एवं ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन कर भूमिका-गत रमणीयता का ह्रास कर डाला। देश-काल एवं निमित्त से परे पहुँचकर निरपेक्ष ब्रह्म से एकात्मकता प्राप्त करने की शक्ति जन साधारण में नहीं थी। आवश्यकता थी ऐसे सार्वजनिक राज-मार्ग की

जिस पर साधारण एवं अल्पज्ञ प्राणी भी निश्चिन्त होकर चल सकें। शंकराचार्य की अद्वैत-संजीवनी ने कतिपय लक्ष्मण-कुमारों की मूर्च्छा तो दूर कर दी किन्तु विपुल वानर सेना की मूर्च्छा दूर करने हेतु प्रभु की करुणापूर्ण कृपा-दृष्टि ही अपेक्षित थी। इसी कारण सिद्धान्ततः सत्य होते हुए भी शंकर का अद्वैत व्यावहारिक सिद्ध न हुआ। व्यावहारिक जगत् के लिए ऐसे सरल एवं सहज मार्ग की आवश्यकता थी जो बुद्धि के साथ हृदय को भी रस-सिक्त कर कर्म लीन कर सके। गीता के निष्काम कर्मयोग का व्यावहारिक समीकरण अपेक्षित था। प्रेरक शक्ति की अनुभूति के अभाव में युग-चेतना रस हीन एवं निष्क्रिय होती जा रही थी।

निग्रह से पूर्व मन अपना समाधान चाहता था। जिस इच्छाशक्ति के आश्रय से ब्रह्म ने अपने स्वरूप को विस्मृत कर जीव की उपाधि धारण की उस इच्छाशक्ति द्वारा अभिप्रेत आनन्द को प्राप्त किये बिना वह इस उपाधि के बन्धन से स्वभावतः मुक्त नहीं होना चाहता था। क्रीड़ा शाश्वत है, मुक्ति की कामना तो आनन्द में व्याघात पड़ने पर उठने वाला स्पन्दन मात्र है। अतः मनोनिग्रह का उपदेश देने वाला योग दर्शन एवं अद्वैत चिन्तन मनोजगत् के उस अव्यक्त एवं सूक्ष्म मूल भाव को संरक्षण नहीं प्रदान कर सकते थे।

ठीक ऐसे ही समय में महाप्रभु वल्लभाचार्य का आविर्भाव हुआ जिन्होंने समय की ज्वलन्त आवश्यकता को समझकर करुणार्द्र हो जीव-जगत् को श्रीकृष्ण प्रेम का दृढ़ आलम्बन प्रदान किया। प्रेम एवं भक्ति के इस सन्निवेश से ज्ञान की मन्दगामी धारा पुनः प्रवाह युक्त हो गयी। मुरझाते हुए मन-मुकुल श्रीकृष्ण-सौरभ से मुकुलित हो उठे। शुष्क वल्लरियाँ वल्लभ के प्रेम रस से पल्लवित हो उठीं। "**ब्रह्मसूत्र**" पर अणुभाष्य लिखकर महाप्रभु ने निरपेक्ष ब्रह्म का सरल विवेचन प्रस्तुत किया। 'सुबोधिनी' के द्वारा वेदान्त का ज्ञान जनमानस के लिए बोध-गम्य हुआ। उनकी करुणाधारा शुद्धाद्वैत का अमृत लेकर चतुर्विध भक्तों के जनमानस में प्रवाहित हुई।

माया रहित शुद्ध ब्रह्म को भगवान कृष्ण के अभिधान का परिवेश देकर महाप्रभु ने युग-युगान्तर से प्रभु-विरह में भटकते जीवों को उनका गन्तव्य सुझाया एवं मनोजगत् में उठने वाली अकारण मर्मान्तिक वेदना का निदान कर भगवत्प्रेम के रूप में उसका शोधन किया। श्रीकृष्ण के पावन

चरित्र की मार्मिक अनुभूतियों से जनमानस रस मग्न हो उठा। लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति प्रथम बार यथार्थ के धरातल पर सम्भव हुई।

क्या यह कोई कम चमत्कारिक घटना थी? इससे बड़ा युगबोध क्या हो सकता था? महाप्रभु के प्रेममय व्यवहार एवं दिव्य उपदेश के वशीभूत हो भटकता जीव समुदाय अनन्य भाव से कृष्णार्पित हो गया। अनन्य भाव से श्रीकृष्ण के चरणों में स्वयं को लगाकर भक्तों ने कर्म बन्धन में भी उस परमानन्द का अनुभव किया जिसे ज्ञानी, तपी एवं योगी जीवन-मुक्ति की अवस्था में भी प्राप्त नहीं कर पाते। ईश्वरार्थ कार्य करता हुआ मनुष्य इस दर्शन को पाकर संसार से निरासक्त एवं मुक्ति से भी वीतरागी हो सका। भगवत् अनुग्रह की प्राप्ति "अकारण" बताकर महाप्रभु ने बाह्य साधनों की निरर्थकता दिखा कर सरल हृदय एवं प्रेम भाव को ही महत्ता प्रदान की। महाप्रभु के इस प्रयास से हृदय की कोमल अनुभूतियों का पुनः गौरव स्थापित हो गया। महाप्रभु ने भगवत्प्रेम की अहर्निश वृद्धि में पुष्टि को आवश्यक बताया है। जीव परमात्मा की दिव्यानुभूति में विभोर होकर क्रमशः पुष्टि को प्राप्त करता है।

महाप्रभु के इस दर्शन में गीता के कर्मयोग का, शरणागति एवं प्रपत्ति की चरम स्थितियों का पूर्णोन्मेष है। यह दर्शन मनुष्य को कर्मच्युत नहीं करता, पलायनवादी नहीं बनाता एवं प्रत्येक अवस्था में ईश्वरार्थ कार्यरत रहने की प्रेरणा देता है। महाप्रभु के इस दर्शन का विस्तार चाहे कम हो परन्तु इसकी गहराई असंदिग्ध है। बुद्धिवाद से संत्रस्त आधुनिक युग को आज ऐसे रमणीय एवं बुद्धि सम्मत मार्ग की आवश्यकता है जिसमें उसके हृदय की कोमलतम अनुभूति भगवत्प्रेम की अभिव्यक्ति हो सके।

आचार्य रजनीश की नृत्य-मुद्राएँ विकृत होती जा रही हैं। आचार्य तुलसी की अणुव्रत साधना में रमणीयता का अभाव है। बौद्ध दर्शन का करुणावाद उदार-मना विभूतियों के अभाव में अव्यावहारिक होता जा रहा है। विश्व तेजी से बदल रहा है। इन बदलती हुई परिस्थितियों में महाप्रभु की यह दिव्य देन सम्पूर्ण विश्व को आलोक प्रदान कर सकती है परन्तु आज महाप्रभु के अनुयायियों में महाप्रभु जैसी विराट चेतना की, विशाल हृदय की, **"वसुधैव कुटुम्बकम्"** की उदार मनोवृत्ति का अभाव सा है। आज दिनों-दिन श्रीकृष्ण-प्रेम साध्य से हटकर साधन बनता जा रहा है। महाप्रभु ने जिस अनन्यता से अपना सम्पूर्ण जीवन श्रीकृष्ण की भक्ति में

समर्पित कर दिया उसका उदाहरण कम ही है। इसीलिए तो श्रीकृष्ण केवल प्रभु ही कहलाते हैं पर महाप्रभु तो महाप्रभु ही हैं।

क्या प्रभु प्रेरणा से ऐसे नर-रत्न उठ खड़े होंगे जो महाप्रभु के इस दिव्यामृत का चतुर्दिक वितरण कर इस नीरस धरती को श्रीकृष्ण-प्रेम में रस विभोर कर इसका "रसा" नाम सार्थक कर सकें।

"श्रीकृष्णं वन्दे जगद् गुरुम्"

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का लोकमंगलकारी प्रेरक आदर्श

"अन्ये चांश कलाः सर्वे श्री कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" वस्तुतः श्रीकृष्ण के नाम, रूप एवं दिव्य चरित्र में ही कुछ ऐसा दिव्य तथा अमोघ आकर्षण है कि वह चित्त को बरबस वशीभूत कर लेता है। जिसने एक बार भी दत्त-चित्त होकर श्रीकृष्ण की अलौकिक लीला एवं रूप माधुरी का रसास्वादन कर लिया वह निरन्तर उस रूप-रस-पयोनिधि में निमग्न होता ही रहा। श्रीकृष्ण के उदात्त एवं क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का संस्पर्श पाकर मानव चेतना सजीव एवं प्राणवन्त हो उठी है। लोकानुरंजन के लिए श्रीकृष्ण की मनोहारिणी छवि एवं स्वरूप निर्विवाद रूप से एक मात्र उत्कृष्ट आलम्बन सिद्ध हुआ और श्रीकृष्ण कोटि-कोटि सहृदय भावुक जनों के हृदय-सिंहासन पर आसीन हो गये। श्रीकृष्ण भक्त-वत्सल के रूप में स्वीकार्य हुए और भक्ति एवं आराधना के केन्द्र बिन्दु बन गये परन्तु श्रीकृष्ण का प्रेरक आदर्श, गीता द्वारा प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग का अनुसरण उपादेय एवं लोक-मंगलकारी होते हुए भी उपेक्षित ही रहा। अपने आराध्य श्रीकृष्ण की प्रतिमाओं की स्थान-स्थान पर प्रतिष्ठा करने पर भी हम गीतोक्त कर्मयोग की अवहेलना करते रहे, उनके महनीय आदर्श को व्यावहारिक जीवन में नकारते रहे तथा अनजाने ही उस महानतम विभूति का तिरस्कार सा करते रहे।

भारतवर्ष की पावन धरा पर समय-समय पर अनेक महान् विभूतियों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने लोकमंगल के व्यावहारिक आदर्शों की स्थापना कर मानवीय संस्कृति की प्राण प्रतिष्ठा की। इन महान् विभूतियों द्वारा स्थापित आदर्श ही कालान्तर में शाश्वत मूल्य बनकर संस्कृति की आधार-शिला बन गये। भारत की दिव्य लीला-भूमि पर अवतरित महापुरुषों की अनन्त श्रृंखला में पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का विशिष्ट एवं

सर्वोच्च स्थान है। श्रीकृष्ण ने अपने क्रान्तिकारी व्यक्तित्व एवं अपने अनूठे कार्य-कलापों द्वारा लोकमंगल के व्यावहारिक आदर्श को क्रियान्वित कर दिखाया। अनादि काल से प्रवाहमान इस सृष्टि-प्रक्रिया में अब तक ऐसा कोई अन्य चरित्र उभरकर सामने नहीं आ पाया जो सर्वांश में या आंशिक रूप में ही श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व की समता कर सके। यही कारण है कि न केवल भारत में, अपितु सम्पूर्ण विश्व में भी श्रीकृष्ण का मनोहारी स्वरूप अविस्मिरणीय ही रहा।

श्रीकृष्ण केवल रूप के अक्षय भण्डार ही नहीं, अपितु उनके व्यक्तित्व में कोटि-कोटि गुण समाविष्ट हैं। गुणों की प्रचुरता के कारण ही उनकी महिमा वर्णनातीत है। मानवीय चेतना में उपलब्ध प्रत्येक गुण का चरमोत्कर्ष श्रीकृष्ण के भव्य व्यक्तित्व में समाहित है। श्रीकृष्ण का आविर्भाव यह सिद्ध करता है कि महान् विभूतियाँ सदैव लोकमंगल के लिए ही अवतरित होती हैं। ये विभूतियाँ सामयिक परिवेश में आबद्ध मानवीय चेतना को आसुरी किंवा कृत्रिम पाशों से मुक्त कर शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठा करती हैं। गीता के निम्नांकित उद्‌घोष में ही महाप्राण विभूतियों के अवतरण का निगूढ़ रहस्य छिपा हुआ है–

''परित्राणाय साधूनाम्, विनाशाय च दुष्कृताम्'
धर्म संस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे ॥''

(गीता)

आविर्भाव के इस महत् प्रयोजन की पूर्ति हेतु ये महान् विभूतियाँ सदैव सत् प्रवृत्तियों का संरक्षण एवं दुष्प्रवृत्तियों का ध्वंस कर सृष्टि-प्रक्रिया में सामंजस्य एवं सन्तुलन उपस्थित करती हैं।

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का आविर्भाव भी इसी महत् प्रयोजन की पूर्ति के लिए हुआ। श्री कृष्ण ने शैशव से लेकर इह-लीला-संवरण पर्यन्त निरन्तर आसुरी प्रवृत्तियों से संघर्ष किया एवं लोकमंगलकारी आदर्श को अपने जीवन में क्रियान्वित कर भगवान एवं पुरुषोत्तम की उपाधियों को सार्थक कर दिखाया। वस्तुतः भगवान उच्चतम चेतना का वह प्रकाश पुंज ही तो है जो संसार का मूल अनादि कारण होने के साथ ही चेतन प्रवाह का अन्तिम गन्तव्य भी है। उच्चतम चेतना के विद्यमान रहते दुष्प्रवृत्तियों का विस्तार कदापि सम्भव नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण की अवस्थिति में मानवोचित्त गुणों एवं सद्‌वृत्तियों का संरक्षण एवं विकास होता रहा।

श्रीकृष्ण सदैव मानवीय चेतना को आतंकित करने वाले आततायियों से लोकमंगल के लिए जूझते रहे। उनके विद्यमान रहते हुए कंस, शिशुपाल, दन्तवक्त्र, जरासन्ध एवं दुर्योधनादि जैसे तत्कालीन अभिमानी लोक-पीड़कों का आतंक न जम सका। प्रभुत्व ज्वर से पीड़ित जो आततायी अपनी सत्ता एवं शक्ति के मद में इठला रहे थे, लोकमंगल के लिए श्रीकृष्ण ने उनका समूलोन्मूलन कर संकुचित मानवीय चेतना को स्वाभाविक रूप से विकसित होने का अवसर प्रदान किया। उनका लोकोद्धारक स्वरूप ही जनमानस में प्रतिष्ठित हो गया, जो काल प्रवाह के अविरल आघातों के प्रहार सहन करने के बाद भी जनमानस में अक्षुण्ण बना रहा।

श्रीकृष्ण के निष्काम कर्म योग के आदर्श को ही व्यावहारिक जीवन में अपनाकर महात्मा गाँधी, तिलक एवं गोखले जैसे राष्ट्र भक्तों ने स्वाधीनता संग्राम का शंखनाद किया। परन्तु देव दूर्विपाक से श्रीकृष्ण के इस लोकमंगलकारी आदर्श की ओर भारतीय चेतना इतनी उन्मुख न हो पाई। सामान्य जन चेतना ने श्रीकृष्ण की माधुरी के सम्मोहन में डूबकर संघर्ष-पथ से पलायन कर दिया। श्रीकृष्ण को अपना उपास्य एवं आराध्य मानकर भी जीवन में गीता के आदर्श की प्रतिष्ठा भारतीय न कर पाये। श्रीकृष्णानुयायियों का ध्येय अनुरंजन मात्र रह गया और वे वैयक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति उदासीन होते गये। अपने ही आराध्य श्रीकृष्ण का आदर्श अपने ही द्वारा नकारा गया। आदर्श की अवहेलना कर हम प्रतिमाओं के अर्चन एवं वन्दन में ही जीवन की कृतार्थता अनुभव करने लगे। कितना अच्छा होता यदि हम सेवा-पूजा का आडम्बर खड़ा न कर श्रीकृष्ण के महनीय आदर्श की व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन में प्रतिष्ठा कर पाते ?

वर्तमान समय में भगवान उपाधिकारी पुरुषों की संख्या अहर्निश बढ़ती जा रही है। जिस पावन भूमि पर श्रीकृष्ण जैसे पुरुषोत्तम ने अपने अलौकिक चरित्र एवं क्रांतिकारी परिवर्तन द्वारा भगवान की उपाधि को सार्थक कर दिखाया, उसी भूमि पर आज कतिपय पाखण्डधारी क्षुद्र मनुज भगवान की उपाधि का मुखौटा लगाए ऐश्वर्य एवं विलास का उन्मुक्त उपभोग कर रहे हैं। यदि पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के महत् चरित्र के पावन आलोक में इन कृत्रिम भगवानों के लक्षणों तथा क्रिया-कलापों का परीक्षण किया जा सके तो वास्तविकता प्रकट हुए बिना नहीं रह सकती। यदि ये

तथाकथित विभूतियाँ वस्तुतः पुरुषोत्तम स्तर पर आसीन होती तो ऐश्वर्य एवं विलास में निमग्न न रह दुष्प्रवृत्तियों से संघर्ष कर रही होती। इनकी उपस्थिति में धरा पर शोषण, दम्भ, पाखण्ड एवं अनीति का व्यापक प्रसार कदापि न हो पाता। पुरुषोत्तम होने की सर्वमान्य कसौटी **"विनाशाय च दुष्कृताम्"** ही है।

आज लोकमंगलकारी आदर्श की उपलब्धि मात्र श्रीकृष्ण के प्रेरक व्यक्तित्व के अवलम्बन एवं उनके गीतोक्त सदुपदेश की क्रियान्विति पर ही निर्भर है। जिस लीला पुरुषोत्तम ने अपने परिजनों, यदुवंशियों तक की उद्दण्डता एवं धृष्टता को सहन न कर लोकमंगल के लिए उनका विनाश कर डाला, उस निर्लिप्त अनासक्त निष्काम कर्मयोगी श्रीकृष्ण का पावन चरित्र ही वर्तमान मोहान्ध युग के अज्ञान-तिमिर को नष्ट कर मनुष्य को क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठाकर उसे नूतन जन मंगलकारी दृष्टि प्रदान कर सकता है।

दिव्य रूपान्तरण के सशक्त पुरोधा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

वस्तु को किसी अन्य वस्तु में बदलना रूपान्तरण है। रूपान्तरण के पश्चात् भी वस्तु की जड़ता बनी रहती है। मृत्यु द्वारा प्रत्येक प्राणी की काया का रूपान्तरण होता ही रहता है किन्तु पुनर्जन्म में भी पूर्व जन्म की जड़ता अथवा जड़ संस्कारों का समावेश अवश्य बना रहता है। वस्तु (मेटर) को ऊर्जा (एनर्जी) में बदलना ही रूपान्तरण को सार्थक बनाना है। मनुष्य का शरीर जड़ है और आत्मा चैतन्य है। मनुष्य का मन एवं उसकी बुद्धि जड़ होने पर भी चेतना के सान्निध्य में रहने से चेतन का भी प्रतिनिधित्व करती है। जड़ता से परिच्छिन्न मन को निम्न मन एवं आत्माभिमुख मन को उच्च मन माना जाता है। निम्न मन सदैव जड़ता की ओर प्रवाहित होता है तथा उच्च मन का प्रवाह सदैव आत्मोन्मुख होता है। अपने मन को जड़ता से सर्वथा मुक्त कर उसे चैतन्य का अंग बना देना ही दिव्य रूपान्तरण है। यह दिव्य रूपान्तरण प्रबल भाव द्वारा ही सम्भव होता है। अन्तःकरण को विशुद्ध बनाकर उसे भावमय बना देने से स्वतः दिव्य रूपान्तरण हो जाता है। दिव्य रूपान्तरण होने पर मनुष्य अपने

स्वभाव, संस्कार आदि से मुक्त होकर अमर, शाश्वत एवं आनन्दमय जीवन प्राप्त कर लेता है।

महा कारुणिक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य का आविर्भाव इस भूतल पर इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए हुआ था। महाप्रभु का यथार्थ स्वरूप दिव्यातिदिव्य है जिसमें भगवान के असंख्य दिव्य गुणों का समावेश है। महाप्रभु ने भगवान श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम भाव रखते हुए मनुष्यों को श्रीकृष्ण की सेवा करने का सन्देश एवं उपदेश दिया ताकि वे भगवदीय पथ पर अग्रसर हो सकें, उनका दिव्य रूपान्तरण हो सके। महाप्रभु ने भगवत्प्रेम को मानव जीवन के सर्वोच्च आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया। श्रीकृष्ण के प्रति विशुद्ध अनन्य प्रेम एवं उनकी सेवा द्वारा आनन्दमय जीवन की राह दिखलाई। महाप्रभु ने भगवत्प्रेम को मनुष्य के हृदय की गहराई में पहुँचाकर दैनन्दिन जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप में उसे अनुस्यूत कर संसार की जड़ता, शून्यता एवं नीरसता का समूलोच्छेदन किया। महाप्रभु के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी मनुष्य के आध्यात्मिक रूपान्तरण में यद्यपि यथेष्ट योगदान किया तथापि मनुष्य के सम्पूर्ण मानस को भगवत्प्रेम एवं सेवा भाव से संयुत कर महाप्रभु ने मनुष्य के मानस में दिव्य भावों की प्रतिष्ठा कर जो दिव्य एवं भावात्मक रूपान्तरण किया, वह अतुलनीय एवं अनुपमेय है। इस दृष्टि से उन्हें दिव्य रूपान्तरण का सशक्त पुरोधा निस्सन्देह कहा जा सकता है।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य को पुरुषोत्तम वदनावतार एवं वैश्वानर का अवतार माना जाता है। वैश्वानर को भगवद् रूप ही माना जाता है। प्रादेश मात्र होने पर भी वैश्वानर आकाशवत् व्यापक है, वह सगुण साकार एवं आनन्दस्वरूप है। उसके अवतार का अर्थ परमात्मा का जीवात्मा के धरातल पर अवतरण है। महाप्रभु वल्लभाचार्य का प्राकट्य भगवान के ही रसात्मक स्वरूप का प्राकट्य है। महाप्रभु के स्वरूप में स्वामिनी भाव एवं भगवद्भाव दोनों संयुक्त हैं। महाप्रभु ने देखा कि मनुष्य भगवत्प्रेम से वंचित होने के कारण विषय-वासना और मोह-मरीचिका के तीव्र संताप से संतप्त हो लौकिक ज्वाला में दग्ध हो रहा है, वह भ्रान्त एवं निरुपाय हो इस भवाटवी में भटक रहा है, उसे भगवद् शरण रूपी सघन शीतल छाया की आवश्यकता है, उसे शान्ति, आनन्द, माधुर्य एवं अमरत्व की आवश्यकता है तो वे स्वयं इस भूतल पर अवतीर्ण हुए। भगवान की

करुणा ही सद्गुरु अथवा आचार्य बनकर आविर्भूत होती है और मनुष्यों का मार्ग प्रशस्त करती है। महाप्रभु ने पुष्टिमार्ग की खोज कर अपनी करुणा को मूर्त रूप प्रदान किया।

महाप्रभु एक लोकप्रिय वन्दनीय आचार्य ही नहीं थे किन्तु एक अद्भुत प्रतिभाशाली भगवदीय महापुरुष थे। वे वाक्पति थे, वाणी के सम्पूर्ण रहस्यों के मर्मज्ञ थे। अपनी विलक्षण प्रतिभा से उन्होंने व्यास के ब्रह्म सूत्रों का वास्तविक अर्थ प्रकट किया। इन सूत्रों का वास्तविक अर्थ समझकर उन्होंने दर्शन के क्षेत्र में शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की। इन ब्रह्म-सूत्रों के आधार पर ही महाप्रभु ने विरुद्धधर्माश्रयत्व एवं अविकृत परिणामवाद की स्थापना की। अणु भाष्य में ब्रह्म के स्वरूप, जीव और जगत् का सूक्ष्म किन्तु विशद विश्लेषण भी किया गया है। महाप्रभु ने **"तत्वार्थ-दीप-निबन्ध"** नामक स्वतन्त्र एवं विस्तृत ग्रन्थ लिखकर इसके माध्यम से अपने द्वारा स्थापित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस ग्रन्थ के शास्त्रार्थ, सर्वनिर्णय एवं भागवतार्थ नामक तीन प्रकरणों में से शास्त्रार्थ प्रकरण में आपने यह स्पष्ट किया है कि जगत् भगवान का ही कार्य है उनका ही आधिभौतिक स्वरूप है। ब्रह्म सत्चित्आनन्दरूप है। भगवान ने सत् रूप में चित् और आनन्द को तथा अपने सत् चित् रूप में आनन्द को तिरोहित कर लिया है। किन्तु अन्तर्यामी रूप में वह सच्चिदानन्द है। भगवान की माया शक्ति के विद्या और अविद्या दो रूप हैं। अविद्या से जीव दुःखी रहता है। विद्या से अविद्या का नाश होने पर मुक्त होता है। माहात्म्य ज्ञानपूर्वक परमात्मा के प्रति सुदृढ़ स्नेह का नाम ही भक्ति है। महाप्रभु ने मायावाद का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों को प्रतारण-शास्त्र कहा है। सर्वनिर्णय प्रकरण में प्रमाण, प्रमेय, फल और साधन का विशद विवेचन करते हुए सर्वतत्त्वों का निर्णय प्रमेय बल के आधार पर किया गया है। भागवतार्थ प्रकरण में महाप्रभु ने भागवत की समाधि भाषा को प्रमाण मानते हुए इसे वेद रूपी कल्पवृक्ष का परिपक्व फल बताया है। भागवत रूपी अमृत-समुद्र का मंथन कर महाप्रभु ने भागवत को भगवान श्रीकृष्ण का ही रूप बताया है। पुष्टि मार्ग की दृष्टि से भगवान का आधिदैविक रूप उस लीला का परिचायक है जिसमें वे गिरिराज गोवर्द्धन के निकुंज द्वार पर खड़े होकर जीवों को आश्रय देने के लिए वाम कर से आह्वान कर रहे हैं–

"उक्षिप्त हस्तः पुरुषो भक्त माकारयत्युत"

(भा. त. नि. 8)

भागवत के बारह स्कन्धों को भगवान के स्वरूप के बारह अंग मानते हुए महाप्रभु ने दशम स्कन्ध को भगवान का हृदय बताया है। महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत पर सुबोधिनी टीका लिखकर भगवान के स्वरूप माहात्म्य, भगवत्प्रेम एवं लीला के स्वरूप को स्पष्ट किया। इतना ही नहीं उन्होंने पुरुषोत्तम सहस्त्र नाम, त्रिविध नामावली, भगवत्पीठिका, पत्रावलम्बन, पंचश्लोकी, परिवृढ़ाष्टकम् आदि के साथ मधुराष्टक जैसा माधुर्य भाव पूरित अष्टक लिखा है जिसमें शब्द और भाव की मधुर तरंगों की छटा है। इसका पाठ करते समय चेतना का उदात्तीकरण एवं भावना का दिव्य रूपान्तरण स्वतः हो जाता है। **"मधुराधिपते रखिलं मधुरम्"** के उच्चारण के साथ ही भगवान का स्वरूप एवं लीला माधुरी हृदय पटल पर स्फुरित हुए बिना नहीं रहती। पुष्टिमार्गीय आधारभूत मान्यताओं का परिचय देने के लिए महाप्रभु ने षोडश ग्रन्थ की रचना की है। इन ग्रन्थों में अर्थ-गांभीर्य है, प्रत्येक अर्थ का गंभीर मनन, चिन्तन एवं अनुशीलन करने से यह धारणा सुदृढ़ हो जाती है कि समर्पित जीव प्रभु का अंश है, प्रभु की सेवा करना ही उसका एक मात्र धर्म है। इस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य का सम्पूर्ण कृतित्व भी मनुष्यों के हृदय में भगवत्प्रेम का संचार कर उनके लौकिक रूप का अलौकिक स्वरूप में रूपान्तरण करा देने वाला है। महाप्रभु ने समस्त वेद, शास्त्र, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, पुराण एवं गीता तथा पूर्ववर्ती समस्त दर्शनों का सारभूत तत्त्व निकालकर उनमें सामंजस्य स्थापित किया। महाप्रभु ने अपने विलक्षण व्यक्तित्व, दिव्य चरित्र, आदर्श एवं पवित्र आचरण तथा सारपूर्ण प्रवचन, लेखन एवं उपदेशों से अनेक भावुक, रस-पिपासु, सहृदय, आर्त एवं निश्छल मानस वाले जन समुदाय को अपनी ओर आकर्षित कर उनमें भगवत्प्रेम का सम्प्रेषण कर उनके चित्त को प्रभु की सेवा में लगा दिया, यही उनका सर्वश्रेष्ठ, अमूल्य अवदान है, इस दृष्टि से उन्हें भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के क्रान्तदर्शी मनीषियों में प्रथम पंक्ति में रखा जा सकता है।

कुछ दार्शनिक प्रत्येक वस्तु को भौतिक दृष्टि से पदार्थ (मेटर) के रूप में तो कुछ प्रत्येक वस्तु को चेतना (स्प्रीट) के रूप में मानते हैं। महाप्रभु वल्लभ के अनुसार मूल सत्ता चेतन है। शंकराचार्य मूल सत्ता को

चेतन मानते हैं किन्तु वे इसे निरपेक्ष (ऑबसोल्यूट) मानते हैं। महाप्रभु चेतना को निरपेक्ष न मानकर विशुद्ध (प्योर) मानते हैं। शंकराचार्य के अनुसार मूल चेतन सत्ता आनन्द है किन्तु श्रीमद्वल्लभ इस मूल सत्ता को सच्चिदानन्द मानते हैं। शंकर के अनुसार आनन्द सर्वथा निरपेक्ष है। केवल चेतना में विश्वास करने से हृदय सन्तुष्ट और अतृप्त रहता है किन्तु जो सत् चित् आनन्द संयुत परम चेतना में विश्वास करता है वह सन्तुष्ट एवं तृप्त हो जाता है। आनन्द चेतन आत्मा में भी अवश्य है किन्तु वह अव्यक्त रूप में है। महाप्रभु के मतानुसार ब्रह्म अपनी आविर्भाव-तिरोभाव की शक्ति से आनन्द को तिरोहित कर समस्त प्राणियों में विविध नाम रूपों में समा जाते हैं इसीलिए प्रत्येक प्राणी को अपने तिरोहित आनन्द को पुनः आविर्भूत करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। सच्चिदानन्द परब्रह्म का अनुग्रह प्राप्त होने पर प्राणी-मात्र एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में आनन्द पुनः आविर्भूत हो जाता है, इस अवस्था में प्रत्येक वस्तु सच्चिदानन्द बन जाती है। महाप्रभु के अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्म सम्पूर्णतः अनुग्रह-मय है। इसी अनुग्रह-मय परमात्मा में अपने विश्वास को टिका देना और उससे अनन्य-प्रेम करना ही चेतना का दिव्य रूपान्तरण है। महाप्रभु ने पुष्टिमार्ग द्वारा मनुष्यों के विश्वास एवं प्रेम को अनुग्रह मय परमात्मा में टिकाने का उपाय बताकर आनन्द के आविर्भाव के द्वार उन्मुक्त कर दिये हैं।

निरपेक्षता-वादियों के अनुसार प्रत्येक वस्तु सर्वातिशायी आत्मा या ब्रह्म है, इसके अलावा सब कुछ कल्पना है, मिथ्या है, सारहीन है किन्तु शुद्ध चेतनावाद के अनुसार जो कुछ हम देखते हैं वह भी कल्पना न होकर उसी चैतन्य आत्मा या ब्रह्म का ही एक रूप है। दिखाई देने वाला सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ब्रह्म या आत्मा ही है किन्तु सर्वोच्च सत्ता परब्रह्म है जो सच्चिदानन्द स्वरूप है। वही सत्ता अपनी आविर्भाव-तिरोभाव से आनन्द को तिरोहित कर सर्वरूप बन जाती है। और अनेक रूपों में व्यक्त होती है। **''सर्वम् खल्विदं ब्रह्म''** का यही अभिप्राय है। शांकर मत में माया शबलित ब्रह्म को किन्तु वल्लभमत में माया सम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म को जगत् का कारण माना गया है। शंकराचार्य के अद्वैत मत से भिन्नता एवं विशिष्टता बताने के लिए ही वल्लभाचार्य ने अद्वैत के साथ शुद्ध विशेषण जोड़कर अपने मत का नाम शुद्धाद्वैत रखा है। शांकर मत में ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूप मान्य होने पर भी निर्गुण को श्रेष्ठ एवं

सगुण को हीन माना गया है। वल्लभ मत में ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों को मान्य करते हुए विरुद्ध धर्माश्रयत्व को इसका कारण बताया गया है। वल्लभमत से श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, सच्चिदानन्द हैं, आत्मा में रमण करने से वे ही आत्माराम और अपनी शक्तियों द्वारा बाहर रमण करने पर वे ही पुरुषोत्तम कहलाते हैं।

दिव्य रूपान्तरण एक आध्यात्मिक शब्द है जिसका प्रयोग ज्ञान योगादि मार्ग में भी किया जाता है। प्रत्येक मार्ग की सिद्धि के लिए दिव्य रूपान्तरण आवश्यक है। गुरु-कृपा को इसका मुख्य कारण माना जाता है। ज्ञान मार्ग में साधक का जब दिव्य रूपान्तरण होता है तो वह स्वयं को आत्मा मानने लगता है और ब्रह्म से तादात्म्य होने पर स्वयं को ब्रह्म से अभिन्न मानने लगता है। योग मार्ग में कुण्डलिनी जागरण को ही दिव्य रूपान्तरण कहा जाता है। प्रबुद्ध व्यक्ति इसे अन्तश्चेतना जागरण(इनलाइटमेन्ट) कहते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य की दृष्टि से स्वयं की पहचान भगवान श्रीकृष्ण के अंश के रूप में करना, उनसे अनन्य प्रेम करना, उनके लिए समर्पित होना और उनसे अपना भाव सम्बन्ध बना लेना ही दिव्य रूपान्तरण है। इसी दिव्य रूपान्तरण के लिए महाप्रभु ने विलक्षण पुष्टिमार्ग को स्थापित किया जिसके अनुसार सांसारिक प्रेम को भगवान की ओर उन्मुख करना, अपने स्वत्व की प्रत्येक वस्तु को भगवान के समर्पित करना, प्रत्येक वस्तु को भगवत्प्रसाद मानकर अपने उपयोग में लेना और मन बुद्धि के साथ अपनी इन्द्रियों को भी भगवद् अभिमुख बना देना दिव्य रूपान्तरण के ही अंग हैं। संर्वात्मना समर्पण एवं प्रभु सेवा का भाव भक्त को प्रभु के आत्मीय प्रेम का पात्र बना देता है। यही सेवा भगवद् अनुग्रह प्राप्त कर शरणागत को भगवन्मय कर देती है। भगवन्मय होने पर भगवान द्वारा भक्त के सत्व का पोषण होता है, इसे ही पुष्टि कहते हैं, पुष्टि प्राप्त होने पर भक्त के हृदय में आह्लादिनी शक्ति का स्फुरण होता है, यही महाभाव रूपा राधा है जिसकी कृपा से भक्त लीला प्रवेश का अधिकारी बनकर शाश्वत रूप में भगवद्-रस का पान करता है। इस प्रकार महाप्रभु का दिव्य रूपान्तरण अन्य मार्ग के दिव्य रूपान्तरण की तुलना में अनूठा एवं शाश्वत है। इस रूपान्तरण द्वारा ''श्रीकृष्ण मेरे है'' ''मैं श्रीकृष्ण का हूँ'' यह भाव चिन्तन सदैव बना रहता है। यह दिव्य रूपान्तरण शुष्क नीरस, अस्थायी एवं बौद्धिक न होकर भाव-पूर्ण, शाश्वत

एवं रसमय है जिसे महाप्रभु द्वारा निर्दिष्ट पुष्टि-पथ से प्राप्त किया जा सकता है।

महाप्रभु ने सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्रेम का केन्द्र बनाकर और प्रेम को ही भगवत्प्राप्ति का साधन बनाकर मनुष्य की भावमय चेतना का परिष्कार किया है। उन्होंने निर्गुण पुष्टि भक्ति का वह स्वरूप प्रकाशित किया जिसमें भगवत्प्रेम की पराकाष्ठा है, भगवद्-सेवा की तत्परता है। शुद्ध ब्रह्मवाद का स्वरूप समझाकर मानवीय चेतना के विशुद्ध अंश से परम चेतना का ऐक्य स्थापित किया और भागवत के गूढ़ तत्त्व को प्रकट कर निस्साधन जीवों को सुदृढ़ आश्रय एवं आलम्बन प्रदान किया। महाप्रभु ने मिथ्या मायावाद का खण्डन किया, जगत की यथार्थता का प्रतिपादन कर वर्तमान जीवन में आस्था और निष्ठा का संवर्द्धन कर अपने दिव्य रूपान्तरण के कार्य को पूरा किया। सुबोधिनी के अनुसार जीव के सभी दोष उसके मन के ही दोष हैं किन्तु सत्व आगन्तुक है, इसमें भगवान के आश्रय से ही प्रकाश होता है अतः मन को भगवत्प्रेम से युक्त बनाकर उसे प्रभु की सेवा में लगा देने से तीनों गुणों से उत्पन्न दोषों का परिहार हो जाता है।

"जीवानां ब्रह्म रुपत्वाद दोषा अपि च मानसाः।
जगच्च सकलं ब्रह्म, ततो दोषं कथं हरौ ॥"

(ब्रह्मवाद सिद्धान्त)

इस प्रकार मानसिक चेतना का यह परिष्कार ही दिव्य रूपान्तरण है और महाप्रभु ने हर सम्भव प्रयास से इस दिव्य रूपान्तरण को सुगम कर दिखाया है। महाप्रभु ने मनुष्य की भोग विलास की सहज रुचि को सुन्दर मोड़ देकर उसे भगवत्परक बनाया, प्रभु में उसका विनियोग कराया। अहंता-ममता का निरसन कर सर्वस्व समर्पण, अनन्याश्रय और पूर्ण शरणागति का सन्देश और परिवेश देकर महाप्रभु ने दिव्य रूपान्तरण को सम्भव एवं सहज बना दिया। ब्रह्म-सम्बन्ध-पद्धति द्वारा दैवी जीवों को भगवदाश्रय, अनन्य निष्ठा एवं समर्पण की प्रेरणा दी, तथा सेवा-पद्धति द्वारा तदीयता, तन्मयता, तद्रूपता एवं एकात्मभाव का जागरण किया।

महाप्रभु ने देखा कि पशु जीवन की अभ्यस्त मानव चेतना को भगवद्प्रेम के माध्यम से ही दिव्य जीवन की ओर प्रेरित किया जा सकता है। सम्पूर्ण प्रकृति के विकास में भी आद्योपान्त भगवत्प्रेम ही मुख्य कारण

है। परमात्मा जब अमूर्त से मूर्त होना चाहता है तो उससे चेतना, प्रकाश आनन्द एवं प्रेम ही चार सत्ताएँ निःसृत होती है, जो देश कालावच्छिन्न होते ही क्रमशः जड़ता, अन्धकार, शोक एवं घृणा में परिवर्तित हो जाती है और भगवान के दिव्य गुणों के प्रकाशन में अवरोध बन जाती है। भगवद् प्रेम से ही यह अवरोध दूर होकर भगवदीय दिव्य गुणों का प्रकाशन सम्भव होता है। भगवद् प्रेम से ही निश्चेतन चेतन में स्थानान्तरित होता है। जीवत्व, ईश्वरत्व की ओर उन्मुख होता है।' **'एकोऽहं बहुस्याम्'** के संकल्प की पूर्ति के लिए भगवान माया से आबद्ध होकर परिच्छिन्न बन नामरूपात्मक जगत में आविर्भूत होते हैं और स्वयं जीवत्व धारण करते हैं। जीवत्व धारण करते ही उन्हें प्रकृति (माया) के साथ संघर्ष करना पड़ता है क्योंकि माया उनके दिव्य गुणों का प्रकाशन नहीं होने देती। इसीलिए प्रकृति के साथ होने वाले अनवरत संघर्ष में भगवान जीवात्मा को विजयी बनाना चाहते हैं ताकि उनके दिव्य गुणों का प्रकाशन मानव में हो सके। वे चाहते हैं कि जीवात्मा उनका आश्रय लेकर अपनी मायाजन्य दुर्बलताएँ छोड़कर माया को परास्त करे, उसके बन्धन से मुक्ति प्राप्त करे और मनुष्य भगवान के दिव्य गुणों को धारण करे। यह भगवत्प्रयोजन स्वार्थ मूलक न होकर विशुद्ध करुणा मूलक है। जो भक्त भगवान के इस प्रयोजन को समझ लेता है वह भगवत्प्रयोजन की पूर्ति के लिए स्वयं को सर्वात्मना समर्पित कर देता है। महाप्रभु के रूप में स्वयं भगवान ही प्रच्छन्न रूप से इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए संलग्न रहे।

मनुष्य के दिव्य रूपान्तरण में स्वार्थ, अहंकार, ममत्व एवं विषय-लिप्सा बाधक है। प्रेम के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने की भावना इसमें सहायक है। महाप्रभु ने पुष्टि मार्ग द्वारा मनुष्य के मनोविकार हटाने एवं भगवद् प्रेम की अभिवृद्धि करने के समस्त संसाधन जुटा दिये हैं। उनके द्वारा निर्दिष्ट पुष्टि-पथ का अनुसरण करने वाला साधक भगवान की संकल्प पूर्ति का निमित्त अवश्य बन जाता है। आनन्द की उत्कृष्ट इच्छा का नाम ही भगवत्प्रेम है। सर्वत्र श्रीकृष्ण ही है इस भावना से भावित होने पर विशुद्ध अन्तःकरण में दिव्यता का संचार हो जाता है। यही अन्तःकरण का दिव्य रूपान्तरण है, इसी से भगवान की लीला में प्रवेश करने का अधिकार मिलता है, इसी से भगवत्प्राप्ति ही नहीं भगवत्स्वरूप तक ही प्राप्ति हो जाती है।

सभी आचार्यों के सामने दिव्य रूपान्तरण का लक्ष्य रहता ही है और सभी तदनुकूल शास्त्र, परिवेश एवं पद्धति का निर्देश भी करते हैं किन्तु दिव्य रूपान्तरण की दृष्टि से शंकराचार्य, महाप्रभु चैतन्य एवं महाप्रभु वल्लभाचार्य को सर्वाधिक सफलता मिली है। महाप्रभु चैतन्य ने नाम संकीर्तन पद्धति से जनमानस में श्रीकृष्ण प्रेम को प्रतिष्ठित किया किन्तु प्रत्यक्ष सेवा-पद्धति के अभाव में उनका प्रभाव विप्रयोग-रसात्मिका भक्ति तक ही सीमित रहा और भगवद् विरह की प्रगाढ़ता विरले पुरुषों में ही सुदृढ़ हो सकी। शंकराचार्य ने जीव को ब्रह्म बताकर ब्रह्म की सत्ता का ही प्रतिपादन कर मानवीय चेतना में ब्रह्मानुभूति का द्वार अवश्य उन्मुक्त किया किन्तु पात्रता के अभाव में ब्रह्मानुभूति भी विरलों को ही प्राप्त हो सकी। साथ ही यह ब्रह्मानुभूति शुष्क एवं रसहीन होने से जन साधारण के लिए ग्राह्य नहीं हो पाई। नित्यानन्द, मुक्तानन्द आदि ध्यान योगियों ने ध्यान योग से दिव्य रूपान्तरण का उदाहरण स्वयं प्रस्तुत किया, किन्तु एकान्तनिष्ठा के अभाव में उनके अनुयायियों द्वारा योग की दुरूह साधना प्रतिफलित न हो सकी। इनके अलावा भी कृष्णमूर्ति, रमण महर्षि आदि के उच्च चिन्तन का मर्म उनके जैसी मानसिक स्थिति प्राप्त होने पर ही समझा जा सकता है जो अत्यन्त कठिन है। आचार्य रजनीश ने लोगों के दिव्य रूपान्तरण के लिए गहन चिन्तन करते हुए कई अभिनव प्रयोग किये किन्तु रमणीय आलम्बन के अभाव में मनुष्यों का दिव्य रूपान्तरण सम्भव नहीं हो पाया।

आचार्य वल्लभ भक्ति मार्ग के आचार्यों में अन्तिम एक मात्र ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने पुष्टिमार्गीय-सेवा-पद्धति में अष्टयाम-सेवा का विधान कर मानवीय चेतना को अहर्निश श्रीकृष्ण-सेवा में संलग्न किया। सेव्य प्रभु श्रीनाथजी के दर्शन एवं विधान से सतत श्रीकृष्ण से नित्य संयोग का अनुभव करने का अवसर दिया। इस दृष्टि से पुष्टि भक्ति में दिव्य रूपान्तरण का सर्वाधिक अवकाश है। इसमें आराध्य की सहज स्मृति बनी ही रहती है, उसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। जिसकी चेतना का दिव्य रूपान्तरण हो जाता है, वह कृष्णमय बन जाता है। वह भगवान में समस्त लोगों को एवं समस्त लोकों में भगवान का ही दर्शन करता है। ऐसा भक्त समत्व बुद्धि से युक्त, निज-पर-भेद से रहित एवं सर्वभूत-हित रहता है। वह राग, द्वेष, इच्छा, अहंकार, ममता से रहित सरल एवं पवित्र

अन्तःकरण वाला हो जाता है। भगवान से अनन्य प्रेम होने के कारण वह निर्भय, निर्द्वन्द्व एवं सन्तुष्टचित्त रहता है। प्रभु के प्रति सर्वस्व न्यौछावर करने की भावना उसके रोम-रोम में भरी रहती है। ऐसे भक्त के माध्यम से भगवान के स्वरूप एवं उनकी महिमा का सतत प्रकाशन होता रहता है, वह भगवान को अत्यन्त प्रिय होता है। वह समस्त लोकों को पवित्र कर देता है, वह वन्दनीय होता है। ऐसे भगवदीय की सेवा को प्रभु अपनी सेवा मानकर शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। सर्वभाव से प्रभु को भजते हुए जो अनन्य प्रेम से भगवद् सेवा में लीन रहता है, वह प्रभु की दिव्य लीला में प्रवेश करने का अधिकारी बन जाता है। वह दिव्य लीला में एवं भगवान के निज धाम में प्रवेश कर सतत भगवान श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का, उनकी रास-लीला के मधुर रस का अहर्निश पान करता रहता है। उसे जो प्रेमानन्द, प्राप्त होता है वह ब्रह्मानन्द से भी अनन्त गुना अधिक होता है।

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य सच्चे अर्थों में जगद् गुरु हैं, उन्होंने अपने वाङ्मय एवं उपदेशों से एवं पुष्टि भक्ति पद्धति से अपार जनसमूह के मानस में रसमय ब्रह्म-भगवान श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा की, उन्हें सन्मार्ग पर आरूढ़ कर भगवत्प्रेम का सन्देश दिया और श्रीकृष्ण भक्ति के माध्यम से मानवीय चेतना को पूर्णता की ओर अग्रसर किया। निस्सन्देह महाप्रभु श्रीवल्लभ दिव्य रूपान्तरण के सशक्त पुरोधा थे। महाप्रभु श्रीवल्लभ के चरणों में शत्-शत् वन्दन सहित समस्त भगवदीय पाठकों के लिए भगवत्प्रेम में निमग्न होने का शुभ सन्देश संप्रेषित है।

पुष्टिमार्ग के आलोक में भगवद् भाव के साधक एवं बाधक तत्त्व (1) सत्संगो भाववर्द्धकः (2) दुःसंगो भाव नाशकः

सत्संगो भाववर्द्धकः

सत्संग भगवद्भाव की अभिवृद्धि करने वाला एवं दुःसंग भक्ति भाव का नाशक है। प्रस्तुत आलेख का आशय इसी तथ्य का प्रतिपादन करना है।

प्रत्येक मनुष्य में रति नामक स्थायी भाव सुषुप्त अवस्था में पड़ा रहता है। यही रति भाव दैवी जीवों में भगवद् विषयक रति के रूप में

रूपान्तरित होता है। प्रभु की अकारण कृपा से जब किसी दैवी जीव को भगवदीय महानुभाव का संसर्ग प्राप्त होता है तो उनकी सदय दृष्टि से अन्तःकरण में सुषुप्त अवस्था में पड़ा हुआ भगवद्-भाव रूपी बीज स्फुरित अथवा अंकुरित हो उठता है। यह भगवद् भाव ही स्नेह संयुत होकर पल्लवित होता है तथा प्रभु-प्रेम मार्ग के पथिक को भगवत्प्राप्ति कराता है। इस भगवद् भाव का पोषण सत्संगति से ही होता है। महाप्रभु श्रीहरिरायजी के अनुसार **"सत्संगो भाववर्द्धकः"** अर्थात् सत्संग ही प्रभु के प्रति स्नेह भाव को सींचता है, उसकी अभिवृद्धि करता है। लोक एवं शास्त्रों तथा पुराणों में भी सर्वत्र सत्संग की अपार महिमा गाई गई है। सत्संग ही मनुष्य के अभ्युदय एवं निःश्रेयस् का मूल आधार है। सत् का अर्थ आत्मा अथवा परमात्मा है। आत्मा अथवा परमात्मा से संग करना ही सत्संग है। आत्मा एवं परमात्मा यद्यपि मनुष्य के अन्तःकरण में सदैव विद्यमान है किन्तु अपनी चेतना स्वरूप आत्मा एवं अन्तर्यामी स्वरूप परमात्मा को प्रत्यक्ष कर उनके साथ संग कर पाना अत्यन्त कठिन है। भगवान श्रीकृष्ण हमारी आत्मा की भी आत्मा हैं, परमात्मा हैं, वे ही पूर्ण ब्रह्म, सच्चिदानन्दघन भगवान् हैं। उनका स्थायी निवास भक्त-जन का हृदय है। जहाँ भी भक्त-जन परस्पर मिलकर भगवान की गुण-चर्चा, स्तुति तथा संकीर्तन करते हैं तथा प्रभु की रसमयी लीलाओं का वर्णन करते हैं वे वहाँ अवश्य उपस्थित रहते हैं। इस प्रकार प्रभु के अप्रत्यक्ष रहते हुए भी दैवी जीवों को भक्त जन के सत्संग के माध्यम से भगवान श्रीकृष्ण का संग सुलभ हो जाता है।

जिन महानुभावों ने भगवद् प्राप्ति कर ली है और जो भगवान श्रीकृष्ण के प्रेम में आकण्ठ निमग्न हो चुके हैं, उन्हीं को भगवदीय कहा जाता है। भगवान श्रीकृष्ण रस स्वरूप हैं। **"रसौ वै सः"** के ब्रह्म-सूत्र के अनुसार उनका स्वरूप भावात्मक एवं रसात्मक है अतः भावुक एवं रसिक भक्त जन एवं भगवदीयों के संग से ही रस स्वरूप प्रभु की प्राप्ति सम्भव है। महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भगवदीयों को ही तादृशी जन बताया है क्योंकि इनके चित्त की अवस्थिति सदैव प्रभु के स्वरूप में ही रहती है। **"निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशै जनैः"** के अनुसार ऐसे भगवदीयों के साथ मिलकर प्रभु के समक्ष किये गये आत्म-निवेदन का स्मरण बार-बार करना आवश्यक है। संसार में अनेक स्थानों पर सत्संग

होते ही रहते हैं किन्तु लौकिक तथा वैदिक भाव वाले मर्यादा मार्गीय पुरुषों से सत्संग करना प्रेम मार्ग के पथिक के लिए व्यर्थ एवं निरर्थक है। इस प्रकार का सत्संग उस शुष्क भोजन की तरह है जिससे पेट तो भर जाता है किन्तु उससे न तो तृप्ति होती है और न रस ही प्राप्त होता है। जिनके मन में लौकिक कामनाएँ भरी हों उनका सत्संग भी केवल लौकिक फल की प्राप्ति के लिए ही होता है, उसमें सत्संग करते हुए भी सकाम भाव ही मुख्य बना रहता है। लौकिक भाव भगवद् रति को शान्त कर देता है, यह उस जल के समान है जो भगवद् प्रेम की भावाग्नि को बुझा देता है। भगवद् भाव की अग्नि को सतेज बनाये रखने के लिए भगवदीयों के सत्संग रूपी ईंधन की आवश्यकता होती है। भगवदीयों के साथ किये जाने वाले सत्संग से ही चित्त की प्रभु में अवस्थिति होती है, प्रभु पकड़, में आते हैं, एवं रस रूप परमात्मा की प्राप्ति होती है। प्रभु सत्संग से ही भक्त जन के वश-वर्ती होते हैं। सत्संग भगवान में चित्त पिरोने का सर्वोत्तम साधन है। भगवदीयों का सत्संग ही भाव-वृद्धि, आर्ति-उत्पत्ति एवं दैन्य-सिद्धि का मूल है। भगवदीयों के मन में सत्संग के माध्यम से धन तथा यश अर्जित करने, प्रतिष्ठा अथवा जनप्रिय बनने की कामना नहीं होती, इसीलिए उनके साथ किया गया सत्संग दिव्य सत्संग होता है जो जन्म-जन्मान्तर से भटकती हुई भगवद् प्रेमी विरहिणी आत्माओं को आश्वस्त कर उन्हें भगवत्प्राप्ति करा देता है। इस कराल कलिकाल में सभी पवित्र एवं उत्तम साधन लगभग दूषित हो चुके हैं, सत्संग रूपी साधन भी इससे अछूता नहीं है। तीर्थादि उत्तम स्थानों अथवा पुण्य क्षेत्रों में ही नहीं, स्थान-स्थान पर सत्संग, प्रवचन एवं भगवद् कथा के विभिन्न आयोजन होते रहते हैं, जिनके पीछे धनार्जन, प्रदर्शन एवं यश प्राप्ति की कामना छिपी रहती है। सत्संग के नाम पर लाखों मनुष्यों की भीड़ भी जुड़ जाती है किन्तु ऐसे सत्संग से बुद्धि चाहे चमत्कृत एवं गर्व का अनुभव क्यों न कर ले, इनसे हृदय तृप्त नहीं होता और न रस सिद्धि ही होती है। भगवदीय का जीवन तो पूर्णतः सत्संग मय ही होता है, उसे भीड़ जुटाने अथवा प्रचार या प्रदर्शन की लालसा नहीं होती, वह तो सहज रूप से अपने संसर्ग एवं सान्निध्य में आने वाले भक्त जन के भगवद् भाव की अभिवृद्धि करते ही रहते हैं। ऐसे भगवदीयों के सत्संग के लिए ही कहा गया है–

"तुलयाम लवेनाऽपि न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
भगवत्संगी संगस्य मर्त्याना विमुताशिषः ॥"

अर्थात् भगवदीयों के साथ किये गये क्षण मात्र के सत्संग की तुलना स्वर्ग और मोक्ष से भी नहीं की जा सकती है। भगवदीयों के क्षण मात्र के संग से जो परमानन्द प्राप्त होता है वह अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। इस कलिकाल में भगवदीयों का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। प्रभु की विशेष कृपा से ही भगवदीयों से संसर्ग हो पाता है। भगवदीय सहज, सरल एवं पाखण्ड रहित होते हैं, वे कभी स्वयं को प्रचारित नहीं करते, अपना आत्म-विज्ञापन भी नहीं करते और न किसी प्रकार की विशेष वेशभूषा पहनकर अपनी अलग पहचान बनाने का प्रयत्न ही करते हैं इसीलिए पाखंडियों की अपार भीड़ में से उन्हें पहचान कर खोज लेना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, किन्तु उन्हें कुछ लक्षणों के आधार पर पहचाना जा सकता है। उन्हें देहाध्यास कम रहता है। वे भगवद्भाव में अहर्निश निमग्न रहते हैं तथा उनके सान्निध्य में परमानन्द का अनुभव होता रहता है। भगवदीय के न मिल पाने की स्थिति में प्रभु एवं सद्गुरु का दृढ़ आश्रय ग्रहण कर प्रभु का नाम स्मरण, चिन्तन, स्वाध्याय एवं कीर्तन करते रहना चाहिए ताकि प्रभु कृपा से अंकुरित भगवद्-भाव का संपोषण होता रहे। पाखण्डियों के मुख से भगवत्कथा, वार्ता अथवा हरिगुण-गान भी इसीलिए नहीं सुनना चाहिए क्योंकि उनका चित्त लौकिक अथवा वैदिक में लगा रहता है और वे बहिर्मुखी होते हैं। जिस प्रकार अशुद्ध बर्तन में रखा हुआ गंगा जल भी ग्राह्य नहीं होता उसी प्रकार उनके मुख से निकली भगवद्-वार्ता भी परम रस का आस्वादन नहीं करा पाती। पात्र भेद से वस्तु की शक्ति में भी भेद हो जाता है, इस रहस्य को जान लेना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

पुष्टिमार्ग का मूल साधन सत्संग ही है। इस मार्ग में सत्संग के बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता है। भगवदीय के संग से ही सर्वसिद्धि होती है, रस स्वरूप प्रभु का साक्षात्कार होता है, चित्त द्रवित एवं विगलित होकर प्रभु-भक्ति के योग्य बनता है एवं समस्त सांसारिक दोषों की निवृत्ति होती है। भगवदीय ही मनुष्य को प्रभु की तनुजा, वित्तजा एवं मानसी सेवा की प्रेरणा देते हैं। अपने धन का उपयोग प्रभु की सेवा में करने की सद्बुद्धि देते हैं। सत्संग से ही प्रभु के प्रति सेवा भाव का संवर्द्धन होता है।

भगवदीयों के सत्संग से अभिमान की निवृत्ति होती है तथा समस्त मनोविकारों का शमन होता है। भगवदीय के कारण ही तीर्थ भी तीर्थ बनता है, जहाँ भी वह रहता है, वह देश और स्थान भी पवित्र हो जाता है। वही काल सर्वोत्तम है जिसमें भगवदीयों के सत्संग का सुअवसर प्राप्त होता है। भगवदीय का सत्संग ही समस्त दोषों एवं भव रोग की अमूल्य औषधि है। सत्संग से ही भगवद्-नाम-स्मरण, भजन, संकीर्तन, दर्शन, कथा-श्रवण एवं भगवत्सेवा में रुचि बनती है और भगवद् प्रेम का पोषण होता है। तादृशी भगवदीयों के साथ सत्संग ही नहीं अपितु सद्गुरु एवं प्रभु के समान उनकी सेवा करने से भी सभी प्रकार के दोष त्वरित गति से विनष्ट हो जाते हैं।

भगवदीय के साथ बैठकर भगवद् वार्ता, हरिगुण-चर्चा अथवा प्रभु-लीला की बाते करने से भाव सिद्ध होता है, हृदय में प्रभु की उपस्थिति का अनुभव होता है, परम रस की प्राप्ति होती है तथा चित्त लौकिक कामनाओं, विकारों एवं संकल्पों से हट जाता है। भगवदीयों के संग से प्रभु की प्रसन्नता बढ़ती है एवं चित्त में भगवद् भाव स्थिर हो जाता है। भगवदीयों के सत्संग के अभाव में भाव-शैथिल्य बना रहता है और समस्त क्रियाओं में भी भावशून्यता व्याप्त हो जाती है। यदि दुर्भाग्य वश भगवदीय का सत्संग न मिले तो हताश न होकर श्रीमद्भागवत का पाठ करना चाहिए, उसके गूढ़ार्थ को हृदयंगम करना चाहिए एवं उसमें वर्णित प्रभु के स्वरूप एवं उनकी लीलाओं का रसास्वादन करना चाहिए। श्रीमद्भागवत भगवान श्रीकृष्ण का ही तेजोमय स्वरूप है जो सभी प्रकार के दोषों को दूर कर भगवद्भाव का पोषण करने में समर्थ है। पुष्टिमार्ग में भाव ही सर्वोच्च साधन है, अमूल्य निधि है अतः भाव के संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए सतत जागरूकता एवं तत्परता आवश्यक है। जिन भक्त जन को प्रभु ने अंगीकार कर उन्हें अपना स्वरूप-दान दे दिया है, वे ही तादृशी भगवदीय है, उनका भगवद् प्रेम अक्षुण्ण बना रहता है, किसी भी लौकिक भाव से उनका भगवद् भाव तिरोहित नहीं होता। प्रभु की जिन भक्त-जन पर विशेष कृपा होती है, उनका संसर्ग ऐसे भगवदीयों से अवश्य हो जाता है। इनके संसर्ग से जब भक्ति का भाव सुदृढ़ हो जाता है तो फिर अपने भगवद् प्रेम को गुप्त रखने की आवश्यकता नहीं रहती किन्तु भाव की अपरिपक्व अवस्था में भगवद् भाव पर भी लौकिक आघात हो

सकता है अतः उसे गुप्त रखना ही श्रेयस्कर है।

दुःसंगो भाव नाशकः

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ने **"जीवाःस्वभावस्तु दुष्टाः"** कहकर जीवों को स्वभाव से ही दुष्ट बताया है और स्वभावगत दुष्टता की निवृत्ति के लिए भगवद् आज्ञा से ब्रह्म-सम्बन्ध कराने की परम्परा का श्रीगणेश किया है। वस्तुतः विशुद्ध ब्रह्म अर्थात् श्रीकृष्ण से भावात्मक सम्बन्ध बन जाने पर जीवों की दुष्टता निवृत्ति हो जाती है तथा उनके स्वभावगत दोष भी मिट जाते हैं, उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तथा उनमें प्रभु के प्रति स्नेह भाव का स्फुरण भी हो जाता है। किन्तु यदि यह ब्रह्म-सम्बन्ध भी सच्चे हृदय से न लेकर मात्र परम्परा निर्वाह एवं औपचारिकता की पूर्ति के लिए लिया जाता है तो उसका वांछित परिणाम नहीं निकलता। ब्रह्म-सम्बन्ध लेने के साथ ही अपने द्वारा किये गये आत्म-निवेदन के अनुसार जीव अहंता, ममता के साथ ही लौकिक एवं वैदिक धर्मों का परित्याग कर यदि अपना पूर्ण समर्पण सिद्ध नहीं करता तो प्रभु उसे केवल वाचिक समर्पण के आधार पर अंगीकार नहीं करते, फल स्वरुप न तो उसके स्वभावगत दोष ही मिटते हैं और न उसकी दुष्टता की ही निवृत्ति होती है।

"प्रीति शून्यो महादुष्ट" अर्थात् महाप्रभु श्रीहरिरायजी के अनुसार भगवद् विमुख जन ही प्रेम से रहित होते हैं और ऐसे लोग ही महादुष्ट हैं। ऐसे व्यक्तियों के संग को ही दुःसंग कहा जाता है जो सर्वथा भाव नाशक है। भगवद् विमुख जीवों का संग क्लेश कारक एवं सन्ताप दायक होने के साथ ही भगवद् धर्म का भी लोप करने वाला है। भगवद् विमुख दुष्ट भी कर्म-दुष्ट, ज्ञान-दुष्ट एवं भाव-दुष्ट भेद से तीन प्रकार के होते हैं जिन्हें क्रमशः आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक दुष्टों की तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है। आधिभौतिक दुष्ट केवल क्रिया से ही दुष्ट होता है, दुष्कर्म में रत रहता है, दुराचरण में उसकी प्रवृत्ति रहती है। वह अपने दुर्वचनों से भी अन्य को कष्ट पहुँचाता है। ऐसा व्यक्ति किसी सदाचार परायण व्यक्ति के संसर्ग में रहने पर उसके संग के प्रभाव से धीरे-धीरे अपनी क्रिया एवं आचार को शुद्ध कर सुधर जाता है। आध्यात्मिक दुष्ट केवल ज्ञान से ही दुष्ट होता है, उसे यथार्थ ज्ञान न होकर अधूरा ज्ञान ही होता है, वह शास्त्रों का भी अपने अनुकूल मनमाना

अर्थ करता है। उसका ज्ञान विपरीत होता है, वह सत्संग में भी अपनी श्रेष्ठता बताने का प्रयत्न करता रहता है, अज्ञानी होते हुए भी स्वयं को ज्ञानी मानता है, वह अन्य किसी के मत का आदर न कर अपने ही मत को स्थापित करने का दुराग्रह रखता है। ऐसा आध्यात्मिक दुष्ट भी भगवदीय का सत्संग पाकर, उसका आचरण देखकर, भगवत्कथा का श्रवण कर, शास्त्रार्थ का मनन, चिन्तन कर क्रमशः सुधर जाता है एवं यथार्थतः तत्ववेत्ता बन जाता है तथा युक्तियुक्त यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर ज्ञान दुष्टता से मुक्ति पा लेता है। आधिदैविक दुष्ट भाव से दुष्ट होता है। वह सब कुछ जान कर भी सत्य को स्वीकार नहीं करता, भगवदीयों से ईर्ष्या रखता है। वह कृत्रिम शिष्टाचार की ओट में अपनी दुष्टता छिपाये रखता है। बाहर से स्वयं को विनयशील एवं मृदुभाषी बनाकर भी भगवद्भाव में व्याघात डालने के उपक्रम करता रहता है। ऐसा दुष्ट भगवद् प्रेम से सर्वथा रहित होता है, इसीलिए उसे महादुष्ट की संज्ञा दी गई है। वह किसी भी उपाय से बहिर्मुखता का त्याग नहीं करता, भगवदीय के सत्संग का भी उस पर प्रभाव नहीं पड़ता है, इसीलिए उसका सुधरना नितान्त असम्भव है।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ने पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा भेद में जिन चर्षणी जीवों का वर्णन किया है, वे ही प्रकारान्तर से भाव-दुष्ट हैं जिनकी रुचि स्थिर नहीं होती, वे सभी धर्मों में विचरते रहते हैं। ये प्रवाही एवं आसुरी जीवों की भाँति सदैव बहिर्मुखी बने रहते हैं, परम स्वार्थ परायण होते हैं तथा अनेक जन्म-जन्मान्तर तक संसार की आसक्ति में डूबे रहते हैं। इनका अन्तःकरण सदैव विषयाक्रान्त बना रहता है, इनके हृदय में भगवद् भाव का तनिक भी संचार नहीं होता। ऐसे महादुष्ट जीवों का सुधरना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार जन्मजात नपुंसक को पुरुषत्व मिलना असम्भव है अथवा त्रिदोष ग्रस्त व्यक्ति का जीवन धारण करना किसी भी उपाय से सम्भव नहीं है।

इन भाव-दुष्ट मनुष्यों का संग करना ही दुःसंग है, इनके संग से दैवी जीवों में भी आसुर भाव उत्पन्न हो जाता है। इनका संसर्ग भगवद् मार्ग में बाधक एवं प्रतिबन्ध उत्पन्न करने वाला है। ऐसे ही प्रेम शून्य महादुष्टों का लक्षण बताते हुए महाकवि सूरदास ने कहा है–

"सूरदास खल कारी कामरी चढ़े न दूजो रंग"

इन भाव-दुष्टों में भगवद् प्रेम का आवेश होना तो दूर रहा, इनमें सदैव प्रेम एवं भगवद् भाव का विरोधी भाव बना रहता है। सन्त कवि कबीर ने तो इनके बारे में यहाँ तक कह दिया है कि "जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जाण मसान" अर्थात् ये वे लोग हैं जो जीवित होते हुए भी मृतक वत् हैं।

इन दुष्टों के दुःसंग के अतिरिक्त भी अहंता, ममता युक्त संसारी पुरुषों का संग भी अत्यन्त दुःखदायक है, इसे भी कुसंग की संज्ञा दी गई है। यदि ऐसे व्यक्ति के संसर्ग में लौकिक सम्बन्ध होने के कारण मनुष्य रहने को बाध्य हो तब भी, इनका साथ जल्दी छूटे, इसके लिए प्रयत्नरत रहना भी आवश्यक है। यदि परिवार का कोई सदस्य भी अहंता ममता युक्त हो और भगवद् प्रेम से रहित हो तथा भगवत्सेवा, सत्संग, कथा-वार्ता आदि में रुचि न रखता हो तो वह भी सर्वथा त्याज्य है। दुःसंग और कुसंग के दुष्प्रभाव से मनुष्य का चित्त बहिर्मुखी हो आठों प्रहर विषयों में ही लगा रहता है और भगवद् भाव स्थिर नहीं हो पाता। ऐसे लोगों का मोह, लोभ एवं भय के कारण कोई पक्ष लेता है अथवा उनका संरक्षण करता है तो वह भी भगवद् मार्ग से च्युत हो जाता है। ऐसे दुर्जनों एवं कुसंगियों के संग से कई व्यक्ति अधोगामी बनकर पुनः आवागमन के चक्र में भ्रमण करने को बाध्य हो जाते हैं। दुःसंग से ही काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध एवं क्रोध से सम्मोह पैदा होता है। सम्मोह से स्मृति-विभ्रम, स्मृति-विभ्रम से बुद्धि का नाश एवं अन्ततोगत्वा बुद्धि के नाश से सर्वनाश हो जाता है। इनके संग से पाप एवं पुण्य का विवेक भी समाप्त हो जाता है तथा मनुष्य परम स्वार्थी एवं भोग-परायण हो जाता है।

इस आलेख में भगवदीय जन एवं दुष्ट जन के लक्षणों के साथ ही सत्संग एवं दुःसंग के परिणामों का विशद विवेचन किया गया है। आशा है भगवद् प्रेमी वैष्णव-वृन्द दुःसंग से बचते हुए सदैव भगवदीय जन के सत्संग से अपने हृदयस्थ भक्ति भाव की अभिवृद्धि करते रहेंगे।

भगवान श्रीकृष्ण का सतत स्मरण, उनकी भाव पूर्ण सेवा, दैन्य, शरणागति एवं समर्पण के भाव के साथ ही यदि भगवदीय जन का संसर्ग, सत्संग एवं सेवा प्राप्त हो तो भगवत्प्राप्ति में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

"श्रीकृष्ण ही परम रस हैं और सभी इस रस के प्यासे हैं"

इस संसार के समस्त प्राणी रस के प्यासे हैं, उसे खोजने में व्यस्त हैं और उसे प्राप्त करने के लिए पागल हैं। रस हीन जीवन का कोई प्रयोजन नहीं है, सभी प्राणी अपने नीरस जीवन से उबकर रस प्राप्ति की आकांक्षा मन में छिपाये हुए इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उसी रस की खोज कर रहे हैं। रस प्राप्ति की तृष्णा सभी में विद्यमान है। पूर्व में आस्वादित वस्तु को पुनः प्राप्त करने की इच्छा ही तृष्णा बनती है। इसे प्राप्त करने की यह तृष्णा ही इसका प्रमाण है कि प्रत्येक जीव ने पूर्व काल में कभी न कभी इस रस का आस्वादन अवश्य किया है, जिसकी स्मृति इस जीवन में भी उसे पुनः प्राप्त करने के लिए प्रेरित कर रही है। अवश्य ही प्रत्येक प्राणी पूर्व काल में रसास्वादन की इस अवस्था में रहा है, और नियति की प्रेरणा अथवा प्रभु-इच्छा से कालान्तर में उसकी च्युति हो गई है। रसास्वादन की इस अवस्था को पुनः प्राप्त किये बिना उसकी निवृत्ति नहीं है। प्रत्येक जीवात्मा रस-प्राप्ति होने पर्यन्त जन्म-जन्मान्तर तक विभिन्न लोकों एवं योनियों में भटकने को बाध्य है। उसका सम्पूर्ण अस्तित्व पुनः इसी रस को आत्मसात् करने के लिए लालायित है। रस-प्राप्ति न होने तक उसकी चेतना जड़ देह में रहने को बाध्य है।

चींटी दाना ढूँढ़ रही है क्योंकि उस दाने में उसे उसी रस की तलाश है। इसी रस प्राप्ति की तलाश में भ्रमर एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर मँडराता है। सभी जीव-जन्तु एवं पशु-पक्षी भी अपने-अपने रुचिकर पदार्थों में इसी रस की खोज करने में लगे रहते हैं। मनुष्य भी धन-सम्पत्ति से लेकर अधिकारं एवं उच्च-पद की प्राप्ति में, यश एवं प्रतिष्ठा की प्राप्ति में, अपने परिवार के अभ्युदय में इसीलिए अहर्निश संलग्न एवं प्रयत्नशील है क्योंकि वह इन साधनों में अभीप्सित रस की अवस्थिति मानता है। संसार का समस्त लौकिक व्यवहार भी इसी रस की प्राप्ति के लिए चल रहा है। वस्तुतः इस रस की प्यास ने सभी को व्याकुल एवं चंचल बना रखा है। यह रस ही जीवन है, जीवन का मूल है, आधार है, परम फल है, इसके बिना प्राणी का जीवन भी सम्भव नहीं है।

"को हि अन्यात् कः प्राण्यात् यद्येष आकाशः आनन्दो (रसो) न स्यात्"

अर्थात् आनन्द अथवा रस ही समस्त प्राणियों के जीवन का आधार है, यह रस ही जीवन का परम सार है, विशुद्ध सत्व है।

जब रस का इतना महत्त्व है और सभी प्राणी इसके बिना व्याकुल हैं, चंचल हैं तथा अहर्निश प्रत्येक पदार्थ में इसे खोजने में संलग्न हैं तो इसके प्राप्त न होने का कारण क्या है? इसका एक मात्र उत्तर यही है कि यह रस असीम अखण्ड एवं परिपूर्ण है किन्तु सभी इसकी खोज सीमित पदार्थों में ही कर रहे हैं। इसका एक कारण यह भी है कि सभी परम तथा अखण्ड रस के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। **"रसो वै सः"** श्रुति सूत्र के अनुसार परम ब्रह्म, परात्पर तत्त्व का नाम ही रस है, वही श्रीकृष्ण है, परम रस है तथा रस-स्वरूप है। श्रीकृष्ण ही असीम सौन्दर्य, अनन्त प्रेम एवं माधुर्य के पुंज हैं, वे ही नित्य, शाश्वत एवं सनातन हैं। श्रीकृष्ण ही सच्चिदानन्द घन है, सत्यं शिवं सुन्दरम् हैं। समस्त जड़ चेतन उन्हीं का विस्तार है, वे ही सर्व रूप होकर ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त हैं। अंश के रूप में समस्त जीवों का निस्सरण उन्हीं से हुआ है, वे ही अंश है तथा सभी में व्याप्त एवं समाहित होते हुए भी सभी से परे हैं। उनका स्वरूप दिव्यातिदिव्य, अप्राकृत एवं लोकोत्तर है। सभी को अपनी ओर आकर्षित कर लेने के कारण उनका कृष्ण नाम सार्थक है। वे ही जीव को अपनी ओर आकर्षित कर रसानुभव कराते हैं। रसानुभूति उन्हीं के कारण होती है किन्तु मनुष्य की खण्डित चेतना देश और काल की सीमा में सदैव आबद्ध रहती है इसीलिए उनके रस-स्वरूप का न तो स्पष्ट बोध हो पाता है और न मनुष्य उस परम रस का आस्वादन ही कर पाता है। यह रस-स्वरूप पूर्णतः भाव गम्य है अतः इसके आस्वादन के लिए प्रभु से प्रीति-सम्बन्ध एवं आत्मीय भाव की आवश्यकता रहती है।

मनुष्य अपने सीमित साधनों से जिस प्रकार का रस प्राप्त करता है वह विशुद्ध न होकर दूषित एवं मलीन होता है। विषय-जन्य रस में क्षणिक सुख का आभास होते रहने पर भी विकार के कारण स्थायी तृप्ति नहीं होती। विशुद्ध रस प्राप्ति के अभाव में मनुष्य खोई हुई मणि वाले सर्प के समान व्याकुल होकर इस संसार चक्र में भ्रमण करता हुआ उसी विशुद्ध रस की खोज कर रहा है। विषयानन्द से उपराम हुए बिना मनुष्य को न

तो इस दिव्य रस की प्राप्ति हो सकती है और न उसकी व्याकुलता, चंचलता एवं अशान्ति दूर हो सकती है। भाव की परिपक्व अवस्था का नाम ही रस है, भाव ही रस का मूल कारण है अतः विशुद्ध रस की खोज भाव-जगत में ही की जा सकती है। वस्तु-जगत में तो इस रस की प्रतीति मात्र हो पाती है। सौन्दर्य भी रस-प्राप्ति का समीचीन साधन है अतः रस-पिपासु का सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होना भी स्वाभाविक है। प्राकृतिक सौन्दर्य से अभिभूत होने के साथ ही मनुष्य की सौन्दर्य-वृत्ति नश्वर पदार्थों में भी सौन्दर्य को सजा कर उसे अमर बनाने का प्रयास करती है। साहित्य, संगीत व कलाओं के माध्यम से भी यह सौन्दर्य-वृत्ति अपनी रस-पिपासा को तृप्त करने का भगीरथ प्रयत्न करती है तथापि उसके द्वारा होने वाला रसास्वादन किसी न किसी रूप में परिच्छिन्न अवश्य रहता है, आवरण लिए रहता है। इसीलिए इनके माध्यम से क्षणिक तृप्ति प्राप्त करता हुआ भी मनुष्य परम रस, असीम सौन्दर्य एवं अनन्त प्रेम के आस्वादन से वंचित ही रह जाता है। हृदय जिसकी आकांक्षा करता है, वह रस, वह प्रेम आवरण-रहित है। मनुष्य का जिस विशुद्ध रस से पूर्व में विच्छेद और विरह हुआ है, वह उसी परम रस का पुनर्मिलन चाहता है।

सामान्य जीव, प्राणी अथवा मनुष्य भी सर्व काल में विषय रस का आस्वादन तो करता ही रहता है और उसे ही यथार्थ एवं सत्य मान कर उसी रस की पूर्ति के लिए संलग्न रहता है। विषय-रस सीमित, दूषित एवं मलीन है अतः इसके आस्वादन से चिर काल तक तृप्त नहीं हुआ जा सकता। विषय-रस के सेवन से अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाने, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाने अथवा शरीर के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर विषय रस से वैराग्य हुए बिना नहीं रहता। मनुष्य-योनि में विवेक का विकास होने पर, शास्त्रादि के पठन, श्रवण, मनन एवं चिन्तन तथा सत्संग आदि के माध्यम से चित्त सांसारिक विषयों से विरत होकर अन्तर्मुखी बनता है, आत्मोन्मुख होता है। ज्ञान, वैराग्य एवं संयम आदि के अभ्यास से वह आत्मा से सम्बन्ध स्थापित कर उस रस को प्राप्त करता है जिसे योग की भाषा में आत्मानन्द कहा जाता है। यद्यपि आत्मा का यह आनन्द विषयानन्द की तुलना में उत्कृष्ट है और इसे प्राप्त कर लेने पर अज्ञान की निवृत्ति होती है, समत्व भाव उदित होता है एवं शान्ति का अनुभव होता है तथापि इससे भी पूर्ण तृप्ति सम्भव नहीं होती। यह अवश्य है कि

आत्म-रमण करते हुए जीवात्मा को कुछ समय के लिए विश्राम मिल जाता है किन्तु अज्ञान और अविद्या का पुनरागमन आत्म-शान्ति को भंग कर मनुष्य को इस रस के आस्वादन से भी वंचित करता रहता है।

कुछ अधिकारी साधक ज्ञान एवं ध्यान-योग के अभ्यास से परम तत्त्व का अनुसन्धान करते हुए ब्रह्मानन्द प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। योगी-जन भी अभ्यास-योग से अपना योग-बल बढ़ाकर अनेक सिद्धियाँ प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। निश्चय ही आत्मानन्द की तुलना में ब्रह्मानन्द कई गुना श्रेष्ठ है तथापि चिर काल तक समाधि अवस्था में स्थिर बने रहकर इसको अविरल प्राप्त करते रहना नितान्त असम्भव है क्योंकि इसमें व्यक्तिगत चेतना या तो समाधि अवस्था से पुनः नीचे लौट आती है अथवा समष्टिगत चेतना (परमात्मा के प्रकाश-पुंज) में विलीन हो जाती है। यह इस प्रकार की मुक्ति है जिसमें आनन्द का अनुभव करने वाला भी शेष नहीं रहता। ब्रह्मानन्द का रस शान्त रस है जो निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म के ध्यान से तुरीय अवस्था में प्राप्त होता है। योगी-जन का उपास्य सगुण-निराकार-सविशेष परमात्मा है, जिसकी उपासना से कामनाओं की पूर्ति एवं सिद्धियों की प्राप्ति होती है। कामनाओं की पूर्ति होने एवं सिद्धियाँ प्राप्त हो जाने पर भी यह आत्मा पूर्णतः तृप्त नहीं होती क्योंकि इस आत्म तत्त्व का पोषण करने वाला तो वही श्रीकृष्ण-प्रेम का विशुद्ध भक्ति-रस है। सिद्धियाँ भी योग के साधन प्रदान कर विनष्ट हो जाती हैं।

भक्ति योग का उपास्य सगुण-साकार-सविशेष भगवान है। भक्तियोग पूर्णतः भाव योग है। जिसमें आत्मा का भगवान से यथार्थ सम्बन्ध स्थापित होता है। भक्ति योग के प्रभाव से जो भक्ति रस मिलता है वह ब्रह्मानन्द की तुलना में अत्यधिक रमणीय एवं उत्कृष्ट होता है। इसे वैष्णव रस कहा जाता है जो प्रभु की भावमयी सेवा करने से प्राप्त होता है। आत्मा को भी भगवान के लिए निक्षेप कर देने अथवा नियोजित कर देने पर इस रस की प्राप्ति होती है। भाव के उत्तरोत्तर विकास के साथ ही रस की सिद्धि होती है। प्रभु के साथ भाव सम्बन्ध बनने पर ही निजत्व एवं आत्मीयता का प्रारम्भ होता है।

रसावस्था से विच्छेद हो जाने पर भी मनुष्य का रस-स्वरूप भगवान से सम्बन्ध टूटा नहीं है, वह सीमित साधनों के माध्यम से भी उसी विशुद्ध

रस की खोज कर रहा है। यह अवश्य है कि वह उस परम रस को देश और काल की सीमा में आबद्ध कर उसका आस्वादन करना चाहता है किन्तु उस विशुद्ध परम रस का देश और काल की सीमा में प्रकाशित होना सम्भव नहीं है इसीलिए उस परम रस की अनुभूति अस्पष्ट हो गई है। वृत्ति से जिस, सौन्दर्य, प्रेम और आनन्द का बोध होता है वह अखण्ड न रहकर खण्ड-खण्ड हो गया है। खण्ड-बोध सापेक्ष, परतंत्र, क्रमिक एवं काल के अन्तर्गत है अतः यह अस्पष्ट रूप से अनुभव में आने वाला रस उस परम रस से अभिन्न होकर भी उसकी छाया मात्र है। खण्ड सौन्दर्य बाहर है, परम सौन्दर्य अन्दर है इसीलिए उसकी खण्डशः एवं अस्पष्ट अनुभूति होती है। मनुष्य इस अस्पष्ट अनुभूति को स्पष्ट अनुभव करना चाहता है, छाया को काया देना चाहता है किन्तु वृत्ति इस परम रस को ग्रहण करने में असमर्थ होकर उसके अनन्त प्रकाश में कुण्ठित हो जाती है। ज्ञान और योग द्वारा इसी अनुभूति को यदि स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है तो वृत्ति प्रकाश में लीन हो जाती है और इस परम रस का अनुभव करने वाला ही शेष नहीं रह जाता।

रस में सत्ता और ज्ञान का अन्तर्निवेश है, इसीलिए रस एक होकर भी अनन्त एवं सामान्य होकर भी विशेष है। ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान सामान्यतः एक होने पर भी पृथक्-पृथक् अवस्थाओं के कारण विशिष्ट हैं और प्रत्येक की अनुभूति में भी यत्किंचित् अन्तर का अनुभव अवश्य होता है।

'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्यते'

(श्रीमद् भागवत 1/12/11)

एक ही परम सत्ता के तीनों स्वरूप होते हुए भी ब्रह्म को निर्गुण-निराकार-निर्विशेष, परमात्मा को सगुण-निराकार-सविशेष एवं भगवान को सगुण-साकार-सविशेष कहा जाता है। ज्ञानी साधकों को निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म के रूप में ही उस परम सत्ता का अनुभव होता है, योगी जन को उसी परम सत्ता का सगुण-निराकार-सविशेष परमात्मा के रूप में तथा भक्तजन को उसी परम सत्ता का सगुण साकार-सविशेष भगवान के रूप में अनुभव होता है। इन तीनों प्रकार की अनुभूतियों से संयुक्त एवं इनसे भी परे जो एक मात्र परम तत्त्व है, जो समस्त तत्त्वों का द्रवीभूत रूप है वही परम रस है, श्रीकृष्ण है, जिसका

रसमय स्वरूप दिव्य, लोकोत्तर एवं स्नेह मय है, जो अनन्त ज्ञान, असीम सौन्दर्य एवं प्रेम से परिपूर्ण है, सच्चिदानन्दघन है, उसी परम रस की प्राप्ति के लिए समस्त सहृदय रसिक भक्त-जन लालायित हैं। अपनी लीला-माधुरी, प्रेम-माधुरी, रूप-माधुरी एवं वेणु-माधुरी के कारण जो भगवत्-स्वरूपों में भी परम विशिष्ट है, जिस श्रीकृष्ण में सन्धिनी, संवित् एवं आह्लादिनी शक्ति का समस्त सारतत्त्व सन्निहित है, जो अपनी लीला के लिए ही कौतुक मात्र से ही ब्रह्माण्ड की सृष्टि कर देता है, उसी श्रीकृष्ण-प्रेम के परम रस को प्राप्त करने के लिए ही समस्त चराचर व्याकुल है।

उक्त विशद विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि भक्ति मार्ग द्वारा ही इस परम रस को प्राप्त किया जा सकता है। भक्ति भी वैधी और रागानुगा भेद से दो प्रकार की होती है। वैधी भक्ति में शास्त्रों एवं आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट विधि-निषेधों का पूर्णतः अनुपालन करना आवश्यक है। कभी-कभी वैधी भक्ति में विधि-निषेधों की आचार-संहिता मुख्य हो जाती है और भक्ति भाव शिथिल हो जाता है। मर्यादा के अवगुण्ठन में रहने वाला भक्ति भाव भी गम्भीर एवं अप्रतिम होता है तथापि उसमें रसोन्मेष का अवकाश बहुत की कम रहता है और प्रेम की तीव्रता भी उतनी नहीं होती जितनी रागानुगा भक्ति में होती है। रागानुगा भक्ति का मार्ग समस्त विधि-निषेधों से परे है अतः उसमें नित्य-नूतन भाव एवं प्रेम का अविरल प्रवाह विद्यमान रहता है। भक्ति भाव में अनन्त प्रकार के भाव होते हैं और हो सकते हैं तथापि आचार्यों ने जिन मुख्य-मुख्य भावों के नाम निर्दिष्ट किये हैं, प्रायः सभी भाव उन मुख्य भावों में अन्तर्हित रहते हैं। प्रभु के साथ भाव-सम्बन्ध बनते ही रस प्राप्ति का उत्तरोत्तर विकास होता है। प्रभु श्रीकृष्ण के प्रति दास भाव का सम्बन्ध बनाने पर दास्य भक्ति परिपक्व होती है जिससे प्रभु के साथ निजत्व स्थापित होने के साथ ही समर्पण की सिद्धि होती है।

दास्य भक्ति से ही सेवा रस प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण की सेवा का यह रस अत्यन्त विलक्षण एवं दुर्लभ है। सेवा रस प्राप्त करने वाला भक्त भी पूर्णतः निष्काम हो जाता है और सेवा के फल रूप में भी सेवा का ही अवसर और आनन्द चाहता है। प्रभु की इच्छा से ही भक्त के मन में सख्य भाव उदित होता है। सख्य भाव ही लीला का प्रवेश द्वार है। प्रभु

की जिस भक्त के साथ खेलने की अथवा हास्य-विनोद करने की इच्छा होती है, उसमें सख्य भाव का स्फुरण अनायास होने लगता है। सख्य भाव से प्रभु के प्रति आत्मीयता की वृद्धि होती है तथा दास्य-भाव में जो मर्यादा और संकोच रहता है, वह भी दूर हो जाता है और भक्त प्रभु को निस्संकोच होकर उलाहना भी दे देता है, कभी-कभी खरी-खोटी भी सुना देता है। दास्य भाव में 'मैं प्रभु का हूँ' यह भाव सतत बना रहता है किन्तु सख्य भाव से ''प्रभु मेरे हैं'' ऐसा सुदृढ़ भाव उदित होकर गौरव का अनुभव होता है। इस भाव से आत्मीयता में प्रगाढ़ता आती है। जब भक्त का अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध हो जाता है, जब वह परम निष्काम हो जाता है और प्रभु के प्रति उसके हृदय में विशुद्ध स्नेह उमड़ने लगता है तो वात्सल्य भाव का उदय होता है। यही भाव परिपक्व होकर वात्सल्स रस बनता है, इसी को उज्ज्वल रस भी कहा जाता है। भक्त के वात्सल्य को ग्रहण करने के लिए प्रभु अपने बाल-स्वरूप से उसके चित्त का आलम्बन बन जाते हैं। वात्सल्य भाव से भक्त बाल-रूप प्रभु की सेवा और उनकी निर्दोष लीला से जुड़ जाता है।

प्रभु से जब अपना प्रगाढ़, घनिष्ठ एवं अन्तरंग सम्बन्ध बनाने की भक्त की इच्छा प्रबल हो जाती है तो भक्त अपना सर्वस्व समर्पण करने हेतु सन्नद्ध हो जाता है। प्रभु के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी अपना किंचित् मात्र भी स्वत्व अनुभव नहीं करता तो प्रभु की इच्छा से उसमें माधुर्य भाव का स्फुरण होता है। यही माधुर्य भाव कान्ता भाव, सखि भाव एवं गोपी भाव के रूप में व्यक्त होता है। माधुर्य भाव में प्रेम की तीव्रता रहती है और उसके प्रभाव से समस्त संसार की प्रतीति तक का क्षय हो जाता है। माधुर्य रस ही अन्य समस्त भावों का संयुक्त रस है, महाभाव का आधार बनकर यही दिव्य रास-लीला के रूप में परिणित होता है। भगवान श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति चिरकिशोरी जी श्रीराधिका ही महाभाव-रूपा है। यही महाभाव ही राधिका जी में मोदक और मादक भाव बनकर प्रकट होता है। यह मधुर रस ही परम रस है जो अनन्त भक्त जन में भक्ति रस का संचार करता है। दास्य भक्ति में सेवा मुख्य रहती है, लीला का प्राकट्य नहीं होता। इसमें प्रभु श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यमय स्वरूप का आलम्बन रहता है किन्तु सख्य वात्सल्य एवं माधुर्य भाव की भक्ति में लीला रस का आस्वादन सतत होता रहता है।

प्रभु के ऐश्वर्य भाव में सामर्थ्य की एवं माधुर्य भाव में प्रियत्व की अवस्थिति रहती है। ऐश्वर्य के समक्ष प्रभु के प्रियत्व का तिरोभाव हो जाता है अतः ऐश्वर्य स्वरूप की उपस्थिति में लीला रस अक्षुण्ण नहीं बना रहता।

भगवान श्रीकृष्ण का माधुर्य भाव-संयुक्त स्वरूप ही रसमय ब्रह्म है, उनका यह रस-स्वरूप ही समस्त रस-पिपासु भक्त जन का आलम्बन है। यही ब्रज रस है, पूर्ण, असीम एवं अनन्त है। इसका प्रवाह अविरल एवं शाश्वत है। इसी परम रस की प्राप्ति के लिए ऋषि-मुनि, योगी, सिद्ध एवं तपस्वी जन ही नहीं समस्त देवमण्डल सहित ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदि भी लालायित बने रहते हैं। भगवती लक्ष्मी भी इस रस की चिर-पिपासु रहती हैं किन्तु उनके लिए भी यह परम विशुद्ध रस अत्यन्त दुर्लभ हैं। यह परम रस माधुर्य एवं वात्सल्य भाव सम्पन्न गोपी जन को सहज प्राप्त है। इस परम रस का आस्वादन कर लेने पर माया की निवृत्ति हो जाने के साथ ही आवागमन का चक्र भी समाप्त हो जाता है। इस परम रस का आस्वादन भगवान श्रीकृष्ण के नित्य धाम गोलोक में ही किया जा सकता है। यह परम रस श्रीकृष्ण-परायण सद्गुरु, स्वामिनीजी श्रीराधिकाजी अथवा किसी भगवदीय की कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता है। पुष्टि मार्ग का अन्तिम लक्ष्य इसी परम रस की प्राप्ति है। भगवान के अधरामृत का अहर्निश पान करना ही भक्त जीवन की सार्थकता है।

आशा है इस विशद विवेचन से पाठक-वृन्द को इस विशुद्ध परम रस के स्वरूप का अभिज्ञान होगा और रस-पिपासु भक्त जन अहर्निश इस परम रस को प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील रहेंगे।

शुद्धाद्वैत के आलोक में जगत और संसार एकार्थक नहीं है जगत नित्य है, संसार अनित्य है

वेदान्त दर्शन के अनुसार जगत् को मिथ्या कहा जाता है। आद्य शंकराचार्य ने ब्रह्म सत्यं-जगन्मिथ्या कहकर जगत् को मिथ्या बताते हुए उसकी पारमार्थिक सत्ता को नकार कर मात्र व्यावहारिक सत्ता ही स्वीकार की है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने जगत् को सत्य एवं नित्य माना है। जन साधारण की दृष्टि में जगत् और संसार दोनों का एक ही अर्थ लिया जाता

है किन्तु शुद्धाद्वैत के अनुसार जगत् एवं संसार भिन्न-भिन्न हैं। महाप्रभु ने जगत् और संसार दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए दोनों की पृथकता सिद्ध की है। शुद्धाद्वैत की मान्यता के अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अपने आनन्द अंश का तिरोभाव कर जीव एवं चित् तथा आनन्द अंश का तिरोभाव कर जगत् रूप में परिणत हो जाता है। सत् अंश जड़-प्रकृति एवं चित् अंश चैतन्य-जीव दोनों का समुच्चय ही जगत् कहलाता है। ब्रह्म का सत् अंश जब जड़ता के रूप में रहता है तो चित् एवं आनन्द उसमें अनुस्यूत रहते हैं। इसी तरह ब्रह्म का सत् एवं चित् अंश जब प्राणी जगत् के रूप में प्रकट रहता है तो आनन्द उसमें अनुस्यूत रहता है। सुवर्ण को कुण्डल का आकार दे देने से सुवर्ण में विकृति नहीं आती, उसी तरह ब्रह्म भी जीव और जगत् के रूप में परिणत होने पर भी अविकृत ही रहता है। ब्रह्म नित्य है इसीलिए एक यह जगत् भी सत्य है, इसमें आविर्भाव, तिरोभाव अवश्य होता रहता है किन्तु यह अनित्य नहीं है।

दर्शनशास्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति एवं स्वरूप को लेकर अनेक वाद, सिद्धान्त एवं व्याख्याएँ प्रकाश में आई हैं जिनमें सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद, प्रकृति-कारणवाद, नैयायिकों का असत्कार्यवाद, वैशेषिकों का परमाणुवाद या आरम्भवाद, बौद्धों का शून्यवाद एवं जैनियों का स्याद्वाद प्रमुख है। शंकराचार्य ने विवर्तवाद का सिद्धान्त स्थापित कर ब्रह्म में जगत् का भासमान होना बताया है। महाप्रभु श्री वल्लभ ने अणुभाष्य, सुबोधिनी-टीका एवं तत्त्वदीप-निबन्ध में इन सभी मतों पर विचार करते हुए यह स्पष्ट किया है कि यह जगत् न तो प्रकृति का, न परमाणुओं का और न किसी अदृष्ट का कार्य है तथा न असत् से जगत की उत्पत्ति हुई है। परमात्मा ने स्वेच्छा से स्वयं को ही अपनी माया शक्ति के सहयोग से जीव और जगत् के रूप में परिणत किया है। परमात्मा सर्व रूप है तथा वे सब कुछ करने एवं होने में समर्थ हैं। परब्रह्म नित्य एवं सत्य है इसीलिए जगत उसी का आधिभौतिक स्परूप होने से नित्य एवं सत्य है। जगत् प्रत्येक स्थिति में भगवान में ही स्थित रहता है। प्रकट होने से पूर्व यह अव्यक्त था, वर्तमान में यह व्यक्त है और प्रलय के पश्चात् पुनः भगवान में ही विलीन हो जाता है। इसका वास्तविक स्वरूप अप्रभावित ही रहता है। ब्रह्म का सत् रूप जगत्, चित्त रूप जीव एवं आनन्द रूप अक्षर ब्रह्म है। ये तीनों रूप सीमित हैं। असीमित होने पर यही ब्रह्म पुरुषोत्तम कहा

जाता है जो क्षर तथा अक्षर से परे है। सत् (जगत्) परब्रह्म का आधिभौतिक, चित्त (जीव) परब्रह्म का आध्यात्मिक एवं आनन्द परब्रह्म का आधिदैविक स्वरूप है। महाप्रभु अविकृत परिणाम वाद को मानते हैं। जगत् ब्रह्म का अविकृत परिणाम है। विकृत परिणाम में मूल रूप बदलने के बाद पुनः मूल रूप को प्राप्त नहीं किया जा सकता जैसे दूध का दही बन जाने के बाद दही को पुनः दूध नहीं बनाया जा सकता।

सत् रूप से जो अनेक कार्य उत्पन्न होते हैं, वे सभी कार्य भी सत् रूप ही हैं। व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाओं में कार्य कारण में अद्वैत बना रहता है। ब्रह्म कारण है, जगत् उसका कार्य है इसलिए जगत् एवं ब्रह्म दोनों में अद्वैत है। जागतिक वस्तुओं के बारे में उनकी उत्पत्ति से पूर्व एवं नष्ट होने के बाद जो सत्ता-सम्बन्ध हटता सा दीखता है वह भ्रान्ति मात्र है क्योंकि जगत् में उत्पत्ति या नाश होता ही नहीं है। जो था, वही है और वही रहेगा भी किन्तु भ्रान्ति का कारण व्यक्त, अव्यक्त अथवा आविर्भाव एवं तिरोभाव है। जगत् के सभी पदार्थ अपने आप में द्रव्य या तत्त्व नहीं है इसीलिए वे उत्पन्न या नष्ट न होकर अपने नाम एवं रूप का तिरोभाव करते हुए विभिन्न नाम रूपों में व्यक्त होते ही रहते हैं। पदार्थों के नाम रूप ही अव्यक्त होते हैं मूल तत्त्व नहीं। नाम एवं रूपों के परिवर्तन से मूल तत्त्व ब्रह्म में कोई परिवर्तन अथवा विकार नहीं होता। नाम एवं रूपों के द्वैत के रहते हुए भी जगत् मूल रूप में ब्रह्म ही रहता है। मूल परिवर्तन न होने से जगत् सभी अवस्थाओं में ब्रह्म ही है। **"यद भूतं यच्च भाव्यम्"** तथा **"सर्वम् खल्विदं ब्रह्म"** आदि श्रुतियों का भी यही आशय है कि जगत् ब्रह्म ही है तथा नित्य एवं सत्य है। शुद्धाद्वैत मार्तण्ड में कार्य एवं कारण का तादात्म्य-सम्बन्ध बताते हुए जगत एवं ब्रह्म को अभेद बताया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् भी बताता है कि **"सः आत्मानं स्वयम् अकुरुत"** अर्थात् परब्रह्म ने स्वयं को ही जगत् के रूप में ढाल लिया। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार वह परब्रह्म ही सभी प्रकार के नाम रूपों को धारण करने वाला है तथा **"सर्वम् खल्विदं ब्रह्म"** कहकर बताता है कि यह जो कुछ है, सब ब्रह्म ही है। यह ब्रह्म एक तथा अद्वितीय है किन्तु अपनी विलक्षण सामर्थ्य एवं इच्छा के बल पर वह सब कुछ कर सकता है, एक से अनेक भी हो सकता है, उसका एकत्व उसके लिए बन्धनकारी नहीं है, वह अनेक होने के लिए स्वतंत्र है, वह विरुद्ध

है किन्तु शुद्धाद्वैत के अनुसार जगत् एवं संसार भिन्न-भिन्न हैं। महाप्रभु ने जगत् और संसार दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए दोनों की पृथकता सिद्ध की है। शुद्धाद्वैत की मान्यता के अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अपने आनन्द अंश का तिरोभाव कर जीव एवं चित् तथा आनन्द अंश का तिरोभाव कर जगत् रूप में परिणत हो जाता है। सत् अंश जड़-प्रकृति एवं चित् अंश चैतन्य-जीव दोनों का समुच्चय ही जगत् कहलाता है। ब्रह्म का सत् अंश जब जड़ता के रूप में रहता है तो चित् एवं आनन्द उसमें अनुस्यूत रहते हैं। इसी तरह ब्रह्म का सत् एवं चित् अंश जब प्राणी जगत् के रूप में प्रकट रहता है तो आनन्द उसमें अनुस्यूत रहता है। सुवर्ण को कुण्डल का आकार दे देने से सुवर्ण में विकृति नहीं आती, उसी तरह ब्रह्म भी जीव और जगत् के रूप में परिणत होने पर भी अविकृत ही रहता है। ब्रह्म नित्य है इसीलिए एक यह जगत् भी सत्य है, इसमें आविर्भाव, तिरोभाव अवश्य होता रहता है किन्तु यह अनित्य नहीं है।

दर्शनशास्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति एवं स्वरूप को लेकर अनेक वाद, सिद्धान्त एवं व्याख्याएँ प्रकाश में आई हैं जिनमें सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद, प्रकृति-कारणवाद, नैयायिकों का असत्कार्यवाद, वैशेषिकों का परमाणुवाद या आरम्भवाद, बौद्धों का शून्यवाद एवं जैनियों का स्याद्वाद प्रमुख है। शंकराचार्य ने विवर्तवाद का सिद्धान्त स्थापित कर ब्रह्म में जगत् का भासमान होना बताया है। महाप्रभु श्री वल्लभ ने अणुभाष्य, सुबोधिनी-टीका एवं तत्त्वदीप-निबन्ध में इन सभी मतों पर विचार करते हुए यह स्पष्ट किया है कि यह जगत् न तो प्रकृति का, न परमाणुओं का और न किसी अदृष्ट का कार्य है तथा न असत् से जगत की उत्पत्ति हुई है। परमात्मा ने स्वेच्छा से स्वयं को ही अपनी माया शक्ति के सहयोग से जीव और जगत् के रूप में परिणत किया है। परमात्मा सर्व रूप है तथा वे सब कुछ करने एवं होने में समर्थ हैं। परब्रह्म नित्य एवं सत्य है इसीलिए जगत उसी का आधिभौतिक स्परूप होने से नित्य एवं सत्य है। जगत् प्रत्येक स्थिति में भगवान में ही स्थित रहता है। प्रकट होने से पूर्व यह अव्यक्त था, वर्तमान में यह व्यक्त है और प्रलय के पश्चात् पुनः भगवान में ही विलीन हो जाता है। इसका वास्तविक स्वरूप अप्रभावित ही रहता है। ब्रह्म का सत् रूप जगत्, चित्त रूप जीव एवं आनन्द रूप अक्षर ब्रह्म है। ये तीनों रूप सीमित हैं। असीमित होने पर यही ब्रह्म पुरुषोत्तम कहा

जाता है जो क्षर तथा अक्षर से परे है। सत् (जगत्) परब्रह्म का आधिभौतिक, चित्त (जीव) परब्रह्म का आध्यात्मिक एवं आनन्द परब्रह्म का आधिदैविक स्वरूप है। महाप्रभु अविकृत परिणाम वाद को मानते हैं। जगत् ब्रह्म का अविकृत परिणाम है। विकृत परिणाम में मूल रूप बदलने के बाद पुनः मूल रूप को प्राप्त नहीं किया जा सकता जैसे दूध का दही बन जाने के बाद दही को पुनः दूध नहीं बनाया जा सकता।

सत् रूप से जो अनेक कार्य उत्पन्न होते हैं, वे सभी कार्य भी सत् रूप ही हैं। व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाओं में कार्य कारण में अद्वैत बना रहता है। ब्रह्म कारण है, जगत् उसका कार्य है इसलिए जगत् एवं ब्रह्म दोनों में अद्वैत है। जागतिक वस्तुओं के बारे में उनकी उत्पत्ति से पूर्व एवं नष्ट होने के बाद जो सत्ता-सम्बन्ध हटता सा दीखता है वह भ्रान्ति मात्र है क्योंकि जगत् में उत्पत्ति या नाश होता ही नहीं है। जो था, वही है और वही रहेगा भी किन्तु भ्रान्ति का कारण व्यक्त, अव्यक्त अथवा आविर्भाव एवं तिरोभाव है। जगत् के सभी पदार्थ अपने आप में द्रव्य या तत्त्व नहीं है इसीलिए वे उत्पन्न या नष्ट न होकर अपने नाम एवं रूप का तिरोभाव करते हुए विभिन्न नाम रूपों में व्यक्त होते ही रहते हैं। पदार्थों के नाम रूप ही अव्यक्त होते हैं मूल तत्त्व नहीं। नाम एवं रूपों के परिवर्तन से मूल तत्त्व ब्रह्म में कोई परिवर्तन अथवा विकार नहीं होता। नाम एवं रूपों के द्वैत के रहते हुए भी जगत् मूल रूप में ब्रह्म ही रहता है। मूल परिवर्तन न होने से जगत् सभी अवस्थाओं में ब्रह्म ही है। **"यद भूतं यच्च भाव्यम्"** तथा **"सर्वम् खल्विदं ब्रह्म"** आदि श्रुतियों का भी यही आशय है कि जगत् ब्रह्म ही है तथा नित्य एवं सत्य है। शुद्धाद्वैत मार्तण्ड में कार्य एवं कारण का तादात्म्य-सम्बन्ध बताते हुए जगत एवं ब्रह्म को अभेद बताया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् भी बताता है कि **"सः आत्मानं स्वयम् अकुरुत"** अर्थात् परब्रह्म ने स्वयं को ही जगत् के रूप में ढाल लिया। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार वह परब्रह्म ही सभी प्रकार के नाम रूपों को धारण करने वाला है तथा **"सर्वम् खल्विदं ब्रह्म"** कहकर बताता है कि यह जो कुछ है, सब ब्रह्म ही है। यह ब्रह्म एक तथा अद्वितीय है किन्तु अपनी विलक्षण सामर्थ्य एवं इच्छा के बल पर वह सब कुछ कर सकता है, एक से अनेक भी हो सकता है, उसका एकत्व उसके लिए बन्धनकारी नहीं है, वह अनेक होने के लिए स्वतंत्र है, वह विरुद्ध

धर्माश्रय है। परब्रह्म सर्वरूप है अतः जगत् के सभी प्रदार्थ और प्राणी उसी परब्रह्म के विविध रूप हैं। ब्रह्म स्वयं ही जीव और प्रकृति अर्थात् जगत् बनकर स्वयं में ही रमण करता है। नाम एवं रूप के तिरोभाव एवं धाविर्भाव से उसकी क्रीड़ा में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता। **"रूप नाम विभेदेन यतः क्रीडतियो जगत्"** अर्थात् विभिन्न रूप एवं नाम धारण कर वही जगत् में अपने आप से क्रीड़ा करता है। जगत् में उसकी क्रीड़ा अविरल चलती ही रहती है किन्तु इसका प्रत्यक्ष अनुभव वही कर पाता है जिसका अन्तःकरण शुद्ध है तथा जिसकी मनोवृतियाँ संसार में संलग्न नहीं हैं।

जगत् का अर्थ संसार नहीं है। महाप्रभु की दृष्टि से जगत् एवं संसार दोनों भिन्न है। जगत् ब्रह्म के सत् अंश से प्रादुर्भूत है किन्तु संसार मनुष्य के मन की कल्पना की उपज है अतः पूर्णतः मनोकल्पित है। जीव द्वारा कल्पित अहंता रूप पदार्थ की संज्ञा ही संसार है। संसार प्रभु के सत् अंश से प्रादुर्भूत न होकर अविद्या-जन्य है इसीलिए यह सत्य न होकर असत्य एवं नित्य न होकर अनित्य है। अविद्या के कारण ही अहंता एवं ममता उत्पन्न होती है जो अविद्या के रहने पर्यन्त नष्ट नहीं होती। अविद्या की सत्ता रहने तक ही संसार रहता है, इसीलिए उसे अनित्य कहा जाता है। अविद्या पंचपर्वा है अर्थात् स्वरूपाज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास एवं अन्तःकरणाध्यास आदि इसके पाँच पर्व हैं। अविद्या के कारण ही अपने स्वरूप का अज्ञान पैदा होता है, और देह, इन्द्रियों, प्राण एवं अन्तःकरण से जीव का तादात्म्य-सम्बन्ध बनकर "मैं" और "मेरा" जैसे अज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। अस्मिता, ममता, राग-द्वेष एवं अभिनिवेश आदि सभी पर्व अविद्या के ही आश्रित है। अविद्या के मिटने पर ही जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान हो पाता है। अविद्या का प्रभाव अन्तःकरण पर ही रहता है। जगत् में जो कुछ भी है, सब कुछ ब्रह्म रूप है और यह सब कुछ सब के लिए है किन्तु मनुष्य के अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त पर जब अविद्या का प्रभाव पड़ता है, तो वह अन्य सब को अपना रूप न मानकर स्वयं को पृथक् मानता है तथा सभी वस्तुओं को सभी के लिए न मानकर अपने लिए मानने लगता है और अपने मन से वह किसी भी प्राणी अथवा वस्तु से अपना निजी सम्बन्ध बनाकर उसे अधिकृत करने की चेष्टा करता है। उसकी अविद्या ग्रस्त बुद्धि भी प्रत्येक

वस्तु पर अधिकार कर उसे अपना निज का बनाने के लिए प्रयत्नशील रहती है। वह जिस वस्तु को अधिकृत कर लेता है उसके प्रति उसका ममत्व बढ़ता जाता है और ममत्व के विस्तार के साथ ही उसका अहंकार भी पुष्ट होता जाता है। उसे जो वस्तु प्रिय लगती है उसके प्रति उसमें अविद्या के प्रभाव से राग पैदा हो जाता है और जो वस्तु उसके अधिकार में नहीं आती, उसके प्रति या उसकी रुचि वाली प्रिय वस्तु के मिलने में व्यवधान उत्पन्न करने वाले व्यक्ति के प्रति उसका द्वेष बन जाता है। अविद्या के इसी जाल का नाम संसार है और इस संसार का अन्तिम परिणाम शोक, मोह, क्लेश एवं सन्ताप मात्र है।

अहंता और ममता के कारण मन एवं भाव दूषित एवं अशुद्ध हो जाते हैं–

"अहंता ममतायां भगवद् विरोधेन बन्धः स्यात्" अर्थात् अहंता और ममता के कारण ही भगवद् विरोधी विचार उत्पन्न होते हैं, श्रद्धा के स्थान पर अश्रद्धा हो जाती है और जीव बन्धन-ग्रस्त हो जाता है। संसार अहंता एवं ममता का कार्य क्षेत्र है। इनके रहते हुए अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता और न संसार में विशुद्ध प्रेम का प्रसार ही होता है। अविद्या के कारण जीव में कर्तृत्वाभिमान, आसक्ति एवं कर्म फल की आकांक्षा बनी रहती है। अपनी विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य अनेक योनियों में जन्म लेता रहता है और भव-चक्र में कर्म-बन्धन से ग्रस्त होकर विचरण करता रहता है। आसक्त चित्त वाले मनुष्य के समस्त कर्म बन्धनकारी हो जाते हैं। संसार अविद्या का कार्य है। अविद्या से ही अन्तःकरण अशुद्ध होता है और यही जीव के लिए आवरण का कार्य करती है। अविद्या के कारण मनुष्य अपने संसार की रचना स्वयं करता है। अहंता और ममता को पुष्ट करते हुए स्वयं ही अपने संसार का विस्तार करता है। अविद्याकृत भ्रान्ति के कारण मनुष्य परमात्मा द्वारा रचे गये विशुद्ध जगत् में परमात्मा द्वारा रचित प्रत्येक वस्तु को अपने निजत्व की परिधि में लेकर उस पर अपना स्वत्व स्थापित करने का निरर्थक प्रयास करता है। अज्ञान, भ्रम, भ्रान्ति आदि शब्द संसार के ही वाचक हैं, अतः संसार को अनित्य एवं असत् मानना युक्तियुक्त है। जब सब कुछ भगवान ही है और सब कुछ उसी का है तब उस जगत् को मैं और मेरे के रंग में देखना भ्रान्ति मात्र है। **"मैं और मेरे का भाव"** ही मोह-निद्रा है। इस

निद्रा के वशीभूत होकर ही मनुष्य संसार-स्वप्न देखता रहता है और उसे वास्तविक मानता है। अज्ञानी मनुष्य अविद्या निवृत्त न होने तक इस संसार को नित्य एवं यथार्थ मानने के लिए बाध्य है। तत्त्व-ज्ञान होने पर अथवा प्रभु से प्रेममय सम्बन्ध होने पर इस नाम रूपात्मक एवं भ्रमात्मक संसार की प्रतीति भी नष्ट हो जाती है। संसार का अनुभव नष्ट हो जाने पर भी प्रभु का लीला क्षेत्र जगत् तो सदैव बना ही रहता है क्योंकि यह ब्रह्म रूप है एवं नित्य है।

मनुष्य मकड़ी की तरह अपने मन से कल्पित संसार-जाल को फैलाता है किन्तु अन्ततोगत्वा अपने ही जाल में फँसकर अनेक प्रकार के कष्ट स्वयं ही उठाता है। अपने मनोकल्पित संसार में भटकते हुए वह अपने ही समान अन्य अनेक जीवों के सम्पर्क में आता है, कर्तृत्वाभिमान रखते हुए अपने आशानुरूप फल की प्राप्ति के लिए कठोर परिश्रम भी करता है। वह अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाने से दीन, हीन एवं परवश हो जाता है। जीवों के पारस्परिक सम्बन्धों के आदान-प्रदान में विषमता होने पर ऋणानुबन्ध भी बन जाता है, जिसे जन्म-जन्मान्तर तक भोगना पड़ता है। ऋणानुबन्ध के अनुसार ही उसे माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री तथा अन्य सम्बन्धी प्राप्त होते हैं। कभी जीव स्वयं के ऋण से मुक्त होकर दूसरों पर नया ऋण भी चढ़ा देता है और ऋणानुबन्ध का यह क्रम अविरल चलता रहता है, इसे ही प्रारब्ध अथवा नियति कहा जाता है। इसी का नाम संसार है। इस संसार में रहते हुए जीवों का चित्त विषयाक्रान्त बना रहता है इसीलिए संसारी मनुष्यों में भगवद् आवेश नहीं आता। **"विषयाक्रान्त देहानां नावेशः सर्वथा हरेः"** (श्रीमद् वल्लभ) विषयाक्रान्त होने से मनुष्य को न तो अपने अन्दर स्थित अन्तर्यामी प्रभु की एवं न बाहर जगत् में क्रीड़ा करने वाले प्रभु की उपस्थिति का ज्ञान होता है। संसार की सम्पूर्ण व्यवस्था भगवद् इच्छा से ही ऋणानुबन्ध एवं क़र्म के आधार पर संचालित हो रही है, इसका भी विषयी मनुष्यों को अनुभव नहीं होता।

ब्रह्म एवं जगत् एक रूप है तथा निर्विकार है। संसार में जो विकृतियाँ दिखाई देती हैं वह जीव की मनोकल्पित अविद्या के कारण है। अपने अन्तःकरण के दूषित होने की अवस्था में जीव को सर्वत्र विकृतियाँ ही दिखाई देती हैं और वह इन विकृतियों को ब्रह्म में भी आरोपित करने

की कुचेष्टा करता है, स्वयं के मलीन अन्तःकरण को नहीं देखता, जिसके कारण विकृतियाँ दिखाई पड़ती हैं। जिन जीवों का अन्तःकरण शुद्ध होता है, उन्हें संसार की प्रतीति न होकर ब्रह्म का अनुभव होता है। जो जीव प्रभु से प्रगाढ़ प्रेम करते हैं ऐसे भगवदीय महानुभावों को भी अहंता ममतात्मक संसार की प्रतीति न होकर भगवान की लीला का ही अनुभव होता है। शुद्ध अन्तःकरण वाले मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध भी स्वार्थ पर आधारित न होकर शुद्ध होता है। इनके पारस्परिक सम्बन्ध भगवद् भाव पर आधारित रहते हैं। ऐसे शुद्ध अन्तःकरण वालों में सत्संग का ही भाव रहता है। ज्ञान के अन्तिम सोपान तक अथवा समर्पण की पूर्ण सिद्धि होने तक सत्संग के माध्यम से ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति की पुष्टि होती रहती है। ऐसे लोग धीरे-धीरे संसारी भाव से मुक्त होकर प्रभु की लीला का अनुभव करने योग्य बन जाते हैं। भगवदीय जीवों का यह संगम भी इसी जगत् में घटित होता है जहाँ प्रभु की निरन्तर उपस्थिति का बोध एवं परमानन्द का अनुभव होता रहता है।

ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी जीव में जो दोष दिखाई पड़ते हैं वे जीव के न होकर मायिक मन के हैं क्योंकि मायिक मन सद-सदात्मक एवं गुणत्रय से वेष्ठित होता है। मायिक मन ही विकृति का जनक है और इस मायिक मन को भी मायिक मन से ही देखा जाता है। अन्तःकरण के शुद्ध एवं निर्मल हो जाने पर अथवा मन के आत्मा में विलीन होने तथा प्रभु में लग जाने पर विकृति-जन्य संसार अनुभव में नहीं आता। अज्ञानावस्था में मनुष्य को यह जगत् संसार के रूप में दिखाई पड़ता है किन्तु ज्ञानावस्था में यह ब्रह्म के रूप में अनुभव में आता है। भक्त के लिए यह सब कुछ भगवान की लीला है जगत् के रूप में उसे सर्वत्र भगवान के हाव-भाव ही दिखाई पड़ते हैं।

वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म में से चिद् एवं आनन्द के तिरोभाव हो जाने पर भी सत् रूप में ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है क्योंकि पूर्ण में से पूर्ण को निकालने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है। इस दृष्टि से जीव, जगत् और परमात्मा सभी एकात्मक एवं अनन्य हैं। **''सः एकाकी न रमते'', ''सः द्वितीय मैच्छत्''** आदि श्रुति वाक्यों के अनुसार एकाकी खेल का आनन्द न ले पाने के कारण उसने बहुरूप होने की इच्छा की और वह स्वयं जड़ चेतनमय जगत् बना। रमण अर्थात्

क्रीड़ा करने की इच्छा से ही ब्रह्म अनेकानेक जीवों के रूप में विकसित होता रहता है किन्तु अविद्या जन्य अहंता और ममता के उदित होते ही उस पर आवरण आ जाता है और वह अपना यथार्थ रूप भूलकर अपने ही कल्पित मनोमय संसार में गिर पड़ता है, और स्वयं अल्प, क्षुद्र एवं हीन कोटि का बन जाता है। इसी आवरण के कारण वह संसारी बन जाता है और स्वयं को कर्मों का कर्ता मानने लगता है। स्वयं को कर्ता मान लेने के कारण उसे भोक्ता भी बनना पड़ता है और आवागमन के चक्र में बँधना पड़ता है।

ईशावास्योपनिषद् के अनुसार भी इस जगत् के प्रत्येक कण-कण में ईश्वर का ही आवास है अर्थात् इस समस्त जगत् में ईश्वर ही भरा पड़ा है। जगत् का आविर्भाव एवं तिरोभाव भी प्रभु की लीला का ही अंश है। जगत् फैलाये हुए कपड़े के समान आविर्भूत है तथा ब्रह्म लपेटे हुए कपड़े की तरह अव्यक्त है। जगत् की सृष्टि केवल लीला के लिए है। **"शुद्धयोरद्वैतं"** के अनुसार माया सम्बन्ध रहित ब्रह्म एवं जगत् का अद्वैत है। ब्रह्मवाद के अनुसार **"तिरोहिते चिदानन्दे जड़त्त्वम्"** अर्थात् चित्त और आनन्द के तिरोभाव होने पर ब्रह्म ही जड़ रह जाता है। सर्प जिस प्रकार स्वेच्छा से कुण्डली का आकार बना लेता है वैसे ही ब्रह्म भी अपने चित् एवं आनन्द अंश का तिरोभाव कर सत् अर्थात् जगत् रूप में स्थिर रहता है। ब्रह्म विरुद्ध धर्माश्रय होने से अनेक विरोधी गुणों से युक्त है इसीलिए परिवर्तन दिखाई देने पर भी उसका जगत् रूप नित्य एवं अविकारी है। परिवर्तन तो क्रिया शक्ति का परिणाम मात्र है इससे जगत् एवं ब्रह्म की भिन्नता सिद्ध नहीं होती। ब्रह्म और जगत् में विभेद कनिष्ठ अधिकारी को ही प्रतीत होता है। अणुभाष्य के अनुसार **"ब्रह्मत्वेनैव जगतः सत्यत्वम्"** अर्थात् ब्रह्म रूप होने से जगत् सत्य है।

सामान्यतः मनुष्य जगत् और संसार को एक ही समझते हैं इसीलिए कभी संसार को सत्य समझ लेने का और कभी जगत् को असत्य और मिथ्या समझ लेते हैं, इसीलिए मति-विभ्रम को दूर करने की दृष्टि से इस आलेख में जगत् और संसार दोनों की भिन्नता दिखाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि जगत् ब्रह्म रूप है अतः सत्य एवं नित्य है तथा संसार मनोकल्पित है अतः अनित्य, असत् एवं नश्वर है। भगवद् प्रेम की भावावस्था अथवा समाधि अवस्था में संसार की प्रतीति तक शेष

नहीं रहती किन्तु जगत् ब्रह्म रूप होने से यथावत् बना ही रहता है। जिन भगवद् प्रेमियों का अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, जिनके मन में प्रगाढ़ भगवद्-प्रेम पल्लवित हो चुका है, उनके साहचर्य में रहकर जगत् और संसार के विभेद का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। आशा है जिज्ञासु पाठकगण इस आलेख के मूल मन्तव्य को हृदयंगम कर संसार के त्रय ताप से अपना पीछा छुड़ाकर भगवद् आश्रय ग्रहण कर परमानन्द का लाभ लेंगे।

आधुनिक चिन्तन धारा एवं अध्यात्म

''कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त ॥''

(महाकवि जयशंकर प्रसाद)

महाकवि प्रसाद सम्पूर्ण सृष्टि के क्रिया-कलापों में एक ही परा-शक्ति की आनन्दमयी लीला का साक्षात्कार करते हुए कहते हैं कि यह सम्पूर्ण विश्व इसी एक ही चैतन्य शक्ति से व्यक्त होता है, एवं इसी में अनुरक्त एवं लीन होता है। जिसने सृष्टि के कण-कण में व्याप्त उस अखण्ड चैतन्य सत्ता का साक्षात्कार कर लिया है, अपने अविद्या-जनित अहं का आवरण हटाकर स्वयं के अन्तःकरण में भी उसका प्रत्यक्षीकरण कर लिया है, वह मनुष्य चिन्तन के सभी स्तर पार कर चुका है, उसका चिन्तन दर्शन एवं आनन्द के रूप में परिणित हो चुका है। उसकी चेतना देशकाल की परिच्छिन्न असीम परिधि का अतिक्रमण कर अखण्ड शाश्वत एवं असीम परम सत्ता में अवस्थित हो गई है। यही चिन्तन की परिसमाप्ति एवं आध्यात्मिक परिपूर्णता है जिसे प्राप्त करना मानव जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है।

सन्त कबीर के उद्गार–

''लाली मेरे लाल की जित देखूँ तिँत लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥''

एवं महाकवि तुलसीदास की भावाभिव्यक्ति–

''सियाराम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी ॥''

में उनके समस्त चिन्तन का सार है, दर्शन एवं अध्यात्म की परिपूर्णता है। चिन्तन की इस परिपूर्णता तक सभी मनुष्यों का एक साथ पहुँच पाना सम्भव नहीं है। चिन्तन का सम्बन्ध चेतना के विकास पर आधारित है। चेतना के अभाव में चिन्तन की स्थिति नहीं होती। चेतना के विकास के अनुरूप ही वनस्पति वर्ग में मात्र संवेदना एवं जीव-जन्तु, पशु-पक्षी आदि में सुरक्षा की चेष्टा, सतर्कता एवं प्रतिक्रिया पाई जाती है। मनुष्य की योनि में ही चेतना के विकास के साथ मनन एवं चिन्तन की क्रमबद्ध क्षमता का आविर्भाव होता है। संवेदनाएँ मन एवं बुद्धि का सहयोग पाकर चिन्तन के रूप में परिणित होती है। इस प्रकार चिन्तन का बौद्धिक विकास से घनिष्ट सम्बन्ध है।

अनादि काल से मनुष्य अपनी चेतना के स्तर के अनुरूप चिन्तन करता आ रहा है। मानव चेतना के विकास के प्रारम्भिक चरण में मनुष्य प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले भौतिक जगत को ही सत्य मानकर दृश्यमान संसार का ही चिन्तन करता है। अपने भौतिक जीवन-निर्वाह एवं सुरक्षा के लिए आवश्यक संसाधन जुटाना, उनका संरक्षण एवं संवर्द्धन करना ही उसका एक मात्र लक्ष्य होता है। उसके चिन्तन की परिधि भी यहीं तक सीमित होती है। इसे ही भौतिकवादी चिन्तन कहा जाता है जो प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक एवं अपरिहार्य है।

जब मनुष्य विकास क्रम में यह अनुभव करता है कि प्रत्येक दृश्यमान सत्ता अपने आप में पूर्ण नहीं है, स्थूल के पीछे सूक्ष्म की सत्ता विद्यमान है तथा उससे भी परे कारण सत्ता विद्यमान है जो अदृश्य होते हुए भी नेपथ्य से इस भौतिक जगत का संचालन एवं नियमन करती है तो वह प्रत्यक्ष प्रमाण को अपर्याप्त मानकर अनुमान, उपमान, शब्द आदि प्रमाणों के आधार पर उस रहस्यमयी सत्ता का अन्वेषण करने में प्रवृत्त होता है। भौतिकता की ओर प्रवाहित होने वाली अपनी चेतना को रोक कर उसे उस रहस्यमयी सत्ता की ओर प्रवाहित करना पड़ता है। वृत्ति की अन्तर्मुखता के साथ ही उसके चिन्तन में परिवर्तन आने लगता है।

मैं कौन हूँ? इस अवस्था में क्यों हूँ? यह जगत् क्या है? कैसे बना है? इसका क्या प्रयोजन है? इस दृश्यमान सत्ता के पीछे कौन सी मूल सत्ता है? वह मूल सत्ता जड़ है अथवा चेतन? मूर्त है अथवा अमूर्त? जड़ एवं चेतन का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? आत्मा क्या है? परमात्मा क्या

है? वास्तविक सुख किसमें है? चेतना के उन्नयन के साथ ही इस प्रकार के प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। इन प्रश्नों का उत्तर एवं समाधान भौतिकवादी चिन्तन से नहीं हो पाता इसीलिए उसे अपनी इन्द्रियों को वश में करते हुए मन एवं बुद्धि का शोधन करते हुए चैतन्य आत्म-सत्ता की ओर उन्मुख होना पड़ता है, वस्तुतः इसी का नाम अध्यात्म है। आत्मा का स्वभाव ही अध्यात्म कहा जाता है।

भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षों का समावेश होने से भारतीय चिन्तन एकांगी न रहकर सर्वांगपूर्ण रहा है तथा सम्पूर्ण विश्व में अग्रणी रहा है। भारतीय चिन्तन में प्रेय के साथ श्रेय, भौतिक अभ्युदय के साथ निःश्रेयस् का भी समान रूप से विचार किया गया है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष जैसे चारों पुरुषार्थों की सिद्धि मानव जीवन का ध्येय माना गया है। अर्थ एवं काम का सम्बन्ध भौतिक जीवन से एवं धर्म तथा मोक्ष का सम्बन्ध आध्यात्मिक चिन्तन से संयुत रहा है। विदेशियों से आक्रान्त, शासित एवं शोषित होने एवं पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का अन्धानुसरण करने की प्रवृत्ति से यद्यपि भारतीय चिन्तन-धारा अक्षुण्ण नहीं रह पाई किन्तु इसका प्रभाव किसी न किसी रूप में आज भी भारतीय चिन्तन में विद्यमान है। वेदान्त, योग, मीमांसा, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, जैन तथा बौद्ध दर्शन की समृद्ध चिन्तन परम्परा की विरासत का उपयोग न कर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रवर्तक कार्लमार्क्स एवं मनोविश्लेषक फ्रायड के अर्थ एवं काम केन्द्रित चिन्तन से प्रभावित होना विडम्बना मात्र है।

विज्ञान ने भौतिक जगत के अनेक रहस्यों को अनावृत्त कर मनुष्य के लिए उपयोगी अनेक यन्त्रों एवं सुख-साधनों में अवश्य वृद्धि की है। पूर्वापेक्षा बुद्धि का भी आत्यन्तिक विकास हुआ है किन्तु मनुष्य की भोगवादी मनोवृत्ति ने विज्ञान के वरदान को भी अभिशाप में बदल दिया है। श्रद्धा एवं विश्वास का स्थान तर्क तथा सन्देह ने ले लिया है। निजी स्वार्थ के लिए भौतिक सुख-साधनों का परिग्रह करना ही आज जीवन का मुख्य लक्ष्य रह गया है। सम्पूर्ण विश्व का चिन्तन पूँजीवाद एवं साम्यवाद की परिधि में सिमट कर रह गया है। पूँजीवादी चिन्तन-धारा निजी स्वार्थ पर ही केन्द्रित है। इसी के दुष्परिणाम स्वरूप, पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, हिंसा, प्रतिहिंसा, असन्तोष, शोषण, विषमता एवं भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला है। इस चिन्तन-धारा ने धर्म एवं अध्यात्म की पावनता को भी

दूषित कर उन्हें भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन बना लिया है। इसी मनोवृत्ति के कारण आज धर्म, दर्शन, संस्कृति, आचरण की वस्तु न रहकर प्रदर्शन की वस्तु बन गये हैं।

पूँजीवादी चिन्तन की प्रतिक्रिया स्वरूप जिस साम्यवादी चिन्तन का प्रादुर्भाव हुआ, वह दीन-दलितों का पक्षधर होते हुए भी आत्मा एवं परमात्मा की सत्ता से उदासीन रहते हुए स्थूल रूप से बाह्य विषमताओं को दूर करने में ही अपनी सार्थकता अनुभव करता है। पूँजीवाद व्यष्टि केन्द्रित होने पर भी व्यष्टिगत आत्म चैतन्य से अनभिज्ञ है एवं साम्यवाद समष्टिगत होते हुए भी समष्टिगत परमात्म चैतन्य से उदासीन हैं, अतः दोनों प्रकार के चिन्तन का आधार आत्मिक न होकर मात्र बौद्धिक है। सृष्टि के समस्त स्थूल रूपों में जो आत्म चैतन्य प्रवाहित है, उसी के आधार पर बाहरी विषमताएँ होते हुए भी उनमें अन्तर्साम्य है। इस अन्तर्साम्य का साक्षात्कार करने के लिए स्नेह, करुणा, सहिष्णुता, त्याग, सद्भाव एवं सन्तोष की आवश्यकता है। इसके लिए वस्तु तत्त्व से ऊपर उठकर आत्म तत्त्व के चिन्तन की जरूरत है। आत्मोन्मुख चिन्तन ही यथार्थ अध्यात्म है। यही निरपेक्ष चिन्तन है जो प्रत्येक युग के एकांगी चिन्तन से उत्पन्न समस्याओं का निराकरण करने में समर्थ है।

भौतिकवाद की दोनों चिन्तन-धाराओं पूँजीवादी चिन्तन-धारा एवं साम्यवादी चिन्तन-धाराओं की तुलना में मानवतावादी चिन्तन-धारा अवश्य उत्कृष्ट है। सदाचार, नैतिकता, त्याग, सहिष्णुता, दया, परोपकार आदि मानवोचित सद्गुणों से पुष्ट होता हुआ मानवतावादी चिन्तन मनुष्य को आदर्श की ओर अग्रसर करता हुआ समष्टि के लिए व्यष्टिगत सुख का उत्सर्ग करने की प्रेरणा देता है एवं मानव मात्र के लिए वरेण्य है। मानवतावादी चिन्तन का केन्द्र मानव है किन्तु मानव स्वयं भी एक अपूर्ण इकाई है, अतः इस चिन्तन को भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। जब तक किसी परिपूर्ण सत्ता को केन्द्र मानकर मनुष्य चिन्तन की ओर उन्मुख नहीं होता तब तक व्यष्टि, समष्टि की परिधि में ही उसका चिन्तन चक्र चलता रहेगा और चेतना का परिपूर्ण विकास नहीं होगा। अखण्ड सत्ता एवं आत्म चैतन्य के आलोक में ही समस्त रहस्य अनावृत्त होंगे। इसी परम चेतना का दिव्य संस्पर्श पाकर मानव का अन्तःकरण आलोकित हो उठेगा और उसे दिव्य दृष्टि एवं दिव्य चिन्तन की प्राप्ति होगी। चेतना का उज्ज्वल

वरदान अध्यात्म ही है और यही परिपक्व चिन्तन का आनन्दमय प्रतिफल है किन्तु परिपक्व चिन्तन की यह निर्द्वन्द्व, समरस एवं आनन्दमयी उपलब्धि कठोर-साधना, सेवा, समर्पण, त्याग, निष्काम-कर्म, तत्त्वज्ञान एवं सद्‌भाव के अभाव में सर्वसाधारण को प्राप्त होना कठिन है, अतः भौतिकवादी एवं मानवतावादी चिन्तन की सापेक्षिक धाराएँ भी किसी न किसी रूप में अवश्य प्रवाहित होती रहेंगी।

"पशु तुल्य कर देता मनुज को सतत चिन्तन स्वार्थ का।
मनुज का उत्कर्ष करता चिन्तन सदा परमार्थ का।
आत्म चिन्तन में समन्वय स्वार्थ का परमार्थ का।
अध्यात्म ही है मूल चिन्तन सार है सर्वार्थ का।"

भारतीय संस्कृति में समन्वय

निज संस्कृति के तत्त्व का जिसको न कुछ भी ज्ञान है।
आकार चाहे मनुज का हो, पर निरा पशु समान है ॥

संस्कृति मनुष्य की पहचान है। मनुष्य के आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान एवं क्रिया-कलापों पर संस्कृति की अमिट छाप रहती है। संस्कृति मनुष्य के अन्तःकरण का प्रतिबिम्ब है, उसके विकास के मूल्यांकन का प्रतिमान है। संस्कृति ही जीवन-रस है जिसका पोषण प्राप्त कर मनुष्य अपनी आन्तरिक एवं बाह्य क्षमताओं का विकास करता है। किसी भी व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का मूल्यांकन उसकी संस्कृति के आधार पर किया जा सकता है। संस्कृति मनुष्य की चेतना का विकास कर उसे पूर्णता की ओर अग्रसर करती है। संस्कृति के आलोक में ही भावनाओं एवं विचारों का उन्नयन तथा विकृत मनोविकारों का परिष्कार होता है। मनुष्य आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन आदि सामान्य पशुधर्म के संस्कारों से ऊपर उठकर मानवोचित आचरण एवं संस्कार अर्जित करता है। वे सम्यक् आचार-विचार एवं चेष्टाएँ जिसे मानव समुदाय अपने विवेक एवं अनुभव से प्राप्त कर अपनाते हैं संस्कृति कहलाते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से मानव मात्र के लिए एक ही संस्कृति होती है जिसे मानव संस्कृति कहा जा सकता है किन्तु विश्व के भिन्न-भिन्न देशों, राष्ट्रों एवं भू भागों के भिन्न-भिन्न परिवेश, जलवायु, भौगोलिक स्थितियों,

दूषित कर उन्हें भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन बना लिया है। इसी मनोवृत्ति के कारण आज धर्म, दर्शन, संस्कृति, आचरण की वस्तु न रहकर प्रदर्शन की वस्तु बन गये हैं।

पूँजीवादी चिन्तन की प्रतिक्रिया स्वरूप जिस साम्यवादी चिन्तन का प्रादुर्भाव हुआ, वह दीन-दलितों का पक्षधर होते हुए भी आत्मा एवं परमात्मा की सत्ता से उदासीन रहते हुए स्थूल रूप से बाह्य विषमताओं को दूर करने में ही अपनी सार्थकता अनुभव करता है। पूँजीवाद व्यष्टि केन्द्रित होने पर भी व्यष्टिगत आत्म चैतन्य से अनभिज्ञ है एवं साम्यवाद समष्टिगत होते हुए भी समष्टिगत परमात्म चैतन्य से उदासीन हैं, अतः दोनों प्रकार के चिन्तन का आधार आत्मिक न होकर मात्र बौद्धिक है। सृष्टि के समस्त स्थूल रूपों में जो आत्म चैतन्य प्रवाहित है, उसी के आधार पर बाहरी विषमताएँ होते हुए भी उनमें अन्तर्साम्य है। इस अन्तर्साम्य का साक्षात्कार करने के लिए स्नेह, करुणा, सहिष्णुता, त्याग, सद्भाव एवं सन्तोष की आवश्यकता है। इसके लिए वस्तु तत्त्व से ऊपर उठकर आत्म तत्त्व के चिन्तन की जरूरत है। आत्मोन्मुख चिन्तन ही यथार्थ अध्यात्म है। यही निरपेक्ष चिन्तन है जो प्रत्येक युग के एकांगी चिन्तन से उत्पन्न समस्याओं का निराकरण करने में समर्थ है।

भौतिकवाद की दोनों चिन्तन-धाराओं पूँजीवादी चिन्तन-धारा एवं साम्यवादी चिन्तन-धाराओं की तुलना में मानवतावादी चिन्तन-धारा अवश्य उत्कृष्ट है। सदाचार, नैतिकता, त्याग, सहिष्णुता, दया, परोपकार आदि मानवोचित सद्गुणों से पुष्ट होता हुआ मानवतावादी चिन्तन मनुष्य को आदर्श की ओर अग्रसर करता हुआ समष्टि के लिए व्यष्टिगत सुख का उत्सर्ग करने की प्रेरणा देता है एवं मानव मात्र के लिए वरेण्य है। मानवतावादी चिन्तन का केन्द्र मानव है किन्तु मानव स्वयं भी एक अपूर्ण इकाई है, अतः इस चिन्तन को भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। जब तक किसी परिपूर्ण सत्ता को केन्द्र मानकर मनुष्य चिन्तन की ओर उन्मुख नहीं होता तब तक व्यष्टि, समष्टि की परिधि में ही उसका चिन्तन चक्र चलता रहेगा और चेतना का परिपूर्ण विकास नहीं होगा। अखण्ड सत्ता एवं आत्म चैतन्य के आलोक में ही समस्त रहस्य अनावृत्त होंगे। इसी परम चेतना का दिव्य संस्पर्श पाकर मानव का अन्तःकरण आलोकित हो उठेगा और उसे दिव्य दृष्टि एवं दिव्य चिन्तन की प्राप्ति होगी। चेतना का उज्ज्वल

वरदान अध्यात्म ही है और यही परिपक्व चिन्तन का आनन्दमय प्रतिफल है किन्तु परिपक्व चिन्तन की यह निर्द्वन्द्व, समरस एवं आनन्दमयी उपलब्धि कठोर-साधना, सेवा, समर्पण, त्याग, निष्काम-कर्म, तत्त्वज्ञान एवं सद्‌भाव के अभाव में सर्वसाधारण को प्राप्त होना कठिन है, अतः भौतिकवादी एवं मानवतावादी चिन्तन की सापेक्षिक धाराएँ भी किसी न किसी रूप में अवश्य प्रवाहित होती रहेंगी।

"पशु तुल्य कर देता मनुज को सतत चिन्तन स्वार्थ का।
मनुज का उत्कर्ष करता चिन्तन सदा परमार्थ का।
आत्म चिन्तन में समन्वय स्वार्थ का परमार्थ का।
अध्यात्म ही है मूल चिन्तन सार है सर्वार्थ का।"

भारतीय संस्कृति में समन्वय

निज संस्कृति के तत्त्व का जिसको न कुछ भी ज्ञान है।
आकार चाहे मनुज का हो, पर निरा पशु समान है॥

संस्कृति मनुष्य की पहचान है। मनुष्य के आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान एवं क्रिया-कलापों पर संस्कृति की अमिट छाप रहती है। संस्कृति मनुष्य के अन्तःकरण का प्रतिबिम्ब है, उसके विकास के मूल्यांकन का प्रतिमान है। संस्कृति ही जीवन-रस है जिसका पोषण प्राप्त कर मनुष्य अपनी आन्तरिक एवं बाह्य क्षमताओं का विकास करता है। किसी भी व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का मूल्यांकन उसकी संस्कृति के आधार पर किया जा सकता है। संस्कृति मनुष्य की चेतना का विकास कर उसे पूर्णता की ओर अग्रसर करती है। संस्कृति के आलोक में ही भावनाओं एवं विचारों का उन्नयन तथा विकृत मनोविकारों का परिष्कार होता है। मनुष्य आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन आदि सामान्य पशुधर्म के संस्कारों से ऊपर उठकर मानवोचित आचरण एवं संस्कार अर्जित करता है। वे सम्यक् आचार-विचार एवं चेष्टाएँ जिसे मानव समुदाय अपने विवेक एवं अनुभव से प्राप्त कर अपनाते हैं संस्कृति कहलाते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से मानव मात्र के लिए एक ही संस्कृति होती है जिसे मानव संस्कृति कहा जा सकता है किन्तु विश्व के भिन्न-भिन्न देशों, राष्ट्रों एवं भू भागों के भिन्न-भिन्न परिवेश, जलवायु, भौगोलिक स्थितियों,

परिस्थितियों एवं जातिगत विशेषताओं से भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ बनती हैं जिनमें पारस्परिक समानताएँ नहीं होतीं। जिस संस्कृति में मानव के विकास के लिए जितना उत्तम चिन्तन एवं आचरण होता है वह संस्कृति अन्य संस्कृतियों की तुलना में उतनी ही अधिक उन्नत मानी जाती है।

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी रहा है। यहाँ के अग्रजन्मा तपःपूत ऋषि-मुनियों, आप्त पुरुषों, दार्शनिकों एवं मनस्वियों ने अपनी जीवन साधना से जिन जीवन-सत्यों का अन्वेषण किया, जिन आदर्शों, जीवन-मूल्यों एवं नैतिकता तथा आचार-विचारों के प्रतिमानों का निर्धारण किया उन्हीं से जिस संस्कृति का ताना-बाना बुना गया, उसे ही भारतीय संस्कृति कहा जाता है जो विश्व की प्राचीनतम संस्कृति होते हुए भी अपनी विशेषताओं के कारण सम्पूर्ण मानव जाति को मानवता के सर्वोच्च शिखर की ओर अग्रसर करने की प्रेरणा दे रही है।

प्राचीनता, अविच्छिन्नता, धार्मिकता, ओजस्विता, प्रगतिशीलता, मानवता, सहिष्णुता, नैतिक आचरण, कर्मवाद, शाश्वत जीवन में विश्वास, आत्मनिर्भरता, वैचारिक स्वातन्त्र्य, आध्यात्मिकता आदि अनेक विशेषताओं से युक्त इस संस्कृति में सबसे बड़ी विशेषता उसकी समन्वयकारी प्रवृत्ति है। समन्वय सृष्टि के सृजन एवं विकास का ही नहीं मानवता के उत्कर्ष का भी मूलमन्त्र है। जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि ही समन्वय का माध्यम है। समन्वय समान प्रकृति की वस्तुओं में ही हो सकता है इसीलिए संस्कृति का विकृति से समन्वय सम्भव ही नहीं है। विकृति से कुछ सीमा तक समझौता भी कभी स्थायी नहीं होता। विविध अन्नों के सम्मिश्रण से खिचड़ी बन सकती है क्योंकि अन्नों में परस्पर समन्वय हो सकता है किन्तु उसमें कंकड़ डालकर विकृति उत्पन्न कर समन्वय नहीं किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति में समन्वय की विराट चेष्टा है। मानव जीवन का लक्ष्य सत्यं, शिवं, सुन्दरं है। संस्कृति इसी लक्ष्य को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है अतः भारतीय संस्कृति में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का समन्वय है।

चैतन्य जड़ प्रकृति से जुड़कर ही अस्तित्व-मान बनता है। जब चैतन्य सत् अंश का सदुपयोग करता है तो मानवोपयोगी संस्कृति का निर्माण होता है किन्तु प्रकृति द्वारा चेतन अंश को आबद्ध पर लेने कर जड़ता एवं विकृति का ही विस्तार होता है।

भारतीय संस्कृति प्रकृति के जड़ अंश एवं चैतन्य तत्त्व में समन्वय

करती है। मनुष्य-शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्म का समुच्चय रूप है। भारतीय चिन्तन शरीर, मन एवं बुद्धि के महत्त्व को स्वीकार करता हुआ भी आत्मा को ही प्रमुखता देता है। शरीर, मन एवं बुद्धि पर आधारित क्षणिक सुख एवं दुःख को महत्त्व न देकर शाश्वत सुख को, आनन्द को महत्त्व देता है किन्तु इस आत्मिक परम सुख को प्राप्त करने के लिए शरीर, मन एवं बुद्धि आदि साधनों का शुद्धिकरण, संस्कार अथवा परिमार्जन आवश्यक मानकर भारतीय संस्कृति आत्मा एवं प्रकृति में समन्वय स्थापित करती है। मनुष्य में मृत्यु एवं अमरत्व दोनों का निवास है। संस्कृति इसी अमरता के अंश का पता लगाने का साधन है। सत्य में प्रतिष्ठित होकर मनुष्य पशुत्व के पाश से मुक्त होकर अपने अमरत्व का साक्षात्कार कर लेता है। भारतीय संस्कृति का यह उद्बोधन कितना अर्थ पूर्ण है ?

''असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्यो मा अमृतं गमय।''

अर्थात् भारतीय संस्कृति का उद्देश्य मनुष्य को असत् से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर एवं मृत्यु से अमरत्व की ओर बढ़ाना है।

भारतीय संस्कृति में ज्ञान, इच्छा एवं कर्म की तीनों शक्तियों में समन्वय करने का सन्देश है। इन तीनों के समन्वित विकास से ही समरसता एवं आनन्द की स्थिति प्राप्त होती है। तीनों के समन्वय का अभाव होने पर मनुष्य विकास नहीं कर पाता एवं विषमता की पीड़ा से संत्रस्त बना रहता है।

भारतीय संस्कृति में मानव जीवन की दो मुख्य प्रवृत्तियों, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, भौतिकता एवं आध्यात्मिकता, भोग एवं वैराग्य में सन्तुलन एवं समन्वय देखने को मिलता है। **''तेन त्यक्तेन भुंजीथाः''** का निर्देश देकर अनासक्ति पूर्वक त्यागमय भोग के आदर्श को स्वीकार किया गया है।

''ईशावास्यमिदं सर्वम्'' के अनुसार कण-कण में ईश्वर का आवास है, चैतन्य की सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। प्राणी मात्र **''सूत्रे मणिगणा इव''** की तरह इसी परम सत्ता में अनुस्यूत हैं। **''आत्मवत् सर्वभूतेषु''** की परिष्कृत दृष्टि भारतीय संस्कृति का अमूल्य अवदान है। भारतीय संस्कृति सर्वात्मवाद की भावना से अनुप्राणित है।

भारतीय संस्कृति में जीवन के महान् पुरुषार्थों का धर्म, अर्थ, काम

एवं मोक्ष अर्थात् भौतिकवाद एवं अध्यात्म का पूर्ण समन्वय है। धर्म पूर्वक अर्थोपार्जन करते हुए धर्म सम्मत कामनाओं की पूर्ति कर चित्त को उदात्त बनाते हुए मोक्ष प्राप्त करना इस संस्कृति का चरम लक्ष्य है। भारतीय संस्कृति की समन्वयवादी प्रवृत्ति का प्रभाव भारतीय जीवन-पद्धति, धर्म, दर्शन, साहित्य, शास्त्र, कला आदि सभी क्षेत्रों में पाया जाता है। सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट गुण है। इसी गुण के कारण भारत में अनेक धर्म, सम्प्रदाय, दर्शन विकसित हुए। यूरोपीय देशों में धर्म जातीय संघर्ष का कारण बना किन्तु भारतीय धर्मों में सदैव सहिष्णुता रही। आराध्य देवों की उपासना को लेकर संस्कृति में कोई गत्यावरोध उपस्थित नहीं हुआ। सभी धर्मों में समान रूप से नैतिक आचरण को महत्त्व दिया गया। धार्मिक संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिक कट्टरता की भावना भारतीय संस्कृति के आदर्शों से मेल नहीं खाती। भारतीय संस्कृति में जैन दर्शन के कर्मवाद का सिद्धान्त, बौद्ध दर्शन का करुणावाद, शैव दर्शन का आनन्दवाद, वैष्णव दर्शन का समर्पण भाव, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि के सिद्धान्त समान रूप से सभी के लिए धारण एवं ग्रहण करने योग्य हैं। रुचि की भिन्नता एवं वैचारिक भेद होने पर भी आध्यात्मिकता के कारण इस संस्कृति में सदैव समन्वय बना रहा। बहुदेववाद की मान्यता को स्वीकार करते हुए भी उन्हें एक ही परम तत्त्व की विभिन्न दिव्य शक्तियों के रूप में स्थापित करना भारतीय संस्कृति की समन्वयकारी प्रवृति का अनूठा उदाहरण है।

प्रत्येक भारतीय के हृदय में भारत की सभी प्रमुख नदियों, पवित्र पुरियों, पावन तीर्थ-स्थलों के प्रति समान रूप से आदर की भावना है। भारत की चारों दिशाओं में स्थित चारों धामों की यात्रा कर प्रत्येक भारतीय अपने जीवन की सार्थकता अनुभव करता है। यज्ञ में भी समस्त देवी-देवताओं को उचित्त स्थान देते हुए यज्ञ एवं देवपूजन की सामग्री के रूप में भिन्न-भिन्न द्रव्यों का उपयोग करना भी समन्वय का ही सूचक है।

विचार स्वातन्त्र्य को महत्त्व देने से भारत में वेदान्त, सांख्य, योग, मीमांसा, न्याय वैशेषिक आदि आस्तिक दर्शन एवं जैन, बौद्ध तथा चार्वाक आदि नास्तिक दर्शन समान रूप से पल्लवित एवं पुष्पित हो सके। जैन दर्शन में स्याद्वाद की प्रतिष्ठा यह बताती है कि इस संस्कृति में कभी भी किसी विचारधारा का तिरस्कार नहीं किया गया, किसी पर बलात्

कोई चिन्तन नहीं थोपा गया। मनुष्य को अपनी अपनी रुचि के अनुकूल विचारधारा को स्वीकार करने की स्वतन्त्रता सदैव दी गई। साहित्य, संगीत, कला एवं जीवन के विविध क्षेत्रों में भी भारतीय संस्कृति की इसी समन्वय वादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

भारतीय संस्कृति में मानव का सम्पूर्ण प्रकृति के साथ सामंजस्य एवं समन्वय बिठाया गया है। जीव-जन्तु से लेकर पशु-पक्षी आदि भी मनुष्य के स्नेह, श्रद्धा, करुणा एवं वात्सल्य के भाजन रहे हैं। गाय सभी के लिए माता की तरह पूज्य है तो विषधर सर्प तक भी पूजा का पात्र रहा है। श्रद्धा एवं विश्वास इस संस्कृति के मेरुदण्ड हैं। भारतीय संस्कृति में धर्म एवं विज्ञान का भी अभूत-पूर्व समन्वय मिलता है। धार्मिक महत्त्व देकर उन्हें मनुष्य की दिनचर्या के साथ जोड़ दिया गया है। तुलसी, वट, बिल्व, पीपल आदि धार्मिक जीवन के अभिन्न अंग बन गये हैं।

व्यष्टि एवं समष्टि का समन्वय भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। समष्टि के सुख में ही व्यष्टि का सुख निहित है **"सर्वे भवन्तु सुखिनः"** की भावना ही इसका प्राण तत्त्व है। परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण मानव जाति के लिए अपने नश्वर सुख का उत्सर्ग कर देना ही इस संस्कृति का सर्वोच्च आदर्श है। माता-पिता, गुरुजन, गुणीजन एवं वयोवृद्धों के प्रति पूज्य भाव एवं सेवाभाव रखना, नारी के प्रति सम्मान की भावना, अतिथि सत्कार, शरणागत रक्षा, प्राणीमात्र के प्रति करुणा, उदारता एवं अहिंसा का भाव रखना, सर्वात्मवाद की भावना इस संस्कृति के जीवन-मूल्य हैं। भारतीय संस्कृति मानवता का समग्र जीवन दर्शन है। इसमें जीवन के सभी पक्षों का समन्वय है। यही कारण है कि यह कालजयी संस्कृति अन्य संस्कृतियों की विशेषताओं को भी अपने में आत्मसात् करने की सामर्थ्य से युक्त है। विश्व की कई भोगवादी संस्कृतियाँ आध्यात्मिकता एवं समन्वय की भावना के अभाव में काल-कवलित हो चुकी हैं। किन्तु यह संस्कृति आज भी उन जीवन-मूल्यों एवं आदर्शों से अनुप्राणित है जो मानव जीवन को गरिमा प्रदान करते हैं। संस्कृति एक महाशक्ति है।

"शक्ति के विद्युत्कण जो त्रस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।
समन्वय उनका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।"

भावना का महत्त्व एवं तांत्रिक भाव-साधना

''भावेन लभते सर्वम्, भावेन देव दर्शनम्।
भावेन परमं ज्ञानं, तस्माद् भावावलम्बनम् ॥''

मनुष्य के पास भावना ही अमूल्य निधि है, भावना से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। परम ज्ञान एवं ईश्वर दर्शन का आधार भावना की दृढ़ता ही है। आधुनिक विज्ञान भी भावना के महत्त्व को स्वीकार कर रहा है। मनुष्य का वास्तविक विकास भावना से ही सम्भव है। तन्त्र साधना में भावना के विकास एवं परिष्कार का विशेष महत्त्व है। तन्त्र शास्त्र भावना का ही आधार ग्रहण कर साधना के रूप में विकास की वैज्ञानिक प्रणाली प्रस्तुत करता है। तन्त्र शास्त्र की यात्रा द्वैत से अद्वैत, स्थूल से सूक्ष्म एवं भेद से अभेद की ओर होती है। तन्त्र साधना द्वारा शक्ति के उच्चतम शिखर पर आरोहण किया जा सकता है, शक्ति का भावना के आधार पर क्रमशः विकास करते हुए उससे तदाकार हुआ जा सकता है, स्वयं शक्ति रूप बना जा सकता है। तंन्त्र शास्त्र के अनुसार सच्ची पूजा वह है जो आवागमन के चक्र को समाप्त कर देती है। भावना के अभाव में साधना में सफलता नहीं मिलती।

''न काष्ठे विद्यते देवः न पाषाणे न मृण्मयो।
भावो हि विद्यते देवः तस्माद् भावस्तु कारणम् ॥''

काष्ठ, पाषाण एवं मिट्टी की मूर्तियों में भगवान नहीं होते। भगवान की स्थिति तो अपने ही मानसिक भावों में हैं। वस्तुतः भावना ही शक्ति का अक्षय-कोश है, मूल उद्‌गम है। **''भावस्तु मनसो धर्मः''** भाव मन का धर्म है। भावना की उत्पत्ति मन से ही होती है एवं मन में ही इसका लय होता है अतः भावना के आधार पर की गई क्रिया में मन का तल्लीन एवं तन्मय होना स्वाभाविक है। स्थूल की गति का कारण सूक्ष्म होता है। शरीर स्थूल एवं भावना सूक्ष्म है अतः भावना ही स्थूल शरीर को गतिमान कर पूर्ण सक्रिय कर देती है। भावना ही सोई हुई शक्तियों को जगाकर उनमें गति उत्पन्न कर देती है, यही पारस मणि है जो जड़त्व रूपी लोहे को अपने स्पर्श से सुवर्ण रूप चैतन्य में परिवर्तित कर देती है।

''यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशीः।''

सिद्धि भी भावना के अनुसार ही होती है। व्यक्ति का अन्तःकरण

एवं बाह्य स्वरूप भी उसकी भावना के अनुरूप ही होता है। सद्भावना का परिणाम सुखदायी एवं दुर्भावना का परिणाम सदैव दुःखदायी होता है। स्वयं को ब्रह्म मानने से सोऽहम् की प्रतीति होती है एवं स्वयं में निर्बलता की भावना रहने पर निर्बलता का ही अनुभव होता है।

भावना-शक्ति ही मीरा के विष को अमृत बनाती है, पत्थर को भगवान बना देती है एवं अग्नि को भी चन्दन सा शीतल कर देती है। सावित्री की भावना-शक्ति सत्यवान को मृत्यु के पाश से छुड़ा लेती है। भावना में प्रकृति के नियमों के विपरीत फल प्राप्त करने तक की अनुपम सामर्थ्य विद्यमान है। भावना से ही शक्तियों का सृजन होता है, बिखरी हुई शक्तियों का एकीकरण होता है एवं उनमें दिव्यता का संचार होता है, इसीलिए तन्त्र साधना में भावना के आधार पर ही विकास का क्रम बनाया गया है।

भावना का क्रम निम्नांकित है–

1. पशु भाव 2. वीर भाव 3. दिव्य भाव

ये तीनों भाव क्रमशः सत्, रज एवं तम त्रिभुजों पर आधारित हैं। तन्त्र शास्त्र की साधना तमोगुण से रजोगुण की ओर एवं तदुपरान्त रजोगुण से सतोगुण की ओर बढती है और अन्त में गुणातीत अवस्था में साधक को पहुँचाकर समाप्त हो जाती है।

(1) पशु भाव–तन्त्र शास्त्र के अनुसार जीवात्मा या क्षेत्र को पशु कहा जाता है।

अहंकार से युक्त पशुपति ही जीवभाव धारण कर पशु बन जाता है। ब्रह्म से स्थावर पर्यन्त सभी पशु है **"पाशनात् च पशु"** पश् धातु का अर्थ बाँधना है। कुलार्णव तन्त्र के अनुसार जीव, दया, मोह, भय, लज्जा, घृणा, कुल, शील और वर्ण आदि अष्ट पाशों से बँधा हुआ है। ब्रह्म ज्ञान से ही अष्ट पाशों से मुक्ति मिलती है। इच्छाएँ और वासनाएँ ही इस बन्धन का कारण हैं। तामसी प्रकृति ही पशुत्व है। मल, कर्म और माया आदि पाशों में मल की निवृत्ति ही उत्तम साधन है। पशुभाव-जन्य जीव बहिर्मुखी एवं कर्म फल में आसक्त होता है, उसे मन्त्र, गुरु, शास्त्र एवं ईश्वर में विश्वास नहीं आता वह आन्तरिक सत्य को नहीं पहचान कर केवल बाहरी रूप में मुग्ध एवं प्रभावित होता है। कुछ जीव अपने पशुत्व का अनुभव कर लेते हैं उन्हें उत्तम पशु कह सकते हैं, पशु भाव का उत्सर्ग ऐसा ही बलिदान

है।

(2) **वीर भाव**—तन्त्र-साधना का दूसरा चरण वीर भाव है। इसमें जीव तमोगुण छोड़कर रजोगुण की ओर बढ़ता है, काम-क्रोधादि पर विजय पाने का प्रयत्न करता है। वीर भाव से अज्ञान-रज्जु को काटने का प्रयास करता है। द्वैत से अद्वैत की ओर बढ़ता है। अपने शिव स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयास करता है। तन्त्र साधना के लिए उपयोगी पंचमकारों का सेवन करता है। पंच ज्ञानेन्द्रियों से इसका त्याग ही पंचमकार साधना है।

(3) **दिव्य भाव**—भाव-साधना का यह अन्तिम चरण है। इस भाव में बुद्धि की निर्मलता, गम्भीरता, सूक्ष्मता एवं उदारता रहती है। इस भाव में अंतःकरण की शुद्धि हो जाती है, वह द्वन्द्व रहित एवं क्षमाशील हो जाता है। वह रजोगुण छोड़कर सतोगुण को ग्रहण कर लेता है। प्रत्येक नारी में शक्ति एवं प्रत्येक पुरुष में शिव का विग्रह मानता है। इसी भाव के चरम विकास की स्थिति में वह इष्ट देव से एकत्व स्थापित कर लेता है। द्वैत भाव को छोड़कर अद्वैत स्थिति में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह सोऽहम् की अन्तिम साधना को साकार कर लेता है।

तन्त्र साधना में वस्तुतः उक्त भावों का वर्गीकरण अत्यन्त तात्त्विक एवं मनोवैज्ञानिक है। तम की निवृत्ति के साथ ही पशु भाव की, रज की निवृत्ति के साथ ही वीर भाव की निवृत्ति हो जाती है और सत् प्रधान दिव्य भाव की सीमा में प्रवेश कर साधना की चरमोत्कर्ष स्थिति में अपने शक्तिमय शिव स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

कुछ तांत्रिकों द्वारा मारण, मोहन, उच्चाटनादि षटकर्मों द्वारा शक्ति का दुरुपयोग करने के कारण जन साधारण में तन्त्र शास्त्र के प्रति वितृष्णा का भाव बन गया है किन्तु इसका गहन अध्ययन करने एवं क्रियात्मक साधना करने पर ही यह अनुभव में आ सकता है कि जीव को पूर्णत्व की ओर ले जाने वाली तन्त्र शास्त्र में वर्णित साधना कितनी सबल एवं उपयोगी है।

नामोच्चारण एवं मन्त्र जप की महिमा

आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर चलने वाले साधक के लिए नामोच्चारण एवं मंत्र जप की अनिवार्य आवश्यकता है। गीता में **'यज्ञानां**

जपयज्ञोऽस्मि' कहकर द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ आदि की तुलना में जपयज्ञ की विशिष्टता बताई गई है। नामजप विधि-निषेध रहित सम्बोधन के रूप में होता है। प्रभु के सभी नाम पवित्र हैं, हमें जो भी नाम प्रिय हो, उसका जप कर सकते हैं। धीरे-धीरे यही नामोच्चारण स्मरण में बदल जाता है। नाम में पाप विनाश का अपूर्व सामर्थ्य विद्यमान है। **"पाप-पयोनिधि जन मन मीना"** के अनुसार अधिक पापाकान्त हो जाने पर नामोच्चारण की ओर प्रवृत्ति नहीं होती तथापि साहसपूर्वक मन नहीं लगने पर भी नाम जप का अभ्यास करना उचित्त है। नाम जप से चित्त में एकाग्रता आती है एवं पापों का क्षय होता है। **"अनिच्छया हि संस्दृष्टो दहत्यैव हि पावकः"**। भूल से आग का स्पर्श हो जाने पर भी आग तो जला ही देती है उसी तरह अनिच्छा पूर्वक भी नामोच्चारण करने मात्र से समस्त पाप जलकर राख हो जाते हैं।

"राम राम राम" नामजप है। "रामाय नमः" मन्त्र है।

नाम-जप एवं मन्त्र-जप में कुछ अन्तर है। नाम-जप किसी भी परिस्थिति में बिना किसी नियमबद्धता के किया जा सकता है किन्तु मन्त्र-जप में देश, काल, आसन, संयम आदि का पूरा ध्यान रखना पड़ता है। नाम-जप तो सम्बोधन मात्र है, किन्तु मन्त्र-जप में आराध्य के प्रति पूज्य भाव समाहित रहता है।

मन्त्र के बार बार उच्चारण को जप कहा जाता है।

"जकारो जन्म विच्छेदः, पकारः पापनाशकः।
तस्माज्जपः इति प्रोक्तो, जन्म पाप विनाशकः ॥"

ज का अभिप्राय जन्म का विच्छेद एवं प का अभिप्राय पापों का नष्ट होना है। मन्त्र-जप का उद्देश्य या तो प्रभु को प्रत्यक्ष करना होता है अथवा प्रभु से किसी कामना की पूर्ति करना होता है। लौकिक प्रयत्नों से हम जिस वस्तु को प्राप्त नहीं कर पाते, मन्त्र-जप द्वारा आराध्य देवता को प्रसन्न कर हम काम्य वस्तु उससे चाहते हैं। हमारे न चाहने पर भी मन्त्र-जप से अन्तःकरण को निर्बाध प्रकाश की प्राप्ति होती है। वस्तुतः जप सूक्ष्म करुणार्द्र अन्तःकरण की विशुद्ध दीप्ति है। जप से सभी प्रकार के संशय एवं बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

जप कई प्रकार के होते हैं जिनका विवरण निम्नांकित है–

(1) नित्य जप–नित्य जप एक आध्यात्मिक व्यायाम है। सूक्ष्म

शरीर के लिए इसकी उसी प्रकार आवश्यकता है जैसे स्थूल शरीर के लिए नित्य-स्नान एवं मल-विसर्जन की क्रिया। जप से मन पर चढ़े हुए मल, आवरण एवं विक्षेप दूर हो जाते हैं, पुराने संस्कारों का शमन होता है। गुरुप्रदत्त इष्ट मन्त्र का नियमित रूप से जप करना ही नित्य जप है।

(2) **नैमेत्तिक जप**—यह जप किसी निमित्त से किया जाता है। श्राद्ध पक्ष में माता-पिता अथवा अपने पूर्वजों के निमित्त उनसे उऋण होने के लिए अथवा ग्रहण एवं अमावस्या, पूर्णिमा, एकादशी, शिवरात्रि, रामनवमी, जन्माष्टमी, नवरात्रि, दशहरा, दीपावली, गणेशचतुर्थी आदि पर्व तिथियों पर प्रभु की प्रसन्नता एवं सभी प्रकार के ऋणों से उऋण होने के लिए आशीर्वाद-प्राप्ति की भावना से जप किया जाता है। इसमें पितरों को भी सद्‌गति की प्राप्ति होती है।

(3) **काम्य जप**—यह जप किसी कामना की पूर्ति के लिए किया जाता है, जैसे—धन, पुत्र, यश-प्राप्ति, संकट निवारण आदि के लिए किया जाता है। इससे देव शक्तियाँ आकर्षित होकर अभीष्ट सिद्धि में सहायक होती हैं। ग्रह शान्ति एवं अरिष्ट ग्रह निवारण आदि के लिए भी जप किया जाता है।

(4) **निषिद्ध जप**—पवित्रता, संयम, ब्रह्मचर्य, मिताहार, यम नियमों का पालन, मनोविग्रह आदि जप साधना के आवश्यक नियम हैं। इन नियमों का विधिपूर्वक पालन न करने पर देव कृपा संदिग्ध रहती है। गुरु से बिना मन्त्र अथवा दीक्षा लिये जप करना, अनधिकारी गुरु से मन्त्र लेना, अशुद्ध उच्चारण करना, अपवित्र अवस्था में निकट स्थान पर जप करना, श्रद्धा के अभाव में मन्त्र जप करना, देवता के प्रतिकूल मन्त्र का जप करना आदि निषिद्ध जप की श्रेणी में आता है। इस प्रकार की जप-साधना से प्रायः निराशा ही हाथ लगती है। आधुनिक युग में जप सिद्धि प्राप्त न होने का यही सबसे मुख्य कारण है।

(5) **प्रायश्चित जप**—मानव जीवन प्राप्त करने से पूर्व 84 लाख योनियों में भटकते हुए उनके पशु योनियों के संस्कार मनुष्य में बने रहते हैं। किसी उत्तेजक कारण के उपस्थित होते ही ये संस्कार दोष, अपराध अथवा पाप रूप में प्रकट हो जाते हैं। जिनके कारण बाद में पश्चात्ताप होता है। ऐसे प्रारब्ध-जनित दोषों की कामना करने हेतु प्रायश्चित-जप का विधान है। इसमें अपने दोषों एवं अपराधों की स्वीकृति का भाव है।

स्वयं के दोषों को स्वीकार कर लेने से पापों की गठरी खुल जाती है।

(6) अचल जप—किसी विशेष उपलब्धि के लिए विशिष्ट जप साधना को अचल जप कहा जाता है इसमें नियम, संयम के साथ दृढ़ संकल्प शक्ति की आवश्यकता है। इसमें "कार्यम् साधयामि देहं वा पातयामि" का अटल संकल्प विद्यमान रहता है।

(7) चल जप—यह जप खाते, पीते, उठते, बैठते, चलते, फिरते हर परिस्थिति में किया जा सकता है। इसके लिए आसन पर बैठकर जप करना जरूरी नहीं है। यह अनावश्यक विचारों से पीछा छुड़ाने एवं मन को अन्तर्मुखी बनाने हेतु किया जाता है। यह जप अन्तरंग है। अतः इसे गुप्त रूप से ही मन ही मन करते रहना चाहिए।

(8) वाचिक जप—जिस उच्चारण को अन्य व्यक्ति भी सुन सके, वही वाचिक जप है। यद्यपि यह निम्न कोटि का है परन्तु प्रारंभिक अभ्यास हेतु आवश्यक है। इससे वाक् सिद्धि होने के साथ शटचक्रों में विद्यमान शक्तियाँ भी जागृत होती हैं।

(9) उपांशु जप—इसमें होंठ अवश्य हिलते हैं पर दूसरा व्यक्ति इसे नहीं सुन पाता। इसके प्रभाव से स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश होता है, वृत्ति अन्तर्मुखी होती है, एकाग्रता बढ़ती है।

(10) भ्रमर जप—भ्रमर की तरह गुनगुनाना इस जप की विशेषता है। यह मन्त्र-जप प्राण-वायु के सहयोग से होता है। इससे अनाहत या अनहद नाद की साधना सफल होती है।

(11) मानसिक जप—इसमें मन्त्र के पद एवं अक्षरों के अर्थ पर विचार किया जाता है। इससे वाक् सूक्ष्म हो जाती है, इसका प्रभाव सम्पूर्ण वातावरण पर पड़ता है।

(12) अखण्ड जप—इसमें जप से मन उचटने पर उसे ध्यान में, ध्यान से उचटने पर चिन्तन में, चिन्तन से उचटने पर स्वाध्याय में लगाया जाता है। मन को किसी भी क्षण खाली नहीं रखा जाता—इससे महासिद्धि होती है।

(13) अजपा जप—यह सब जपों में महत्त्वपूर्ण है। वासोच्छ्वास की क्रिया के साथ स्वतः सोऽहम् की ध्वनि के साथ होता रहता है। प्राण एवं अपान वायु की क्रिया होने से इसे प्राण-यज्ञ भी कहा जाता है।

वस्तुतः प्रत्येक आध्यात्मिक साधक के लिए मन्त्र-जप अथवा

नाम-जप एक अनिवार्य आवश्यकता है। साधक की प्रगति इसी पर निर्भर है। एकाग्रता, अन्तर्मुखी-वृत्ति, ध्यान, अर्थ-चिन्तन एवं अभ्यास इसके आवश्यक उपकरण हैं। इसी से मन की उत्पादक, प्रेरक एवं रचनात्मक शक्ति का जागरण होता है।

गुण निरूपण

त्रिगुणात्मिका प्रकृति सत्, रज एवं तम आदि तीनों गुणों से सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन, पोषण एवं संहार कर रही है। अनुपात भेद से सर्वत्र इन तीनों गुणों का ही प्रसार है। ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र क्रमशः रज, सत् एवं तम के ही गुणावतार हैं जो निमित्त रूप से सृजन, पालन एवं संहार के लिए क्रियाशील प्रतीत होते हैं। ये तीनों गुण इस संसार रूपी वृक्ष की तीन जड़े हैं जिनके आधार पर यह वृक्ष सतत पल्लवित एवं पुष्पित होता रहता है। मानव शरीर भी प्रकृति का ही अंश है अतः इस पंच-भौतिक शरीर में इन तीनों गुणों की क्रीड़ा-तरंगें अविरल चलती रहती हैं। पारमार्थिक दृष्टि से सतोगुण को उत्तम, रजोगुण को मध्यम एवं तमोगुण को निम्न माना जाता है। गीता के अनुसार–

"उर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः, मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्य गुण वृत्ति स्थाः, अधो गच्छन्ति तामसाः ॥"

अर्थात् सतोगुणी व्यक्ति की गति ऊपर के लोकों की ओर होती है, रजोगुणी व्यक्ति चक्राकार गति में मृत्यु लोक में ही अर्थात् स्वर्ग एवं पाताल के मध्य भाग में बने रहते हैं तथा तामसी प्रकृति के तमोगुणी लोग अधोगामी होते हैं।' सतोगुण, ज्ञान, धर्म, भक्ति, विवेक, वैराग्य एवं सद्गुणों की अभिवृद्धि करता है। रजोगुण, मान, लोभ, मोह, काम, मत्सर, छल-प्रपंच पाखण्ड, धन-लोलुपता, यशोलिप्सा, अधिकार-लिप्सा आदि की अभिवृद्धि कर व्यक्ति को बहिर्मुखी बनाये रखता है। तमोगुण व्यक्ति में निद्रा, व्यसन, कलह, अभिमान, पारुष्य, क्रोध, हिंसा, निष्ठुरता, उच्छृंखलता की अभिवृद्धि कर उसे अपने पाश में जकड़ लेता है। सभी प्राणियों में इन तीनों गुणों की स्थिति आवश्यक रूप से रहती है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में किसी एक गुण की प्रधानता अवश्य रहती है। एक गुण के प्रबल होने पर दूसरे दो गुण गौण होकर, उसके अनुवर्ती बन जाते हैं। इन्हीं गुणों के

आधार पर व्यक्तियों को सात्विक, राजस एवं तामस कहा जाता है।

सतोगुण के लक्षण—सतोगुण ही व्यक्ति को ईश्वरोन्मुख करता है, भजन एवं स्मरण में प्रवृत्त करता है, इससे उत्तम गति की प्राप्ति होती है। यह सुखदायक एवं आनन्द प्रदाता है। यह अज्ञान का नाश कर सत्कर्म की प्रेरणा देता है। यह पुण्य का प्रेरक है, मोक्ष प्रदायक है, भक्ति का आधार है, विवेक का जनक है। यह हृदय को निर्मल बना साधक को सेवा एवं परोपकार की ओर प्रवृत्त करता है। वह माता-पिता, गुरु एवं अन्य आदरणीय व्यक्तियों को सम्मान देता है, किसी को कठोर वचन न कहकर सबका हित साधन करता है। निष्काम सेवा ही उसका आदर्श होता है। सन्तोष, दया, स्नेह, सहिष्णुता, क्षमा आदि अनेक सद्‌गुण सतोगुणी व्यक्ति में स्वतः आ जाते हैं। वह अभिमान रहित एवं विनयशील होता है, किसी के प्रति दुर्भावना नहीं रखता है। विपत्ति में विवेक एवं धैर्य का आश्रय लेता है। वह छिद्रान्वेषी नहीं होता, अपमान से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता। क्रोध का वह संवरण कर लेता है। वह स्वयं का कल्याण करते हुए लोगों को भी सन्मार्ग दिखलाता है। वह पर-दुःख-कातर होता है एवं उसका जीवन सर्व-जन हिताय होता है। सतोगुण हलका है अतः उसकी गति उर्ध्व है।

रजोगुण के लक्षण—रजोगुण अहं प्रधान होता है, इसमें अहंता एवं ममता की प्रधानता रहती है। रजोगुणी व्यक्ति दूसरों से स्वयं को श्रेष्ठ मानता है। वह दंभी तथा मिथ्याभिमानी होता है। उसकी अपने परिवार के प्रति अपार ममता होती है, इसीलिए वह परिवार के भौतिक हित के लिए उचित्त, अनुचित सभी तरह के तरीकों से अर्थ संचय करता है। वह परिवार के लिए ही सुखी दुखी होता है। वह प्रायः अवसरवादी होता है और अपने हित, अहित के प्रति पूर्णतया सतर्क रहता है। श्रेष्ठ खान-पान, ठाटबाट, कीमती वेशभूषा का शौकीन होता है तथा अपनी सुख-सुविधा के लिए अनेक साधन एकत्रित करता है। वह परम लोभी होता है और प्रत्येक वस्तु पर अपना ही स्वत्व स्थापित करना चाहता है। वह नैतिकता का प्रदर्शन करता है परन्तु वास्तविकता में उसकी प्रवृत्ति अनैतिक होती है। वह अपने वचन का पक्का नहीं होता। उसमें प्रायः टाल-मटोल की, छलकपट करने की, विश्वासघात करने की प्रवृत्ति होती है। वह दान-पुण्य, तीर्थयात्रा एवं अन्य धार्मिक क्रियाएँ भी मात्र प्रदर्शन के लिए करता है।

वह द्रव्य में आसक्त होता है तथा उसका चित्त कृपण रहता है। उसके मन में अन्य व्यक्तियों के प्रति तिरस्कार का भाव होता है। उसमें छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष, काम, लोभ, मोह, मद की प्रचुरता होती है। वह आशावादी होता है। शृंगार रस, रंग-विनोद, हास-परिहास उसे प्रिय होते हैं। वह महत्त्वाकांक्षी होता है तथा क्रिया शक्ति सम्पन्न होता है किन्तु चित्त की उदारता के अभाव में परिणाम में दुःख एवं शोक ही प्राप्त करता है।

तमोगुण लक्षण—तमोगुण का प्रधान लक्षण क्रोध है। तमोगुणी माता, पिता, गुरु, आदि का भी आदर नहीं करता। वह चाहता है कि सभी उसकी हाँ में हाँ मिलावे। वह अपनी बात का विरोध नहीं सहन कर सकता। वह परम असहिष्णु होता है तथा अधिक क्रोध होने पर वह मरने मारने को तत्पर हो जाता है। उसमें हिंसा, प्रतिहिंसा एवं प्रतिशोध की भावना तीव्र होती है। क्रोध में वह स्वयं अपने प्राणों का मोह भी त्याग देता है। तमोगुणी व्यक्ति ही प्रायः आत्महत्या करते देखे गये हैं। वह सर्वाधिक भ्रान्त एवं संशयालु होता है वह न किसी का विश्वसनीय बन पाता है और न किसी पर विश्वास कर पाता है। वह निर्दयी, निष्ठुर एवं दुराग्रही तथा आत्मक्लेशी होता है। मन में दुर्भावना रखता है तथा प्रत्येक व्यक्ति का मन से अहित तथा नाश चाहता है। वह किसी के नियन्त्रण में नहीं रहता, प्रायः उद्दण्ड तथा उच्छृंखल प्रवृत्ति का होता है। वह छिद्रान्वेषी होता है तथा अच्छाई में भी बुराइयाँ देखता है।

तीनों गुणों के उक्त निरूपण से स्पष्ट है कि आज रजोगुणी एवं तमोगुणी व्यक्तियों की संख्या अधिक है। सतोगुणी व्यक्तियों का क्रमशः ह्रास होता जा रहा है। रजोगुण एवं तमोगुण का गठबन्धन भ्रष्टाचार का विस्तार कर रहा है। यदि रजोगुण सतोगुण द्वारा नियन्त्रित हो सके तो जीवन जीने योग्य बन सकता है, सुशासन की प्रतिष्ठा हो सकती है।

तीनों गुणों के अभिज्ञान से व्यक्ति अपने गुण जानकर राग-द्वेष से मुक्त हो सकता है। प्रकृति के सभी कार्य इन गुणों द्वारा ही संचालित हो रहे हैं, शरीर में साक्षी रूप में स्थित आत्मा तो सर्वथा निस्पृह एवं निर्लेप है।

शक्ति तत्त्व एवं उसका स्वरूप

शक्ति का अर्थ है बल, पौरुष, सामर्थ्य, योग्यता, पावर, एनर्जी, धर्म

अथवा गुण आदि। जो पदार्थ या प्राणी शक्ति या योग्यता से शून्य है, जिसमें कोई विशेषता या चमत्कार नहीं, उसके रहने की कोई आवश्यकता एवं उपयोगिता नहीं होती । इस सृष्टि का मूल तत्त्व 'ब्रह्म' माना जाता है परन्तु जिस तरह अग्नि और उष्णता में भेद नहीं है, उसी तरह ब्रह्म और शक्ति में भेद नहीं हो सकता। शक्ति का आधार ब्रह्म है और ब्रह्म का अस्तित्व शक्ति से है। ब्रह्मत्व ब्रह्म की शक्ति है। ब्रह्म से ब्रह्मत्व को पृथक् नहीं किया जा सकता। पृथक् करने पर वह अपना अस्तित्व ही खो देता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि शक्ति ही समस्त पदार्थों का सार तत्त्व है, इसके अभाव में किसी भी जड़ या चेतन पदार्थ की रचना तो दूर रही, कल्पना तक नहीं की जा सकती। शक्ति ही गति है, शक्ति ही प्रेरणा है। यही संचालिका है, यही नियामिका है। सृष्टि का सम्पूर्ण इतिहास शक्ति के ही व्यक्ताव्यक्त स्वरूप की विवेचना मात्र है। शक्ति से ही सृजन, स्थिति (पालन) एवं संहार सम्भव होता है। संसार का आविर्भाव (सृजन) एवं तिरोभाव (प्रलय) भी इसी महाशक्ति का क्रीड़ामय विलास है। सब को अपनी ओर बलात् आकर्षित करने वाली एक मात्र यही चिति शक्ति है—महाकवि प्रसाद ने सम्पूर्ण जड़ चेतन में इसी महाशक्ति के क्रिया-व्यापार का रमणीय दर्शन करते हुए कामायनी में लिखा है—

''कर रही लीला मय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त ॥''

यही महाशक्ति नाना रूपों में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यही प्राणी मात्र की एक मात्र गति है, भिन्न-भिन्न अंशों में प्रकट होकर यही अनादि, अनन्त, आद्या-शक्ति समस्त संसार को धारण कर रही है, पालन कर रही है और अन्ततोगत्वा स्वयं में लीन कर रही है। यही महामाया है जो एक रूप से भयंकर बनकर सबका नियमन कर रही है, तो दूसरे रूप से रमणीय बनकर सब को मोहित कर रही है। शक्ति ही 'सत्' है, यही विश्व का अस्तित्व है। यही नित्यानित्य-मयी है। इसके दो स्वरुप है—प्रथम शाश्वत, शुद्ध एवं नित्य स्वरूप दूसरा त्रिगुणात्मक एवं परिवर्तनशील अनित्य-स्वरूप। शुद्ध, पूर्ण एवं शाश्वत शक्ति की उपासना करने वाला स्वयं शक्ति का ही रूप बन जाता है। त्रिगुणात्मक स्वरूप की उपासना करने वाला भी अपनी शक्ति में वृद्धि कर लेता है। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ही कोई ज्ञान रूप से, कोई आनन्द रूप से, कोई सत् रूप से तथा

कोई शक्ति रूप से इसकी उपासना करते हैं। प्रत्येक जीव शक्ति का ही उपासक है, जाने-अनजाने वह शक्ति की ही उपासना कर रहा है, उसके शुद्ध स्वरूप को न जानने के कारण मोहित हो रहा है परन्तु इसे पहचान लेने पर जीव दुख एवं मृत्यु को जीत लेता है।

शक्ति ही भौतिक अभ्युदय एवं पारमार्थिक निःश्रेयस प्रदान करने वाली है। यही भुक्ति एवं मुक्ति देने वाली है। इसी का नाम चित्शक्ति, कुण्डलिनी, देवी, परा-शक्ति, परमेश्वरी, जगदम्बा, जगदीश्वरी एवं भगवती है। यही महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, दुर्गा, गायत्री, सावित्री, शिवा, गौरी, अम्बिका, महामाया एवं भुवनेश्वरी है। यही जगद्धात्री, अन्नपूर्णा, चामुण्डा, चण्डिका, भवानी एवं माहेश्वरी है। राधा एवं सीता इसी का व्यक्त स्वरूप है। तन्त्र शास्त्रों में यही 'त्रिपुर सुंदरी' नाम से प्रतिष्ठित है एवं यही अपने विभिन्न अंशों को लेकर दश महाविद्याओं के नाम से विख्यात है। बौद्ध तन्त्रों में इसी का नाम तारा है, यही शून्य है, महाशून्य है जिससे सम्पूर्ण सृष्टि का प्रभव एवं जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि का लय होता है, यही प्रभुत्व की प्रतिमा है, समस्त ज्ञान एवं विज्ञान का आदि स्रोत है। यही कामाख्या, मीनाक्षी एवं उग्रतारा है, यही पिण्ड में कुण्डलिनी बनकर सुषुप्त अवस्था में स्थित है, यही निर्गुण होने पर भी त्रिगुणात्मक एवं सगुण बनकर सर्वत्र व्यक्त है, यही समस्त दृश्य पदार्थों के पीछे अदृश्य रूप से रहने वाली रहमस्यमयी सत्ता है, प्रत्यक् चिति है, यह नित्य निर्विकार, अद्वितीय परमात्मा की दिव्य चेतना की अभिव्यक्ति है जो उनसे सर्वथा अभिन्न है। यही अविद्या बनकर जीव को बन्धनग्रस्त करती है एवं विद्या बनकर मुक्ति प्रदान करती है, यही पंचभूत एवं मन बुद्धि अहंकार रूपिणी अपरा प्रकृति है तो यही चिदंशभूता सनातनी जीवरुपा परा प्रकृति है और यही शुद्ध रूप में सच्चिदानन्द स्वरूपिणी मूल प्रकृति है। उपनिषदों के अनुसार यही महाशक्ति संसार रूपी वृक्ष का मूल बीज है जिसमें यह सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच रूप वटवृक्ष प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। यही नाद, बिन्दु एवं कला रूपिणी षोडशी है, यही मातृका है, यही स्वरात्मिका है, पूर्ण ब्रह्ममयी है। यही सुधा है, भाव स्वरूपा है, सत् है, असत् है, अनिर्वचनीय है। इसी से ब्रह्म में नाना रूपों में अभिव्यक्त होने की क्षमता आती है। प्रलयावस्था में यही शांभवी, शान्त स्वरूपा शिवा है, सृष्टि अवस्था में 'लोकवत्तुलीला कैवल्यम्' के अनुसार अपनी लीला के लिए

नाना रूप धारण कर विलास करती है। यही शान्त शुद्ध परब्रह्म में **'एकोऽहं बहुस्याम्'** की संकल्पेच्छा है, यही मायाशबल ब्रह्म है। शक्तिः शक्तिमानयोरभेदः के अनुसार यह परमतत्त्व से सर्वथा अभिन्न है, यही अघटना-घटीयसी योगमाया है, ईश्वर की ऐश्वर्य शक्ति है, यही राम, कृष्ण, नृसिंहादि विष्णु के अवतारों का परम कारण है, इसी के बल से दुष्कृति का विनाश, सत् का संवर्द्धन, धर्मस्थापन एवं लोकरक्षण होता है। यही ज्ञानियों के चित्त में मोह का प्रवेश कराकर बलात् बन्धनग्रस्त करती है, सूत्रधार के रूप में सभी को इच्छानुसार नचाती है। यही सिद्धियों का प्रलोभन देकर योग से भ्रष्ट करती है किन्तु निष्काम भक्ति एवं समर्पण द्वारा तुष्ट होकर मुक्ति का द्वार खोल देती है। यह परम करुणामयी एवं सर्वहितकारिणी है। आधुनिक विज्ञान भी यह मानता है कि परमाणु में शक्ति का अक्षय कोश विद्यमान है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में यही विश्व रूप बनकर सर्वत्र व्याप्त है। मनुष्य को अपने सम्पूर्ण कल्याण के लिए इसके समग्र स्वरुप को समझकर तदनुसार इसकी पूजा-अर्चना करना चाहिए।

अन्त में इस मातृरूपा करुणामयी भगवती से यही आत्म-निवेदन है—

''देवी प्रपन्नार्ति हरे प्रसीद प्रसीद मातः जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरी पाहि विश्वम् त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य ॥''

(देवी-सप्तशती)

नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् (सद्गुरु का तत्त्व एवं स्वरूप)

भारतीय वाङ्मय में गुरु की अपार महिमा गाई गई है, उसे ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश से भी बढ़कर साक्षात् परब्रह्म माना गया है। माता और पिता से भी उसे अधिक पूज्य माना गया है। वह अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर कर मनुष्य को प्रकाश का मार्ग दिखाता है, तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का उद्घाटन करता है एवं व्यक्ति को सत्मार्ग की ओर प्रेरित करता है। वह जीवात्मा का अकारण हितैषी माना गया है। वस्तुतः गुरु शब्द प्रकाश वाचक है। गुरु का अर्थ भारी, विराट है, वह महिमामय है, गरिमा मय है। गुरु का धर्म बड़ा ही कठिन है, उसे अपने आत्मबल से दूसरों को

उठाना होता है। अपनी विद्युत्-शक्ति दूसरों में प्रवेश कर अपने दिव्य तेज की रश्मियों एवं प्रभावशाली उपदेशों से शिष्यों के हृदयों को प्रकाशमय बनाना होता है, शिष्यों के अज्ञान जनित अन्धकार को हटाकर उनमें ज्ञान का दीपक जलाना होता है। जब तक इतनी सामर्थ्य प्राप्त न हो तब तक गुरु बनने की लालसा करना अथवा गुरु बनकर बैठ जाना अक्षम्य अपराध है। शास्त्रों में इसे पाप की संज्ञा दी गई है। मनुष्य गुरु पर विश्वास करते हैं अतः ऐसे गुरुओं से गुमराह होने एवं धोखा खाने का भय बना रहता है। जिस रास्ते पर स्वयं नहीं चले उस पर दूसरे को चलने के लिए प्रेरित करना घोर आत्म प्रवंचना है।

जीवन में अनेक प्रकार के गुरू होते हैं। व्यापक रूप में किसी भी प्रकार की शिक्षा देने वाले को गुरु ही कहा जाता है। माता प्रथम गुरु है क्योंकि वही सर्वप्रथम शिशु को बोलना, खाना-पीना, चलना-फिरना सिखाती है। माता के बाद पिता भी गुरु है क्योंकि वह भी शैशव काल में पुत्र के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा आदि में समान रूप से सहयोग देता है एवं हितकारी शिक्षा भी प्रदान करता है। यज्ञोपवीत संस्कार देने वाला भी गुरु है। कुल-गुरु भी होता है जो सभी प्रकार के संस्कार देता हैं। विद्या-गुरु भी होता है जो विद्या का अध्ययन कराता है। प्रशिक्षण देने वाले, तकनीकी ज्ञान देने वाले, आजीविका के लिए कार्य सिखाने वाले तथा शास्त्र विद्या सिखाने वाले भी गुरु ही कहलाते हैं किन्तु जिसको परम् गुरु कहा गया है वह इन गुरुओं से भिन्न है, वह आत्मा का गुरु है, अध्यात्म का गुरु है। वह आन्तरिक साधनों का उपयोग बतलाने वाला गुरु है। सांसारिक विद्याओं के लिए पूर्ण गुरु की आवश्यकता नहीं होती, सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ की आवश्यकता होती है किन्तु जहाँ से अध्यात्म विद्या (ब्रह्म विद्या) का आरम्भ होता है वहीं से ऐसे पूर्ण गुरू की आवश्यकता होती है। भारतीय वाङ्मय में शास्त्र एवं पुराणों में पूर्ण गुरु की ही महिमा का वर्णन है। आधुनिक युग में ऐसे पूर्ण गुरु विरले ही पाये जाते हैं परन्तु आधे अधूरे ज्ञान वाले अथवा किसी विषय-विशेष का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति भी स्वयं को गुरु मानने का भ्रम पाले हुए हैं। वेतनभोगी शिक्षक भी स्वयं को गुरु मानकर छात्रों से पूर्ण सम्मान एवं श्रद्धा की अपेक्षा करते हैं। किसी का शिष्य बनने की भी जिनमें योग्यता नहीं है वे गुरु का सम्मान अर्जित कर रहे हैं। वस्तुतः पूर्ण गुरुओं में विषयों की

अथवा सांसारिक पदार्थों की कामना नहीं पाई जाती है। वे अपने भीतर छिपे हुये परमात्मा का साक्षात्कार कर चुके होते हैं। ऐसे गुरु ही माया के आवरण को दूर करने की सामर्थ्य रखते हैं।

अध्यात्म की चढ़ाई पर्वत शिखर की तरह है। जीव नीचे खड़ा है। गुरु की आत्म शक्ति की कोशिश से वह ऊपर चढ़ता है। जिस मनुष्य के समीप पहुँचते ही हृदय का सन्ताप मिट जावे, शान्ति मिले, सात्विक बुद्धि का उदय हो, आनन्द का आभास हो, हृदय से राग-द्वेष की वृत्तियाँ शिथिल होने लगें तो समझ लेना चाहिए कि यह पूर्ण गुरु है। जिस प्रकार शिष्यों को आत्मोन्नति के पथ पर पहुँचाना गुरु का धर्म है उसी प्रकार प्रेम एवं श्रद्धा सहित गुरुओं की सेवा करना भी शिष्यों का धर्म है। गुरु-सेवा से बढ़कर इहलोक एवं परलोक को सफल बनाने वाला साधन और कोई नहीं है। ईश्वर के रूठने पर भी गुरु की शरण में सुरक्षा मिल जाती है परन्तु गुरु के रूठने पर ईश्वर भी सुरक्षा नहीं दे सकता।

विद्युत पावर लेने के लिए किसी न किसी केन्द्र से कनेक्शन करना पड़ता है। गुरु उसी महान् विश्वव्यापी शक्ति का केन्द्र है। जब तक तुम्हारा कनेक्शन मजबूत नहीं होगा उस शक्ति की किरणें तुम्हें प्राप्त नहीं हो सकतीं। मनुष्य स्वयं ही अपने अहं भाव का उन्मूलन करने में असमर्थ है। गुरु द्वारा ही यह अन्तिम कार्य सम्पन्न होता है, अतः उसे ही मुक्तिदाता माना गया है। ऐसे गुरूओं के भी 3 भेद माने गये हैं–

(1) प्रारंभिक गुरु (2) सद्गुरु (3) समर्थ गुरु

जब मनुष्य शान्ति की तलाश में निकलता है किन्तु मार्ग नहीं जानता है। अज्ञान के कारण माया के रेतीले मैदान में ही शान्ति की खोज करता है उस समय जो गुरु उसे वास्तविक राह का पता देता है, संसार से परमार्थ की ओर झुकाकर सद्कर्मों की शिक्षा देता है वह गुरु है। ऐसे गुरु वाणी से ही दूसरों को उपदेश देकर मार्गदर्शन दे सकते हैं। साधना का मार्ग बताकर ऐसे गुरु अलग हो जावेंगे उन्हें इससे प्रयोजन नहीं रहता कि शिष्य सफल होगा अथवा नहीं। ये शिष्य के अन्तर्मन को पलटने में समर्थ नहीं होते।

जब साधक कर्म काण्ड से ऊब जाता है–परन्तु अध्यात्म में ऊपर बढ़ना चाहता है तब उसे सद्गुरु की प्राप्ति होती है–सद्गुरु उपासना के साधन बतलाता है। सद्गुरु का काम मनोमय कोश एवं ज्ञानमय कोश

पार कराकर विज्ञानमय कोश में पहुँचाना है। सद्गुरु पारस, दीपक, मलयागिरिचन्दन एवं भृंङि आदि कई प्रकार के हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त समर्थ गुरु भी होते हैं जो क्षण में अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा बना सकते हैं, ये सभी रास्तों के जानकार होते हैं। ये समर्थ गुरु ईश्वर रूप ही होते हैं। जिसे भगवान की कृपा से ऐसे समर्थ गुरु का दर्शन एवं सेवा का सौभाग्य मिल गया उनके लिए कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं रहता। यहाँ अधिकारी का प्रश्न भी नहीं उठता। ऐसे गुरु में परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन सम्भव है अतः यह कहा जा सकता है कि 'गुरु से परे कोई तत्त्व नहीं है'–**''नास्ति तत्वं गुरोः परम्''**॥

शीर्षक-सत्संगति

''(सत्संगति कथय किम् न करोति पुंसाम्)''

मनुष्य तीन वस्तुओं का बना हुआ है–शरीर, मन और आत्मा। मन शरीर और आत्मा दोनों के बीच में है। हर मनुष्य अपनी उन्नति चाहता है। अवनति और उन्नति का आधार मन है यही मनुष्य को गिराता एवं उठाता है। जिस कार्य के साथ मन पूरा लग जाता है वही कार्य उत्तम हो जाता है, वहीं सफलता प्रदान करता है। अध्यात्म में उन्नति चाहने वालों को भी इसी कारण मन पर अधिकार स्थापित कर उसे एकाग्र बनाने का प्रयास करना पड़ता है। मन को केन्द्रित करने के लिए अभ्यास और सत्संग की आवश्यकता होती है। सत्संग का अर्थ है सत् के साथ रहना, उससे सम्बन्ध स्थापित करना। आत्मा ही सत् है अतः आत्मा परमात्मा के बारे में जानने की इच्छा करना, ज्ञान-चर्चा करना, आत्मा की सहायता से उसके प्रकाश में अपने अन्तःकरण को दृष्टा के रूप में देखना, असत् विचारों, मान्यताओं, धारणाओं एवं दोषों को दूर करना हीं सत्संग का लक्ष्य है। सत्संग ऐसा प्रकाश है जिसमें हमें वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय मिल जाता है और हम अन्धकार में भटकने से बच जाते हैं। सत्संग के प्रभाव से ही व्यक्ति उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो सकता है। सत्संग से ही विवेक का प्रादुर्भाव होता है, उचित, अनुचित का पता लगता है किन्तु यह सत्संग का अवसर भी प्रभु की अकारण कृपा से ही प्राप्त हो पाता है– रामचरितमानस में कहा है–

बिनु सत्संग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥

सत्संग एक ऐसी गंगा है जिसमें गोता लगाने से मनुष्य के सारे संकट कट जाते हैं। अशान्ति व तपन दूर हो जाते हैं। जिसे वास्तविक सत्संग मिलता रहे तो उसे अभ्यास एवं योग-क्रिया की भी आवश्यकता नहीं है। सत्संग से ही स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। सत्संग से व्यवहार एवं परमार्थ दोनों सुधर जाते हैं। सत्संग मनुष्य को सात्विक बना देता है। सत्संग द्वारा मन शीघ्र एकाग्रता प्राप्त कर लेता है एवं ईश्वर भजन के, भक्ति के योग्य हो जाता है। सत्संग एवं गुरूकृपा के बिना भव सागर को पार करना अत्यन्त कठिन है, जिन्हें ये दोनों चीजें नहीं मिलतीं उनकी जीवन-नौका डाँवाडोल ही रहती है।

सत्संग से 'निःसंगता' (Non-Attachement) की स्थिति प्राप्त होती है। निःसंगता से निर्मोहत्व प्राप्त होता है और मोह रहित हो जाने पर ही सत्य का पूरा ज्ञान एवं निश्चय होता है। सत्संग से मनुष्य देवत्व प्राप्त कर सकता है, नर से नारायण बन सकता है, इसकी महिमा अपरम्पार है। सत्संग से धर्म, अर्थ, काम, मोक्षादि चारों, पुरुषार्थ अनायास सध जाते हैं। दुराचारी एवं शठ व्यक्ति भी सत्संग पाकर सज्जन, सदाचारी एवं बुद्धिमान बन जाते हैं। सत्संग द्वारा सरलतापूर्वक स्वभाव में परिवर्तन आ जाता है। दुर्जनों के साथ स्वर्ग में जाने से तो सज्जनों के साथ नरक में जाना अधिक हितकारी है क्योंकि सज्जन पुरुष नरक को भी स्वर्ग एवं दुर्जन पुरूष स्वर्ग को भी नरक बना देते हैं–

सत्संगः परमं तीर्थं सत्संगः परमं पदम्।
तत्मात्सर्वं परित्यज्य सत्संगः सततं कुरू ॥

सत्संग ही पवित्र तीर्थ है, यही परमपद अर्थात् मोक्ष है। अतः मन, कर्म, वचन से नित्य ही सत्संग का सेवन करना चाहिए। विषय-विकार मिटाने के लिए सत्संग रूपी रसायन का ही उपयोग करना चाहिए। वस्तुतः सत्संग का व्यावहारिक अर्थ यही है कि ऐसे लोगों के साथ बैठना, उनकी बातें सुनना जिन्होंने सत् पुरुष (भगवान) को प्राप्त कर लिया है और जो स्वयं सत् रूप बन गये हो।

इस युग में सत्संग के भी बहुत से मण्डल बन गये हैं जहाँ औपचारिक रूप से सत्संग होता है किन्तु पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति, विद्वत्-चर्चा एवं सत्संग में पर्याप्त अन्तर है, सत्संग में वाद-विवाद नहीं,

कुतर्क का अवसर नहीं आत्मा के आलोक में अपनी वृत्तियों की पहचान करना और उन्हें केन्द्रित करना ही सत्संग का परम लक्ष्य है।

समर्पण (समर्पण ही सेवा का सार)

जीवन का प्रारम्भ असीम (अनन्त) से है और उसका अवसान भी असीम (अनन्त) में ही है। जीवन के परम ध्येय आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को असीम से अपना सम्बन्ध स्थापित करना होता है। असीम से सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकता है जब व्यक्ति में उस अनन्त (विराट) के प्रति समर्पण भाव का उदय हो। समर्पण से ही क्षुद्र अहं का विराट में विलीनीकरण होता है। योग शास्त्र में व्यक्ति के 3 प्रकार के शरीर बताये गये हैं।

(1) स्थूल शरीर (2) सूक्ष्म शरीर (3) कारण शरीर (लिंग शरीर)

साधारण मनुष्य स्थूल शरीर को ही अपना सब कुछ समझता है। वह स्थूल शरीर के पालन, पोषण एवं रक्षण में सदैव लगा रहता है किन्तु वह उसमें निहित सूक्ष्म एवं कारण शरीर से अपरिचित रहता है। इस स्थूल शरीर के अन्तःकरण में एक सूक्ष्म शरीर की सत्ता है जिसका क्षेत्र मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार है। यह स्थूल नहीं होता—संकल्प, विकल्प, विचार, इच्छा एवं कल्पनाओं का समुच्चय ही सूक्ष्म देह है। आत्मा इस सूक्ष्म देह से आवृत्त रहती है। इसी सूक्ष्म देह को मानसिक शरीर कहा जाता है। मन की शक्ति इसी शरीर में रहकर अपना कार्य करती है और जीवात्मा को कैद कर लेती है। इसमें फँस जाने पर जीव अपने असली स्वरूप को भूल जाता है और इस शरीर को ही ''मैं'' समझने लगता है। जीव को भुलावे में डालकर मन उसे खूब नाच नचाता है। कभी ऊपर, कभी नीचे ले जाता है, कभी विषयों के कँटीले जंगल में उलझाता है, कभी वहाँ से खींचकर वैराग्य की गद्दी पर सुलाता है। इस खींचतानी से जीव को बड़ी परेशानी होती है। वह तन-मन से प्रयास कर इस बन्धन से छूटने का उपाय खोजता है। निरन्तर अभ्यास करते-करते वह मन को अपने अधिकार में कर लेता है, उसको सूक्ष्म देह से छुटकारा मिल जाता है। किन्तु इस सूक्ष्म देह से परे एक कारण शरीर और है जिसके रहते हुए द्वैत का भाव नष्ट नहीं हो पाता। वैष्णव आचार्य इस स्थिति में ही सन्तुष्ट हो

जाते हैं और द्वैत के आनन्द को छोड़कर अद्वैत की ओर नहीं बढ़ना चाहते। वे समीपत्व का आनन्द लेने में मग्न हो जाते हैं और पूर्ण मुक्ति की ओर अग्रसर नहीं होते–वे इस आनन्द के समक्ष मुक्ति को भी तुच्छ मानते हैं। परन्तु वेदान्त के अनुसार जब तक दृष्टा और दृश्य की, ज्ञाता और ज्ञेय की, ध्याता और ध्येय की पृथक् सत्ता है तब तक देहाध्यास नष्ट नहीं होता। परम सत्ता से भी दूरी बनी रहती है। अस्मिता और ममता का नाश होने पर ही कारण शरीर का अनुभव होता है। विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष का नाम ही कारण शरीर है। यहीं पर बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व एवं अहम् अर्थात् अहंकार रहते हैं। इन्हीं के कारण ''मैं'' हूँ–तू है, यह मेरा है, यह तेरा है, ऐसे भावों के आवरण आत्मा को आच्छादित किये रहते हैं। अतः जब तक कारण शरीर रूपी ये आवरण नहीं हटते तब तक विराट सत्ता में मिलन सम्भव नहीं होता। जहाँ तक नाम और रूप की सत्ता हैं वहाँ तक आनन्द, प्रकाश एवं शब्द का ज्ञान शेष रहता है। वहाँ तक माया का विस्तार है। यही बन्धन है जो अशान्ति का जनक है। कारण शरीर के दोनों आवरण बुद्धि और अहं इतने झीने और गुंथे हुए हैं कि साधना के किसी भी उपाय से इन्हें नहीं हटाया जा सकता। बल, पौरुष, युक्ति, साहस, ज्ञान, विवेक एवं योग-साधन सब यहाँ निष्फल हो जाते हैं। जप, तप, नियम एवं व्रत सभी पीछे छूट जाते हैं, रह जाता है केवल 'आश्रय'। जब जीव सब ओर से निराश एवं निरुपाय होकर अबोध शिशु की तरह उसे पुकारता है, रोता है, बिलखता है, तड़पता है तब वह स्वयं दया करके गुरु के रूप में प्रकट हो सम्मुख आ जाता है। यही समर्पण की अवस्था है। समर्पण के बाद शिष्य गुरु में अथवा भक्त भगवान में मिल जाता है। यही अद्वैत है जीवन का चरम लक्ष्य है। इसकी व्याख्या नहीं हो सकती, यह स्थिति अनिर्वचनीय है।

समर्पण ही पूर्ण मंजिल पर पहुँचाता है, साधना के अन्तिम सोपान को पार कराता है, द्वैत से अद्वैत की ओर बढ़ाता है इसीलिए अध्यात्म एवं साधना मार्ग में समर्पण का सर्वोपरि महत्त्व है। साधना के लिए सहज सिद्धि देने वाला साधन आत्म समर्पण है। भगवत् चरणों में अपने आपको सौंप देना, समस्त शास्त्रों का गुप्त रहस्य एवं समस्त साधनों में अन्तिम साधन है। भगवान कृष्ण ने भी ज्ञान, विज्ञान, भक्ति, कर्म आदि का उपदेश देने के बाद गीता में समर्पण का गुप्त रहस्य अर्जुन को बताया

था। आत्म-समर्पण का अर्थ कर्मों का त्याग कर देना नहीं है अपितु अपने अन्दर कर्म करने वाली प्रभु की शक्ति को पहचानना है। समर्पण में सबसे पहले आत्मा का अर्पण होता है आत्मा के साथ ही अहंकार, मन, बुद्धि, शरीर सभी अर्पित हो जाते हैं। समर्पण के बाद स्पष्ट अनुभव में आता है कि इस शरीर, मन, वाणी से जो कुछ होता है वह भगवान ही करा रहे हैं। अपने कर्तापन का सारा अहंकार मिट जाता है। वह मन बुद्धि इन्द्रियों पर अपना कोई अधिकार नहीं मानता इसीलिए ऐसे समर्पित व्यक्ति का पूर्ण उत्तरदायित्व भगवान अपने ऊपर लेकर उसके योग-क्षेम का वहन करते हैं। वह सदैव स्वयं को प्रभु के लीला क्षेत्र का खिलौना मानता है। उसके सभी कार्य प्रभु-लीला के ही अंग होते हैं। उसकी क्रिया अहंकार प्रेरित न होकर प्रभु-प्रेरित होती है। आत्म-समर्पण होते ही जीव भगवान के सम्मुख हो जाता है। समस्त पाप-पुण्य भस्म हो जाते हैं, वह फिर कभी नीचे नहीं गिरता। समर्पण साधना का पर्यावसान है, परमगति है। समर्पण का अर्थ आत्म-निवेदन है। मनुष्य जब तक अपने कर्तव्य, अपनी सामर्थ्य एवं अपने कर्म पर भरोसा करता है तब तक वह दूसरे का आश्रय नहीं लेता। जब वह सभी कर्म करते थक जाता है, उसका साहस व धैर्य टूट जाता है चारों और निराशा के बादल मँडरा जाते हैं, किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है उस समय उसे प्रभु की शरण में जाने का बोध होता है। वह प्रभु के सामने समर्पित होता है। दया की भिक्षा माँगता है कातर हृदय से विनती करता है, और अहंकार शून्य हो जाता है उसी समय अनुग्रह का द्वार उसके लिए खुल जाता है।

संघे शक्तिः कलौ युगे (संगठन-शक्ति)

संगठन ही शक्ति है। (Unity is Strength) यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि संगठन में ही शक्ति निहित है। संगठित प्रयास से किसी भी उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है। परम शक्ति कण-कण में व्याप्त है। शक्ति के विद्युत्-कण इधर-उधर बिखरे हुए पड़े हैं जिन्हें मानवता का उद्देश्य प्राप्त करने के लिए संगठित करने की आवश्यकता है। महाकवि प्रसाद के अनुसार—

"शक्ति के विद्युत्-कण जो त्रस्त, विकल बिखरे हैं हो निरूपाय।
समन्वय उनका करें समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय॥"

संगठन एवं विघटन के रूप में प्रकृति के ऋतु-चक्र की अविरल प्रक्रिया चल रही है। पंचभूतों का संगठित मिश्रण ही शरीर का रूप धारण कर लेता है और मृत्यु के साथ ही इनका विघटन हो जाता है। किन्तु एक जगह एकत्रित हो जाने का नाम ही संगठन नहीं है। संगठन सदैव उद्देश्यपूर्ण होता है। उद्देश्य की उच्चता ही संगठन को गरिमा प्रदान करती है। संगठन द्वारा महान् लक्ष्य भी प्राप्त किये जा सकते हैं। क्षुद्र स्वार्थ-पूर्ति के लिए भी संगठन बनाये जाते हैं। जिन संगठनों का उद्देश्य व्यापक जन-हित होता है, सर्व सुखाय होता है उन्हें व्यापक समर्थन प्राप्त होता है। संगठन की इसी महान् शक्ति को देखकर व्यक्ति इन संगठनों से जुड़ते हैं और लक्ष्य प्राप्ति क़ी आशा करते हैं। संगठन का उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करना नहीं होता किन्तु जब उसमें स्वार्थी व्यक्ति घुसकर अपना वर्चस्व बढ़ा लेते हैं तो वह संगठन उन लोगों की स्वार्थपूर्ति का साधन मात्र रह जाता है और उसका विघटन होने लगता है।

संगठन का आधार व्यक्तिगत भाव से ऊपर उठकर समष्टिगत् भाव को अपनाना है। संगठन त्याग की प्रखर भावना को जन्म देता है। सर्वहित के लिए अपने व्यक्तिगत सुख का उत्सर्ग करना सिखाता है। संगठन में भिन्न-भिन्न प्रकृति के कई लोग होते हैं परन्तु एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता रखते हुए त्याग, निष्पक्षता एवं निस्पृहता के आधार पर वे-एक जुट होकर संगठन को प्राणवन्त बनाते हैं। दीपक में रूई और घृत दोनों ज्वलनशील पदार्थ हैं किन्तु मिलकर एक दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना नहीं रखते हुए संसार को प्रकाश देने का कार्य करते हैं। इसके विपरीत यदि संगठन में ऐसे व्यक्ति प्रवेश पा जाते हैं जो अपने व्यक्तित्व को संगठन पर हावी रखते हैं तो व्यक्तियों की पारस्परिक टकराहट से संगठन को हानि पहुँचती है। वस्तुतः संगठन तो उन्हीं उदारमना पुरुषों द्वारा पल्लवित एवं पुष्पित हो पाते हैं जो संगठन के लिए अपने व्यक्तित्व तक को सर्वथा विसर्जित कर देते हैं।

संगठन एक नये अस्तित्व को जन्म देता है, गौरव देता है। एक तिनका धूल नहीं हटा सकता, किन्तु कई तिनके मिलकर झाड़ू बनकर

गन्दगी को साफ कर सकते हैं। इसी तरह एक व्यक्ति का सामर्थ्य अल्प होता है। संगठित प्रयास के सामर्थ्य से समाज में व्याप्त, अनीति एवं भ्रष्टाचार को दूर किया जा सकता है।

कृष्ण द्वारा अर्जुन को विराट रूप दिखाने का उद्देश्य एक मात्र यही था कि कृष्ण कोई एक व्यक्ति नहीं अपितु समस्त ब्रह्माण्ड के विविध स्वरूपों का संगठित स्वरूप है। कृष्ण ने स्वयं को समस्त ब्रह्माण्ड में विसर्जित कर दिया है इसीलिए उसके व्यक्तित्व में समस्त ब्रह्माण्ड का संगठित स्वरूप निहित है। संगठन पारस्परिक स्पर्धा को उत्पन्न न कर सौहार्द की भावना को दृढ़ करता है। महिषासुर का दलन करने हेतु प्रादुर्भूत दुर्गा का स्वरूप समस्त देवताओं के तेजांश का समुच्चय है। संगठित दिव्य शक्तियों का नाम ही दुर्गा है। किन्तु संगठन की ये शक्तियाँ किसी विराट व्यक्तित्व में ही समाहित हो सकती हैं।

किन्तु आज देश का दुर्भाग्य है कि उसमें न तो ऐसे विराट व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव हो रहा है जो समस्त संगठित शक्तियों का केन्द्र बनकर राष्ट्र की अवनति को रोके और उसे जीवन के उच्च आदर्शों एवं मूल्यों की ओर प्रेरित करे और न कोई ऐसा संगठन है जो देश को भ्रष्टाचार के जाल से मुक्त कर सके। प्रत्येक संगठन में स्वार्थी तत्त्वों के प्रवेश से उनके आदर्श धूमिल हो चुके हैं। संगठन सत्ता प्राप्ति एवं महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के साधन बन चुके हैं। संगठन के लिए व्यक्तिगत हितों को तिलांजलि देने का साहस किसी में नहीं रह गया है।

प्रत्येक संगठन अपने विधान में उच्च आदर्शों का सन्निवेश एवं उल्लेख करता है किन्तु व्यावहारिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ से जुड़ा रहता है। कुछ लोग भ्रष्टाचार में लिप्त हैं, कुछ उनको प्रोत्साहन दे रहे हैं, कुछ उनका संरक्षण कर रहे हैं। कार्पण्य दोष से ग्रस्त व्यक्ति अन्याय का प्रतिरोध नहीं कर पाता।

अतः आवश्यकता है आज ऐसे उज्ज्वल चरित्र वाले उदारमना, स्वार्थ रहित व्यक्तियों की जो संगठित होकर संगठन से ही पनपने वाली दुष्प्रवृत्तियों का डटकर मुकाबला करें एवं जन-जन में पुनः आदर्श के प्रति आस्था स्थापित करें।

भ्रातृत्व

भ्रातृत्व शब्द का साधारण सा अर्थ है–भाईचारा। इस शब्द की व्यंजना गूढ़ एवं व्यापक है। यह शब्द समस्त-ब्रह्माण्ड से अपनत्व स्थापित करने की कुंजी है। प्रायः एक ही माता-पिता की सन्तान भाई-भाई कहलाते हैं किन्तु यदि दार्शनिक दृष्टि से विचार करें तो सम्पूर्ण प्राणी एक ही परमपिता की सन्तान हैं अतः नैसर्गिक रूप से सभी एक दूसरे के भाई हैं। एक भाई का दूसरे भाई के प्रति पारस्परिक सद्भाव एवं सहयोग ही भ्रातृत्व है। भ्रातृत्व भाव उदारता का सूचक है। प्रकृति द्वारा यह भ्रातृत्व-भाव प्रत्येक मनुष्य को उपहार के रूप में प्राप्त हुआ है। मनुष्य अपने अज्ञान एवं स्वार्थ के कारण भ्रातृत्व की परिधि को संकुचित कर लेता है। प्रायः भ्रातृत्व की भावना एक परिवार तक ही सीमित होकर रह जाती है। कभी-कभी प्रबल स्वार्थ के कारण एक ही माता-पिता की सन्तानों में भी भ्रातृ भाव का अभाव हो जाता है। ईर्ष्या, स्वार्थ एवं प्रतिहिंसा के वशीभूत होकर एक भाई दूसरे भाई का शत्रु हो जाता है। मानव जाति के इतिहास में भ्रातृ प्रेम के अनूठे उदाहरणों के साथ पारस्परिक शत्रुता के उदाहरण भी प्रचुर मात्रा में मिलेंगे।

इस दृश्यमान प्रकृति के साधनों पर किसी व्यक्ति विशेष का एकाधिकार नहीं है। सभी मानव प्रकृति के उपभोक्ता हैं एवं इन साधनों के उपयोग करने के अधिकारी हैं। स्वार्थी मनुष्य अधिक से अधिक साधनों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर दूसरों को उनके नैसर्गिक अधिकार से वंचित करता है। उदारमना व्यक्ति सभी के अधिकारों का समर्थन करते हैं, निर्बल मानव के स्वत्व का संरक्षण करते हैं, अपने से बड़ों का आदर एवं छोटों को स्नेह प्रदान कर समाज में सामंजस्य उत्पन्न करते हैं। मानव हित के लिए अपने क्षुद्र स्वार्थों का परित्याग करना ही वास्तविक भ्रातृत्व है। **''वसुधैव कुटुम्बकम्''** का भारतीय ऋषियों का उद्घोष इसी सत्य की पुष्टि करता है। भ्रातृत्व का भाव ही मनुष्य को व्यक्तिगत अहं से छुड़ाकर समष्टि के साथ जोड़ता है। भ्रातृत्व के अभाव में सामाजिक जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भ्रातृत्व की भावना को पल्लवित करते हुए हम दूसरों के साथ मिलजुल कर रह सकते हैं। सुख-दुःख में एक दूसरे का हाथ बँटा सकते हैं, अनेकता में एकता

का अनुसन्धान कर सकते हैं, एक दूसरे की उन्नति में योगदान दे सकते हैं। एक सच्चा भाई अपने अन्य भाई पर कीचड़ नहीं उछालता, उसकी आलोचना नहीं करता, उदारचित्त एवं स्नेह से उसके दोषों को दूर करने का प्रयास करता है। राम, भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न जैसे भाइयों के उदाहरण हमें भाइयों के प्रति त्याग की प्रेरणा देते हैं। निषाद गुह, सुग्रीव, विभीषण एवं निम्न-वर्गीय माने जाने वाले पात्रों के प्रति भी मर्यादा पुरुषोत्तम राम का उदार सद्व्यवहार यह दर्शाता है कि उनके भ्रातृत्व की परिधि कितनी व्यापक थी। इसके विपरीत महाभारत में वर्णित कौरवों एवं पाण्डवों का संघर्ष तथा मुगलकाल में सत्ता के लिए भाइयों का पारस्परिक संघर्ष यह दर्शाता है कि व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने भाइयों के प्रति कितना निर्मम, क्रूर, कृतघ्न एवं निष्ठुर हो सकता है।

भारतवर्ष का अतीत स्वर्णिम रहा है। यहाँ के असंख्य नर-रत्नों ने अपने क्षुद्र अहं एवं स्वार्थों को तिलांजलि देकर प्राणी मात्र का हित सम्पादन किया है, भ्रातृत्व की आधार शिला पर ऐसी महान् संस्कृति का निर्माण किया है, जिसमें आत्मचेतना का व्यापक विस्तार है, शुभ, सत् एवं उचित्त का संरक्षण है। भारत ने अपने बन्धुत्व की परिधि में सम्पूर्ण विश्व को समाहित कर आपस में मिलजुल कर रहने की जीवन शैली का निर्माण किया है। भारत ने मैत्री, करुणा, मुदिता के अमूल्य भावों का उपहार देकर मानव जीवन को पूर्ण बनाने का भरसक प्रयास किया है। रंग, वर्ण, भाषा, जाति, लिंग एवं धर्म के आवरण को चीरकर भारत ने सभी मनुष्यों में दिव्य चेतना के प्रकाश का अनुभव किया है। हमें भ्रातृत्व के इसी दिव्य अमृत से अपने देश को ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व को सींचना है।

आज भारत में व्यक्ति स्वार्थ परायण होता जा रहा है, अलगाववादी प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं, भ्रातृत्व भावना का लोप होता जा रहा है। आज स्वार्थान्ध व्यक्ति जाति, भाषा, रंग एवं धर्म के पारस्परिक सौहार्द को नष्ट कर रहे हैं। छलछन्द की दूषित राजनीति भ्रातृत्व की उदार भावना के सुकुमार पंखों को काट रही हैं। भाई से भाई को लड़ाने की विदेशियों की चाल सफल होती जा रही है एवं आतंकवाद फैलता जा रहा है। निर्दोष व्यक्तियों के खून की होली खेली जा रही है।

आज आवश्यकता है ऐसे नरपुंगवों की जो अपने स्वार्थ की बलि देकर सम्पूर्ण समाज में समरसता उत्पन्न करें, भ्रातृत्व भाव को सार्थक

करें।

"लोहे के पेड़ हरे होंगे, तू गीत प्रेम के गाता चल।
नम होगी यह मिट्टी जरूर, करुणा का जल बरसाता चल॥"

वेदों की अपौरुषेयता

"अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं यद्क्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥"

(वाक्य प्रदीप)

महर्षि वेद व्यास के अनुसार वेद शब्द रूढ़ एवं योगारूढ़ भेद से दो प्रकार के अर्थ देता है। रूढ़ अर्थ में वेद मंत्र, संहिता, ब्राह्मण सहित चारों वेदों तक ही सीमित है। वेद के इस अंश का ज्ञान श्रुति परम्परा से सुरक्षित रहता है अतः इसे श्रुति भी कहते हैं। ऋषियों के माध्यम से यह ज्ञान स्फुरित हुआ है। इसका निर्गमन होने से इसे निगम भी कहा जाता है। योगारूढ़ अर्थ में वेद का व्यापक अर्थ ग्रहण किया जाता है। इस अर्थ में इसका तात्पर्य उस स्वानुभूत ज्ञान मात्र से है जो समय-समय पर अहंकार रहित अवस्था में प्राप्त होता रहा है और प्राप्त होता रहेगा। परम विशुद्ध ज्ञान का साक्षात्कार तभी सम्भव है जब व्यक्ति की चेतना दृष्टा रूप में स्थित हो जाती है, अज्ञान मूलक व्यक्तित्व के तिरोहित होने पर समस्त तर्कों की परिसमाप्ति हो जाती है एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है जो अपने द्वारा अनुभूत ज्ञान को अन्य जिज्ञासुओं को अनुभव कराने की माध्यम बन जाती है।

वेद शब्द का रूढ़ अर्थ ज्ञान के ज्ञात एवं प्रकट अंश तक ही सीमित है किन्तु योगारूढ़ अर्थ ज्ञान के प्रकट अंश के साथ ही ज्ञान के अज्ञात अंश को अपने में समाहित करता है। ज्ञान का अज्ञात अंश उसके ज्ञात अंश की तुलना में कई गुना अधिक है और उसकी प्रत्येक काल में समय-समय पर प्रकट होते रहने की सम्भावना बनी रहती है। वेदों में नेति-नेति का उद्घोष इसी तथ्य को ध्वनित कर रहा है कि ज्ञान असीमित एवं अनन्त है। वेद शब्द के दोनों अर्थों को समझ लेने पर वेदों के बारे में विवाद अथवा भ्रान्ति की सम्भावना नहीं रहती। एक अर्थ को ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही खण्डन-मण्डन अथवा आलोचना-प्रत्यालोचना का

कारण बनती है। जीवन के अनन्त विस्तार के अनुरूप ही मनुष्यों के विभिन्न स्वभाव, बुद्धि, अवस्था, स्तर एवं प्रवृत्ति के अनुसार ही वेद समग्र मानव जीवन को अभ्युदय की ओर अग्रसर कराता हुआ, उसे निःश्रेयस तक पहुँचाता है।

सायणाचार्य के अनुसार **''वेद्यन्ते, ज्ञाप्यन्ते, धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टयोपायाः अनेन सः वेदः।''**

अर्थात् जिस ज्ञान द्वारा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष आदि चारों पुरुषार्थों की सिद्धि हो वही वेद है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भी जो उपाय नहीं जाने जा सकते, उन्हें वेद बता देता है।

''प्रत्यक्षेणानुमित्या या वस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता''।

इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट परिहार के अलौकिक उपाय का ज्ञान वेद से ही सम्भव है। धर्म का निगूढ़ रहस्य भी वेद से ही प्रकाशित होता है। वेदानुशीलन से ही तीनों कालों में स्थित किसी भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। वेद का ज्ञान ही प्रकृति एवं परमात्मा के स्वरूप का, उनके पारस्परिक सम्बन्ध का रहस्योद्घाटन करता है और विभिन्न विचारधाराओं से परिचय कराता हुआ तत्त्वज्ञान की ओर उन्मुख करता है।

वेदान्त, सांख्य, योग, मीमांसा, न्याय, एवं वैशेषिक ये षट् दर्शन आस्तिक दर्शन इसीलिए कहे जाते हैं क्योंकि ये वेद को प्रमाण मानते हैं। **''नास्तिको वेद निन्दकः''** के अनुसार जैन, बौद्ध एवं चार्वाक् नास्तिक दर्शन कहे जाते हैं क्योंकि ये वेद को प्रमाण नहीं मानते। यदि वेद के योगारूढ़ अर्थ को स्वीकार कर लिया जावे तो फिर कोई भी दर्शन नास्तिक सिद्ध नहीं होता क्योंकि जैन एवं बौद्ध दर्शन भी अनुभवजन्य स्वानुभूत ज्ञान का तिरस्कार नहीं करते और चार्वाक दर्शन भी अनुभवजन्य ज्ञान को स्वीकार कर लेता है यदि वह प्रत्यक्ष रूप से इन्द्रियों के माध्यम से अनुभव करने योग्य हो।

मोक्ष मूलक प्रवृत्ति अनुभव जन्य ज्ञान को ही महत्त्व देती है किन्तु धर्म, अर्थ एवं काम जैसे पुरुषार्थों की भी मानव जीवन में अवहेलना नहीं की जा सकती। वस्तुतः वेद शब्द ज्ञानार्थक विद् धातु से निष्पन्न होने के कारण ज्ञान के ज्ञात एवं अज्ञात दोनों अंशों के अर्थ स्वयं में निहित करता है किन्तु स्थूल बुद्धि वेद का अर्थ ज्ञान के ज्ञात अंश को ही ग्रहण कर

रूढ़ अर्थ ग्रहण करती है, अतः खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया भी स्वाभाविक है।

वेदों की अपार महिमा को देखते हुए यह जिज्ञासा उत्पन्न होना भी स्वाभाविक है कि–

1. वेद किसी व्यक्ति विशेष की रचना है अथवा परमात्मा की कृति?

2. यदि यह व्यक्ति एवं ईश्वर की रचना नहीं है तो क्या स्वयं भू है? (स्वतः स्फूर्त ज्ञान सत्ता है) जिसका कोई रचयिता नहीं ।

3. यदि यह स्वयं स्फूर्त सत्ता है तो क्या कर्ता के अभाव में किसी कृति का होना सम्भव है ?

4. यदि यह व्यक्ति अथवा ईश्वर की रचना है तो क्या इसे पौरुषेय कहा जा सकता है? किन्तु यदि वह स्वयं स्फूर्त सत्ता है तो क्या इसे अपौरुषेय कहना ही उपयुक्त है ? वेद पौरुषेय है अथवा अपौरुषेय ? यदि अपौरुषेय है तो किस प्रकार? इस वार्ता के माध्यम से वेदों की अपौरुषेयता दिखलाते हुए उक्त जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है। सर्वप्रथम वेदों को पौरुषेय मानने वाले व्यक्ति अथवा ईश्वर की कृति मानने वाले मतों का यथार्थ परीक्षण आवश्यक है।

(1) न्याय दर्शन वेद को पौरुषेय अर्थात् ईश्वर कृत मानता है, इनके अनुसार पुरुष का अर्थ ईश्वर है जो सर्वज्ञ है। मनुष्य अल्पज्ञ है अतः उसमें वेद जैसे अनुपम अक्षय ज्ञान भण्डार की रचना का सामर्थ्य नहीं है। सर्वज्ञ ईश्वर ही ऐसी रचना कर सकता है जिसमें सम्पूर्ण ज्ञान का सांगोपांग स्वरूप विद्यमान हो।

न्याय दर्शन का यह मत स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि वेदों में कहीं पर भी कर्ता के रूप में ईश्वर का उल्लेख नहीं मिलता। फिर ईश्वर तो पूर्णकाम है, ईश्वर में किसी प्रयोजन विशेष की कल्पना करना भी समीचीन नहीं है। कतिपय दार्शनिकों ने वेद को परमात्मा की वाणी एवं उसके उच्छ्वास के रूप में बताया है जो कि कृति न मानकर यह ध्वनित करते हैं कि वेद परमात्मा के अंग हैं, विग्रह हैं, स्वरूप हैं। परमात्मा अपने ही स्वरूप का कर्ता नहीं हो सकता ।

(2) जैन, बौद्ध एवं चार्वाक दर्शन वेदों की प्रमाणिकता में विश्वास नहीं करते, उनके अनुसार पुरुष का अर्थ व्यक्ति है एवं वेद मनुष्य कृत हैं। आधुनिक भारतीय एवं पाश्चात्य विचारक भी यही मानते हैं कि वेद

विद्वान् महर्षियों की रचना है क्योंकि वेदों में कहीं-कहीं पर ऋषियों के नामों का उल्लेख मिलता है। यह मत भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि वेदों में ही ऋषियों को मन्त्र दृष्टारः कहा गया है। वे मन्त्रों के दृष्टा हैं, कर्ता नहीं। व्यक्तित्व का पूर्णतः विसर्जन होने के बाद ही ऋषि की दृष्टा रूप में अवस्थिति होती है। मनुष्य में जब तक अहंकार मूलक व्यक्तित्व रहता है तब तक उसमें आत्म-विज्ञापन की प्रवृत्ति बनी रहती है। फिर मनुष्य कितना ही विद्वान एवं बुद्धिमान क्यों न हो उसके ज्ञान में भ्रम एवं प्रमाद की सम्भावना अवश्य रहती है। वेद का ज्ञान निर्भ्रान्त है एवं समस्त भ्रांतियों का निराकरण करने वाला है अतः वेद व्यक्ति की रचना नहीं है। अतः इन्हें पौरुषेय नहीं कहा जा सकता।

वेदों की अपौरुषेयता को समझने के लिए कतिपय उदाहरण दृष्टव्य हैं—

(1) ऋग्वेद में **'वाचा विरूप नित्यया'** कहकर वेद वाणी को अनादि, नित्य एवं शाश्वत बताया गया है।

(2) **''अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। नित्याः वेदाः समस्ताश्च शाश्वताः विष्णु बुद्धिगाः॥''** के अनुसार वाणी को स्वयं भू एवं वेदों को नित्य एवं चिरन्तन बताया गया है।

(3) **''वेदो नारायणः साक्षात्''** कहकर वेद को परब्रह्म नारायण का शब्दमय विग्रह बताया गया है।

(4) मीमांसा दर्शन के अनुसार शब्द नित्य हैं, उनका शब्द नित्यतावाद का सिद्धान्त वेदों को अपौरुषेय सिद्ध करता है। शब्द की सत्ता उच्चारण के अभाव में भी बनी रहती है। ध्वनि अवश्य अनित्य है क्योंकि इसका प्रादुर्भाव उच्चारण काल में ही होता है।

(5) महर्षि जैमिनि ने **''उक्तं तु शब्द पूर्वत्वम्''** सूत्र की रचना कर यह सिद्ध किया है कि मनुष्य के अस्तित्व से पूर्व भी शब्द की नित्य सत्ता विद्यमान रही है। शब्द ब्रह्म है। सृष्टि की उत्पत्ति शब्द ब्रह्म से हुई है।

(6) महर्षि पाणिनि ने पौरुषेय के भेद से वाक्यों के दो प्रकार बताये हैं। व्यक्ति द्वारा बनाये गये वाक्य पौरुषेय एवं स्वतःस्फूर्त वाक्य अपौरुषेय माने जाते हैं। वेदों के विधि वाक्य भी स्वयं स्फूर्त हैं, अतः अपौरुषेय हैं।

(7) मनुष्य कृत रचना काल से प्रभावित होती है, काल कवलित भी हो जाती है, किन्तु नित्य शब्द सत्ता पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

समय के सुदीर्घ अन्तराल में वेदों में कहीं पर भी पाठान्तर नहीं हुआ है और न कहीं मन्त्रों अथवा ऋचाओं की एक भी मात्रा में परिवर्तन या हेर फेर हुआ है और न वेद कभी काल कवलित हो सके हैं। यह तथ्य इंगित करता है कि वेद नित्य है, अपौरुषेय हैं।

सर्गारम्भ में वेदों का स्मरण करने पर उनके प्राकट्य एवं युगान्त में अन्तर्हित होने का उल्लेख अवश्य ही पुराणों में मिलता है। सर्गारम्भ में भगवान नारायण अपने ही ज्ञानमय स्वरूप वेद का स्मरण कर उसका ज्ञान ब्रह्मा को प्रदान कर उन्हें सृष्टि रचना कार्य में प्रवृत्त करते हैं।

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यों वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै"। इससे स्पष्ट होता है कि सृष्टि रचना के विज्ञान के सभी रहस्य वेदों में सूत्र रूप में निहित है।

युगान्त में ऋषिगण अपनी साधना एवं तप के बल पर पुनः अन्तर्हित हुए वेदों का साक्षात्कार करते हैं।

"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः लेभिरे तपसा पूर्वं मनसा क्षीण कल्मशाः ॥"

तप से चित्त शुद्धि होने के साथ ही अहंकार का विसर्जन होता है और परमात्मा का ज्ञानमय स्वरूप ऋषियों की चेतना में उतरता है। अपनी तप की क्षमता के अनुसार ही ऋषियों को वेद के भिन्न-भिन्न अंशों का साक्षात्कार होता है। यह परावाणी है। यह परावाणी बैखरी, मध्यमा एवं पश्यन्ती की तरह अनित्य न होकर नित्य है। जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्था का अतिक्रमण करने पर इस वेदवाणी का तुरीया अवस्था में, समाधि में साक्षात्कार होता है। इसमें ध्याता एवं ध्येय का द्वैत नहीं रहता। यही अनहद नाद हैं, ऊँ की, प्रणव की गूँज है, परमात्मा का स्वरूप है जिसे चेतना के उच्चतम स्तर पर आरूढ़ होकर, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि के पार जाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। इसी नाद ब्रह्म से शब्द ब्रह्म (परा वाक्) स्फुरित है, यही वेद है। मैक्समूलर के अनुसार वेद परमात्मा का मधुरतम दिव्य संगीत है। ऋषियों की स्थिति उस बाँसुरी की तरह है, जिसके माध्यम से यह दिव्य संगीत वेद के रूप में स्फुरित हुआ है। अहंकार के अभाव में, व्यक्तित्व एवं कृतित्व तिरोहित हो जाता है। बाँसुरी स्वर तथा संगीत की रचना नहीं करती, यह तो शब्द की, गीत की संवाहिका मात्र है। अतः वेद का ज्ञान चाहे ऋषियों के माध्यम से ही व्यक्त

क्यों न हुआ हो, तथापि अपौरुषेय ही है। यह ज्ञान सतत गतिमान है, डायनेमिक है, स्टेटिक नहीं। यह अनन्त है, इसमें इति का, समाप्ति का होना सम्भव नहीं, यह अनन्त संहिताओं में भी पूरा होने वाला नहीं है। वेदों में प्रकट ज्ञान इसी परम विशुद्ध ज्ञान का अंश मात्र है, प्रत्येक दर्शन एवं धर्म के मूल में इसी परम ज्ञान का उद्घोष है। वेद मन्त्रों को आजीविका का साधन बनाने से यद्यपि मन्त्र प्रचलित अवश्य रह पाये हैं तथापि अर्थ ग्रहण के अभाव में वेद के परम ज्ञान का भण्डार छिपा ही रह गया है। वेद के मन्त्र प्रकृति के आवरण में निहित निरावयव, रहस्यमयी दिव्य सत्ता का संकेत दे रहे हैं। इसके सूत्र सृष्टि-विज्ञान का रहस्य खोल रहे हैं, **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** का परिचय करा रहे हैं। अतः वेद का स्वरूप, उसकी महिमा एवं उसकी प्रवृत्ति स्पष्टतः उसकी अपौरुषेयता का ही परिचय दे रही है। वेद के रूप में परमात्मा ने ही स्वयं को प्रकट किया है। वेद शब्द ब्रह्म का मूर्तिमान स्वरूप है, अपौरुषेय है।

शठे शाठ्यं समाचरेत्

नीति शास्त्र की यह प्रसिद्ध सूक्ति है जिसका आशय है जैसे के साथ तैसा, दुष्ट के साथ दुष्टता का, धूर्त के साथ धूर्तता का, कपटी के साथ कपट का, निर्मम के साथ निर्ममता का बर्ताव करना चाहिए। अंग्रेजी में इसी आशय का एक कथन प्रसिद्ध है–

"T I T FOR TAT IS NO BAD"

संसार में मुख्य रूप से सज्जन एवं दुर्जन प्रवृत्ति वाले दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। सज्जन प्रवृत्ति वाले स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरों का उपकार करते हैं किन्तु दुर्जन प्रवृत्ति वाले व्यक्ति परम स्वार्थ परायण होते हैं और अपने सुख के लिए ही नहीं किन्तु अपने स्वभाव के कारण अकारण ही दूसरों को कष्ट पहुँचा कर परम सुख का अनुभव करते हैं। दुर्जन व्यक्ति दूसरों की उन्नति देखकर ईर्ष्या करते हैं, छल-प्रपंच एवं षड्यंत्र रचकर सज्जनों को कष्ट पहुँचाते हैं। दुर्जन व्यक्ति ऊपर से विनम्रता प्रदर्शित करते हुए भी वास्तव में विनम्र नहीं होते, उनकी बाह्य शिष्टता भी लोगों को अपने जाल में फँसाने का एक साधन मात्र होती है। दुर्जन व्यक्तियों के कुचक्रों के कारण ही समाज में पारस्परिक विद्वेष,

वैमनस्य एवं घृणा के भाव फैलते हैं अतः समाज एवं राष्ट्र की उन्नति के लिए शास्त्रकारों ने इनको नियमित एवं दमन करने के लिए राज्य को निर्देश दिये हैं।

जब शासन में दुष्टों का दमन करने की शक्ति होती है तब सर्वत्र सुख एवं शान्ति तथा एकता के दर्शन होते हैं, इसी को सुशासन कहा जाता है। लोकतंत्र में धूर्त व्यक्ति अवसर का लाभ उठाकर राज्य का संरक्षण प्राप्त कर लेते हैं अथवा अपने छल-बल से सत्ता भी प्राप्त कर लेते हैं। दुर्जन व्यक्ति सदैव अपने ही हित साधन में लगे रहते हैं। ये सभी को अपने आतंक से प्रताड़ित करते हैं, न्याय के प्रतिकूल चलते हैं, एवं सामान्य व्यक्तियों का शोषण करते हैं। दुर्जन व्यक्तियों का अभ्युदय समाज की उन्नति के लिए दुःखदायी है। इसीलिए नीति शास्त्र यह व्यवस्था देता है कि ऐसे दुर्जन व्यक्तियों का निग्रह छल-कपट अथवा अनुचित साधन अपनाकर भी करने में भी कोई बुराई नहीं है। महाभारत में भी यथायोग्य व्यवहार करने का स्पष्ट आदेश दिया गया है–

''यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य, तस्मिन् तथा वर्तितव्यं सः धर्म ॥''

अर्थात् जो जिस योग्य है, उसके साथ उसी के जैसा व्यवहार करना धर्म है। महाभारत में विष देने वाले, हत्या करने वाले, भूमि हड़पने वाले, अपनी स्त्री का हरण करने वाले, धनहरण करने वाले, एवं अपने स्वत्व को हरण करने वाले को आततायी बताया गया है और कहा है कि इनके साथ प्रतिकार में अनुचित बर्ताव करने में कोई अधर्म नहीं है।

यद्यपि इस प्रकार के दुर्जनों एवं आततायियों को दण्ड देने का कर्तव्य राज्य का है किन्तु यदि शासन ही दुष्टों का हो तो राज्य में प्रजा के दुःख के प्रति संवेदना नहीं होती। ऐसा शासन दुःशासन होता है। अतः यदि राज्य इस प्रकार के दुर्जनों को दण्ड देने में शिथिलता अथवा उपेक्षा बतलाता है तो भी अपने धन, जन और आत्मरक्षा के लिए आततायियों को दण्ड देना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक अधिकार है।

विष्णु को सभी लोकों का पालनकर्ता कहा जाता है। स्वयं श्री हरि भी यथायोग्य व्यवहार ही करते हैं।

सन्त कबीर के शब्दों में–'कहत कबीर सुनो भई साधो हरि जैसे को तैसा है' क्षत्रियों के मदोन्मत्त होकर आततायी बन जाने पर परशुराम द्वारा स्वयं शस्त्र उठाकर उनका पराभव करना भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है।

महाकवि कालिदास, भास एवं हर्ष ने भी दुर्जनों के साथ सज्जनता बताने का निषेध किया है। दुर्जन व्यक्ति कभी अपना दुष्ट स्वभाव नहीं छोड़ता। नीतिकार रहीम ने ''राखो मेलि कपूर में हींग न होइ सुगन्ध'' कहकर दुष्ट स्वभाव पर प्रकाश डाला है।

महाकवि सूर ने—सूरदास खल कारी कामरी चढ़े न दूजो रंग' कहकर दुष्ट के स्वभाव को अपरिवर्तनीय बताया है।

महाकवि भारवि ने—**''व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायायिशु ये न मायिनः''** कहकर स्पष्ट किया है मायावी पुरुषों के साथ छल-कपट का बर्ताव करते हुए ही उन्हें पराजित किया जा सकता है। महाकवि माघ ने तो स्पष्ट कहा है कि दुर्जनों का समूल उच्छेदन किये बिना सत्पुरुषों की कीर्ति का विस्तार नहीं होता, समाज में सुख-शान्ति नहीं होती। भगवान विष्णु ने समुद्र-मंथन के समय मोहिनी रूप धारण कर छल-बल से असुरों को अमृत से वंचित कर देवताओं को सुधा पान कराया था। यह भी इसी तथ्य को इंगित करता है कि दुष्टों का निग्रह युक्ति तथा छल-बल से ही सम्भव है।

लोकानुभव में भी देखा जाता है कि प्रायः काँटे से काँटा निकाला जाता है। **''विषस्य विषमौषधम्''** विष का उपचार विष से ही होता है, इस सिद्धान्त को सभी मानते हैं। महामति चाणक्य, छत्रपति शिवाजी आदि अनेक महापुरुषों ने इसी नीति का अनुसरण कर महान् आदर्शों को स्थापित किया था।

भगवान कृष्ण ने भी अपने अवतार काल में अपनी समस्त लीलाओं में इसी सिद्धान्त को क्रियान्वित कर दिखलाया था।

यद्यपि महात्मा गाँधी, बुद्ध, महावीर आदि महापुरुषों ने अपने सन्त स्वभाव के अनुरूप दुष्टों के साथ भी उचित्त व्यवहार कर उनका स्वभाव परिवर्तन कराने की बात कही है परन्तु दुष्ट का स्वभाव आसानी से नहीं बदलता।

नीतिकार के अनुभव में **''पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्''** है सर्प एवं दुष्ट में से नीतिकार ने सर्प को श्रेष्ठ बतलाया है।

''दुर्जन च सर्पश्च वरं सर्पो न दुर्जनः''

दुर्जन के प्रति सद्व्यवहार करना मानव जीवन का परम आदर्श हो सकता है किन्तु समाज एवं राष्ट्र के सन्दर्भ में इसकी व्यावहारिकता

संदिग्ध है। ''शठे शाठ्यं समाचरेत्'' की नीति से ही आधुनिक समय में बढ़ती हुई भ्रष्टाचार की दावाग्नि का शमन किया जा सकता है।

पुष्टि मार्ग से आध्यात्मिक लघु वार्ता

श्री दामोदर दास हरसानी की वार्ता

''नमामि हृदये शेषे लीला क्षीराब्धि शायिनम्।
लक्ष्मी सहस्र लीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम् ॥''

पुष्टिमार्ग कृपामार्ग है, भगवद् अनुग्रह का मार्ग है। प्रभु के सामान्य अनुग्रह से धर्म, अर्थ, काम, मोक्षादि पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति अवश्य होती है किन्तु भगवद्-प्राप्ति तो विशेष अनुग्रह से ही होती है। विशेष अनुग्रह प्राप्त करने में भगवद् परायण गुरु की विशेष कृपा अपेक्षित है। पुष्टि मार्ग एवं शुद्धाद्वैत के प्रवर्तक महाप्रभु श्रीमद् वल्लभाचार्य ने दैवी जीवों के उद्धार के लिए जिस शरणागति, सेवा एवं समर्पण मार्ग को प्रशस्त किया है उसमें गुरु के उपदेश के अनुसार की गई भगवद्-सेवा को ही सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है।

पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप प्रत्यक्ष करने के लिए वार्ता साहित्य परम उपादेय है। इन वार्ताओं में 84 वैष्णवन की वार्ता, 252 वैष्णवन की वार्ता, निज वार्ता, श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता, श्री आचार्य जी की प्राकट्य वार्ता एवं भाव सिन्धु आदि वार्ता-ग्रन्थ प्रमुख हैं जिनमें परम भगवदीय वैष्णवों के आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित प्रसंगों, चरित्रों एवं घटनाओं के साथ ही पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों को प्रकट किया गया है। इन वार्ताओं में पुष्टिमार्ग के धार्मिक सिद्धान्त एवं उपदेश मूर्तिमन्त हो उठे हैं। दैवी जीवों का उनके भगवत्-स्वरूप एवं भगवान के साथ उनके सम्बन्ध का ज्ञान कराना ही इन वार्ताओं का मुख्य उद्देश्य है।

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्ग के सभी लीला-रहस्यों, सिद्धान्तों एवं भक्ति के ज्ञानात्मक स्वरूप को सर्वप्रथम अपने अनन्य शिष्य एवं सेवक श्री दामोदर दास हरसानी को मौखिक वार्ता के माध्यम से सुनाकर उनके हृदय में स्थापित किया था। श्री दामोदर दास हरसानी

ने ही महाप्रभु से सर्वप्रथम दीक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त किया था। गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी ने भी पुष्टि मार्ग के रहस्यों एवं सिद्धान्तों को अपने पूज्य पिता-प्रवर महाप्रभु जी के अनन्य सेवक एवं शिष्य परम भगवदीय श्री दामोदर दास हरसानी से ही प्राप्त किया था अतः इस दृष्टि से पुष्टिमार्ग के गुरु परायण शिष्यों में श्री दामोदर दास हरसानी का स्थान ही अन्यतम एवं सर्वोपरि है।

श्री दामोदर दास हरसानी उन भगवदीयों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं जो भगवान से भी गुरु को अधिक महत्त्व देते हैं। श्री दामोदर दास हरसानी के जीवन प्रसंगों से गुरु में ईश्वर भाव रखने की प्रेरणा प्राप्त होती है। महाप्रभु का इन पर अत्यधिक स्नेह था। महाप्रभु स्नेह से इनको दमला कहकर सम्बोधित करते थे। महाप्रभु का सर्वाधिक सान्निध्य इन्हें प्राप्त हुआ। महाप्रभु द्वारा की गई पृथ्वी-परिक्रमा में भी हरसानी उनके साथ थे। महाप्रभु ने तो एक बार इनसे बात करते हुए यह भी जता दिया था कि उन्होंने पुष्टिमार्ग दामोदर दास के लिए ही प्रकट किया है।

हरसानी के साथ एक बार महाप्रभु श्रीगोकुल पधारे थे तो उस समय गोविन्द घाट पर विश्राम किया था। उन्हीं दिनों महाप्रभु करुणावश इस बात को लेकर चिन्तित रहते थे कि जीवों का उद्धार कैसे किया जावे। वहीं श्रीनाथ जी ने अर्द्धरात्रि में महाप्रभु जी को प्रत्यक्ष दर्शन देकर आज्ञा दी कि वे दैवी जीवों का शरणागति के माध्यम से प्रभु से यदि सम्बन्ध करावेंगे तो प्रभु उसे अवश्य स्वीकार करेंगे। जिन्हें महाप्रभु नाम-मन्त्र देंगे उन जीवों के समस्त दोष दूर हो जावेंगे। हरसानी भी उस समय महाप्रभु के साथ थे और उन्होंने भी भगवद् आज्ञा सुनी थी। महाप्रभु के पूछने पर हरसानी ने बताया कि उन्होंने ठाकुर जी की आज्ञा सुनी अवश्य थी किन्तु समझी नहीं। दूसरे दिन प्रातःकाल महाप्रभु ने ठाकुर जी के मिश्री भोग एवं पवित्र धारणा करा सर्वप्रथम हरसानी को ही दीक्षा देकर उनका ब्रह्म-सम्बन्ध कराया और मिश्री का भोग लगा पवित्र धारण कराया। महाप्रभु यह भी जानते थे कि दामोदर दास के भगवद्-आज्ञा न समझ पाने का कारण 10 जन्मों का अन्तराल है और उन्हें दस बार जन्म लेना पड़ेगा। महाप्रभु जी के अन्तरंग शिष्य होने के कारण हरसानी उनके प्रिय-भाजन एवं कृपा पात्र थे इसीलिए महाप्रभु जी ने ठाकुर जी से यही माँगा था कि मेरे रहते हुए दामोदर दास की देह न छूटे। इस भाव

के पीछे महाप्रभु का यह भी आशय रहा कि उनके पुत्र श्री गोपीनाथ जी एवं विट्ठलनाथ जी उम्र में छोटे थे और उनके बड़े होने तक उन्हें समझाने के लिए दामोदर दास के हृदय में पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तों एवं लीला रहस्यों को सुरक्षित रखना था। महाप्रभु की देह छूटने के बाद दामोदर दास हरसानी ने ही उनके पुत्रों एवं अन्य भगवदीयों को पुष्टिमार्ग का सारतत्त्व समझाकर उनका मार्गदर्शन किया था।

दामोदर दास की गुरु-निष्ठा का एक प्रसंग पुष्टिमार्ग में उल्लेखनीय है। वे ठाकुर जी से भी महाप्रभु को सदैव बढ़कर मानते रहे। एक बार श्री गिरिराज जी की तलहटी में छोकर वृक्ष के नीचे महाप्रभु जी श्री दामोदर दास हरसानी की गोद में सिर रखकर पोढ़ रहे थे तो वहाँ श्रीनाथ जी पधारे। हरसानी ने हाथ का इशारा कर श्री ठाकुर जी को उधर आने से मना कर दिया ताकि महाप्रभु जी की नींद में विघ्न न पड़े। जब महाप्रभु जी ने जगने पर उनसे पूछा कि तुमने ठाकुर जी को मेरे पास आने से मना क्यों किया? तो दामोदर दास ने कहा कि ठाकुर जी तो चंचल, चपल है, उनके आने से आपकी नींद उड़ जाती इस भाव से मैंने मना कर दिया। धन्य है दामोदर दास, धन्य है उनकी गुरु-निष्ठा! यही तो शिष्य का, भक्त का, सेवक का परम बल है जिससे उन्होंने अखिल ब्रह्माण्ड नायक परमात्मा तक को उधर आने से रोक दिया।

महाप्रभु के संन्यास ग्रहण करने एवं उनकी असुर-व्यामोह लीला के बाद एक बार गो. विट्ठलदास जी ने हरसानी से जब यह पूछा कि महाप्रभु जी के प्रति उनके क्या भाव हैं? तो उन्होंने कहा कि महाप्रभु जी तो श्री ठाकुर जी से बढ़कर हैं। इसका कारण पूछने पर उन्होंने बताया कि दान बड़ा होता है अथवा दाता बड़ा होता है। ठाकुर जी तो महाप्रभु जी के सर्वस्व धन हैं और महाप्रभु जी तो इस अलभ्य धन को दान करने वाले दाता हैं। दाता सदैव दान से बड़ा ही होता है अतः महाप्रभु जी ठाकुर जी से बड़े ही हैं। पहले दामोदर दास जी—महाप्रभु जी के सामने गुसाईं जी विट्ठलनाथ जी के साथ ही आधी गद्दी पर बैठकर उनसे समानता दर्शाते थे किन्तु बाद में महाप्रभु जी का संकेत पाकर उन्होंने ऊपर गद्दी पर बैठना छोड़ दिया था और उनका चरणोदक लेकर उन्हें भी प्रभु-स्वरूप मानना शुरू कर दिया था। गुरु-पुत्र के प्रति उनका यह आदर भाव भी कम ही लोगों में पाया जाता है। गुसाईं जी भी उनका पूरा आदर करते

थे। उनमें महाप्रभु जी की, अपने पिता श्री की उपस्थिति मानकर उन्हें अपने लिए दण्डवत् नहीं करने देते थे। असुर-व्यामोह लीला के बाद भी हरसानी जी के प्रति तीसरे दिन महाप्रभु जी के दर्शन होते रहते थे और महाप्रभु जी इन्हें लीला रहस्य बताते रहते थे। महाप्रभु जी से जो भी बात होती दामोदर दास गुसाईं जी को बताते थे। महाप्रभु जी के दर्शन न होने पर उनके पेट में पीड़ा होती थी और आत्यन्तिक कष्ट पाने के पश्चात् फिर उन्हें महाप्रभु जी के दर्शन होते थे और उदरकष्ट से निवृत्ति हो जाती थी।

एक बार कुछ वैष्णवों के साथ वार्तालाप करते समय उन्होंने गुसाईं जी को लक्ष्य कर कहा था कि यह पुष्टिमार्ग निश्चिन्त होकर रहने का नहीं अपितु आतुरता एवं विप्रयोग रसात्मिका भक्ति का है। गुसाईं जी ने इसका अनुमोदन करते हुए कहा कि यह सही है, किन्तु आतुरता एवं विरह का भाव तो महाप्रभु जी की कृपा से ही प्राप्त होता है, आपके निमित्त से महाप्रभु जी ही हमें संकेत दे रहे हैं, इसमें संशय नहीं है।

श्री दामोदर दास ने गुसाईं जी को पुष्टिमार्गीय रीति से विभिन्न उत्सवों को मनाने का ढंग भी बताया। दामोदर दास के घर पर जब गुसाईं जी ने उनके पूर्वजों का श्राद्ध कराया तो दक्षिणा के रूप में दामोदर दास ने सिद्धान्त रहस्य लोक की व्याख्या कर गुसाईं जी को सुनाई और बाद में महाप्रभु जी के षोडश-ग्रन्थों एवं श्री सुबोधिनी जी का मर्म भी बताया। इस प्रकार दामोदर दास हरसानी जो पुष्टि मार्ग के प्रथम भगवदीय सेवक थे उनकी महिमा भी अपार है। महाप्रभु जी ने तो उनसे प्रसन्न होकर यहाँ तक कहा था कि जहाँ तक पुष्टि मार्ग स्थित है, वहाँ तक दामोदर दास की स्थिति भी गुप्त रूप से ही सही किन्तु अवश्य रहेगी। आज भी पुष्टि मार्ग की स्थिति विद्यमान है अतः उनकी भी कहीं न कहीं उपस्थिति अवश्य होनी चाहिए। वल्लभ-कुल के आचार्यों का यह भी आज दायित्व बनता है कि दामोदर दास वर्तमान में किस रूप में विद्यमान है इसकी खोज करें, उनका पता लगायें, उनका उचित आदर करें और उन्हें सम्मान प्रदान करें किन्तु आश्चर्य है कि महाप्रभु जी के वंशधरों में हरसानी की खोज के प्रति कोई आग्रह नहीं है।

धन्य हैं ऐसे परम भगवदीय दामोदर दास हरसानी जिन्हें महाप्रभु ने पुष्टिमार्ग का प्रथम स्तम्भ मानकर उनके हृदय में पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त एवं लीला-रहस्य की स्थापना की और जो भगवत्-धर्म के संवाहक बने।

तीन तूँबा वाले वैष्णव ब्राह्मण सिद्धपुर की वार्ता

महाप्रभु आचार्य श्री वल्लभ के पुष्टिमार्ग में भगवदीय वैष्णव का अत्यधिक महत्त्व है। जो वैष्णव अनन्य चित्त से सदैव प्रभु की लीला में तन्मय रहता है, प्रभु उसे अपना स्वरुप प्रदान कर देते हैं। उसमें प्रभु की ही तरह ''कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुम्'' की अलौकिक सामर्थ्य भी प्रकट हो जाती है। पुष्टिमार्गीय वैष्णवों में तीन तूँबा वाले वैष्णव ब्राह्मण सिद्धपुर की वार्ता अत्यधिक प्रचलित है। सिद्धपुर के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न इस बालक ने गुसाईं जी का सेवक बनकर अपने दयालु स्वभाव से असम्भव को सम्भव कर दिखाया।

तीन तूँबा वाले वैष्णव ब्राह्मण सिद्धपुर की वार्ता 252 वैष्णवों की वार्ता में संकलित है। इस वार्ता के पुनीत प्रसंग इस प्रकार हैं–

सिद्धपुर में एक ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेते ही अन्य बालकों की तरह इस बालक ने रुदन नहीं किया और श्रीकृष्ण का, भगवत्-नाम का उच्चारण किया जिससे माता-पिता को आश्चर्य हुआ। इसने माता का दूध नहीं पिया अतः गाय का दूध दिया गया। 5 वर्ष की उम्र से ही यह न किसी से बोलता था, न किसी के पास बैठता था, विरक्त सा रहता था। जब वह 15 वर्ष का हुआ उस समय गुसाईं श्री विट्ठलनाथ जी का पदार्पण सिद्धपुर में हुआ। उनमें पूर्ण पुरुषोत्तम रूप का दर्शन पाकर इसने उनसे अपनी शरण में लेने की विनती की। गुसाईं जी ने इसे दैवी जीव जानकर सरस्वती में स्नान करा जल में नाम-निवेदन कराया। नाम निवेदन होते ही इसमें प्रभु की सब लीला स्फूर्त हो गई एवं स्वरूप भी हृदयारूढ़ हो गया। गुसाईं जी ने कहा कि तुम्हें निरोध सिद्ध हो गया है अब माया तुम्हें कोई बाधा नहीं देगी तुम चाहे जहाँ रहो, देश काल की बाधा नहीं होगी। इसके बाद वह विरक्त दशा में ही रहने लगा किन्तु घर में ही अपने लिए अलग रसोई बनाकर भोग धर कर प्रसाद लेता। माता-पिता की ममता को तिलांजलि देकर यह विरक्त घर से निकल गया। दिन-रात अष्टाक्षर मंत्र ''श्रीकृष्णः शरणं मम'' का जाप करता और भगवत् लीला में तन्मय रहता। एक समय यह श्रीनाथ जी के दर्शन के लिए गुजरात से आ रहा था। उसके पास तीन तूँबे और कन्धे तथा कमर पर रसोई के आवश्यक बर्तन थे। वह जिस गाँव में जाता वहीं से भिक्षा लेकर रसोई स्वयं बनाकर

प्रभु के भोग धरता, महाप्रसाद लेता और चलता रहता। एक बार तीन दिन और रात तक वर्षा होने से यह भिक्षा नहीं ला सका और न रसोई बना सका अतः इसने विचार किया कि किसी गुसाईं जी के सेवक के घर जाकर महाप्रसाद लिया जावे। यद्यपि यह तादृशी भक्त था, उसे देहाध्यास भी नहीं था। उसके चाहने पर वर्षा भी रुक सकती थी परन्तु प्रभु ने उसके साथ ऐसा कौतुक किया क्योंकि प्रभु को इसके द्वारा एक पुत्रहीन राजा पर कृपा करा कर भक्त की अलौकिक सामर्थ्य को दिखाना था।

एक बड़े गाँव का राजा पुत्रहीन था। अनेकों विवाह करने पर भी उसके पुत्र नहीं हुआ और वह वृद्ध हो चला। एक शिव उपासक ने 5000/- पाँच हजार रुपये राजा से प्राप्त कर शिव का अनुष्ठान कराया किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला।

स्वयं को असफल होता देख वह शिवोपासक ब्राह्मण मरने को तत्पर हुआ तो शिव ने प्रकट होकर कहा कि राजा के भाग्य में पुत्र नहीं है। ब्राह्मण के हठ करने पर महादेव ने जाकर अपना संकट श्री ठाकुर जी को बताया कि राजा के पुत्र न होने पर मेरा उपासक ब्राह्मण प्राण त्याग कर देगा। महादेव के ऐसा करने पर भी ठाकुर जी ने महादेव को स्पष्ट कह दिया कि चाहे ब्राह्मण मरे, किन्तु राजा के भाग्य में पुत्र नहीं है सो नहीं होगा। महादेव ने यह बात वापस ब्राह्मण को बता दी और ब्राह्मण ने भी जाकर राजा को सब बात बता दी। राजा आकर अपने भाग्य पर सन्तोष कर चुप हो गया। उसी गाँव में एक अन्य वैष्णव ब्राह्मण भी था जो नियम से ठाकुर जी के भोग अर्पित करता और एक वैष्णव को प्रतिदिन महाप्रसाद लेने के लिए ढूँढ़ कर लाता। इसने तालाब पर तीन तूँबे वाले विरक्त ब्राह्मण को देखकर पहचाना कि यह वैष्णव है और उसे महाप्रसाद के लिए अपने घर ले आया। उसे महाप्रसाद देकर अच्छे बिछौने बिछा कर आराम कराया। दूसरे दिन जब विरक्त चलने लगा तो उस ब्राह्मण ने फिर निवेदन किया कि राजभोग के बाद महाप्रसाद लेकर ही आप जावें। वैष्णव ब्राह्मण की इस सेवा से विरक्त तीन तूँबे वाले वैष्णव बहुत प्रसन्न हुए और उससे कुछ माँगने का हठ किया। वैष्णव ब्राह्मण भी जानता था कि माँगना वैष्णव का धर्म नहीं है पर उसके आग्रह को देखकर उसने अपने लिए न माँग कर राजा के लिए पुत्र का वर माँगा। तीन तूँबे वाले वैष्णव ने प्रसन्न होकर कहा कि एक क्या राजा के चार पुत्र होंगे । ब्राह्मण द्वारा राजा को

यह अच्छी खबर देने पर राजा को विश्वास नहीं हुआ कि अब वृद्धावस्था में 4 पुत्र कैसे होंगे परन्तु बाद में चारों रानियों के गर्भ रहे और राजा के 4 पुत्र हुए।

राजा के यहाँ 4 पुत्र होने की बात जब शिव उपासक ब्राह्मण ने जानी तो वह शिव मन्दिर में जाकर महादेव के ऊपर अपनी ही तलवार लेकर आत्महत्या करने लगा तो शिव ने प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ लिया। ब्राह्मण ने कहा कि आपने और ठाकुर जी ने मुझे झूठी बात कही कि राजा के पुत्र नहीं होगा। मुझे झूठा सिद्ध करवाया। इस पर शिव ने ठाकुर जी से जाकर पूछा तो ठाकुर जी को भी आश्चर्य हुआ। राजा से पूछने पर पता चला कि किसी गुसाईं जी के सेवक विरक्त वैष्णव की सेवा करने से उसके आशीर्वाद से 4 पुत्र हुए हैं। तब श्री ठाकुर जी ने महादेव को कहा कि उस विरक्त वैष्णव ने मुझ पर पूरी कृपा की है, यदि वह कह देता कि ठाकुर जी राजा के घर पुत्र बनकर जन्म लेंगे तो मुझे वहाँ जन्म लेना पड़ता। ठाकुर जी की यह बात सुनकर महादेव प्रभु की भक्त-वत्सलता पर मुग्ध हो उठे। महादेव मर्यादा-भक्त वैष्णव होने से ठाकुर जी की इच्छा न देख राजा को पुत्र देने से उदासीन रहे तथा ठाकुर जी के गुणावतार होने से कर्म की व्यवस्था देखकर भी उदासीन रहे, किन्तु यह तीन तूँबे वाला विरक्त तो पुष्टिमार्गीय भक्त है, जिसकी वाणी का प्रतिरोध स्वयं काल भी नहीं कर सकता। अतः इस तीन तूँबे वाले विरक्त भक्त की वार्ता से यह प्रेरणा मिलती है कि जो अपना सब कुछ त्याग कर निरन्तर भगवत् प्रेम में निमग्न रहता है, जिनके हृदय में श्री पुरुषोत्तम सदैव विराजमान है, उसमें अलौकिक सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है, वे इच्छानुसार कुछ भी कर सकते हैं, असम्भव को सम्भव बना सकते हैं।

माधोदास भट्ट काश्मीरवासी की वार्ता

''नाश्रितो वल्लभाधीषो न च दृष्टा सुबोधिनी।
ना राधि राधिका नाथो, वृथा तज्जन्म भूतले ॥''

पुष्टिमार्ग में श्रीमद्भागवत को सच्चिदानन्दघन प्रभु श्रीनाथ जी का ही वाङ्मय विग्रह माना जाता है। श्रीमद्भागवत गायत्री मन्त्र रूप बीज से उत्पन्न वेद रूप वृक्ष का रसमय फल है। इस परम रस का आस्वादन

कर रसिक भावुक भक्त आनन्द मग्न हो उठते हैं। यह श्रीकृष्ण का तेजोमय रूप है, गूढ़ तत्त्वों की गुप्त निधि है एवं वैष्णवों का परम धन है। किन्तु इसमें निहित गुप्त गूढ़ भाव को व्याख्यायित करने की सामर्थ्य प्रभु के अनुग्रह के बिना प्राप्त नहीं होती। इसमें निहित निगूढ भाव को सरस्वती ने अपने पति वाक्पति श्रीमद्वल्लभाचार्य के आगे ही प्रकट किया है। वस्तुतः वैश्वानर स्वरूप महाप्रभु के अलावा आज तक श्रीमद् भागवत का गूढ़ रहस्य कोई प्रकट नहीं कर सका है। भगवदाज्ञानुसार श्री वल्लभाचार्य ने श्रीमद् भागवत पर श्री सुबोधिनी नाम की टीका की है। इस अनुपम टीका के लिपिक के रूप में श्री माधव भट्ट कश्मीरी का अपूर्व योगदान रहा है। महाप्रभु जैसे वाक्पति के सुयोग्य लिपिक बनने का सौभाग्य उन्हें इसीलिए प्राप्त हुआ था क्योंकि उनमें पांडित्य होते हुए भी दैन्य था एवं प्रभु के प्रति अपूर्व प्रेम था।

श्री माधो भट्ट कश्मीरी की पुनीत वार्ता के कुछ प्रसंग 84 वैष्णवों की वार्ता में दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं।

वृन्दावन में निम्बार्क सम्प्रदाय के एक धुरन्धर पंडित जिनका नाम केशव भट्ट कश्मीरी था, रहते थे। श्री केशव भट्ट ने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के मुख से कई दिनों तक श्रीमद्भागवत की रसमय कथा सुनी, उनके प्रिय शिष्य माधवभट्ट कश्मीरी ने भी भागवत की कथा सुनी, जिसे सुनकर उन पर भागवत की कथा का गहरा रंग चढ़ गया। वे आचार्य जी के सेवकों में बैठकर भगवत् वार्ता करने लगे। महाप्रभु जी श्री केशव भट्ट की उपस्थिति में भी माधव भट्ट को प्रमुख श्रोता मानकर कथा कहते थे। केशव भट्ट के पूछने पर माधव भट्ट ने कहा कि मुझे इनके साथ रहना एवं वार्ता करना अच्छा लगता है। केशव भट्ट ने महाप्रभु जी से कहा कि भागवत तो हमने भी सुनी है परन्तु हमें कुछ बोध नहीं हुआ और माधव भट्ट में भगवत्-प्रेम स्फुरित हुआ है तो महाप्रभु ने कहा कि आपने स्वयं को मेरा सजातीय मानकर और बराबरी में ऊपर बैठ कर कथा सुनी है, अतः बोध नहीं हुआ है परन्तु माधव भट्ट ने नीचे बैठकर दैन्य रखते हुए कथा-श्रवण किया है। यह दैवी जीव है इसलिए भगवत् अनुराग बढ़ा है। कथा सम्पूर्ण होने पर केशव भट्ट ने आचार्य श्री से निवेदन किया कि वे कुछ गुरु-दक्षिणा भेंट में लेवें। महाप्रभु द्वारा गुरु-दक्षिणा या भेंट लेने की मनाही करने पर उन्होंने अपने शिष्य माधव भट्ट को उनके समर्पित कर

दिया और उन्हें महाप्रभु जी को सौंप कर चल दिये।

माधव भट्ट संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे, उनके अक्षर भी सुन्दर एवं सुडौल थे। महाप्रभु जी भी उनके दैन्य, निष्ठा एवं समर्पण के कारण उन्हें चाहते थे उधर माधव भट्ट को भी यही आन्तरिक इच्छा थी कि उन्हें महाप्रभु जी का सान्निध्य प्राप्त हो और उनकी सेवा का अवसर प्राप्त हो।

श्री वल्लभाचार्य ने माधव भट्ट को अपना लिपिक बना लिया और वृन्दावन से लौटते समय उन्हें अपने साथ ही काशी ले आये।

महाप्रभु श्रीभागवत की टीका ''श्री सुबोधिनी'' बोलते थे और माधव भट्ट उसे जल्दी-जल्दी लिखते जाते थे, परन्तु जहाँ उन्हें अर्थ समझ में नहीं आता वहाँ लेखनी छोड़ के बैठे रहते और वापस महाप्रभु जी जब उन्हें पूरा अर्थ वापस समझाते तो समझने के बाद ही लिखते थे। महाप्रभु जी की आज्ञा पालन करने के साथ ही वे इस लेखन कार्य में दत्त चित्त रहते हुए भी सुअवसर का पूरा लाभ उठाकर भागवत का अर्थ समझकर उसे ग्रहण करने का अवसर नहीं खोते थे।

माधव भट्ट जिस गाँव में रहते थे उस गाँव में एक गृहस्थ के पुत्र के मरने पर वह गृहस्थ विलाप करने लगा और कहने लगा कि मेरे पुत्र को कोई जिलावेगा तो मैं भी जीऊँगा नहीं तो मर जाऊँगा। उसे ऐसा शोक एवं विलाप करते देखकर किसी ने कहा कि यहाँ इस गाँव में माधव भट्ट जैसे भगवदीय रहते हैं उनके कृपा करने पर लड़का जी सकता है। उस गृहस्थ ने माधव भट्ट के सामने जाकर करुण विलाप करना शुरू किया। उसे दुःखी एवं व्याकुल देखकर माधव भट्ट को बहुत खेद हुआ और उन्होंने उसका दुःख दूर करने के लिए ठाकुर जी से जाकर विनती की—

''दयालोस्ते सामर्थ्यम् स्व दुःखायैव दयालुता।
विश्वो द्धरण दक्षस्य सा तवैकस्य शोभते ॥''

यह श्लोक सुनने पर ठाकुर जी ने कहा कि यह छोटी सी बात है, तुम्हें दया आई है तो जाकर उसे कह दो कि तुम्हारा पुत्र जी उठेगा। ठाकुरजी के कहने पर उन्होंने बाहर आकर गृहस्थ को कह दिया कि तेरा बेटा जी जावेगा। थोड़ी देर में घर के लोगों ने खबर दी की उसका बेटा जी गया है तो वह गृहस्थ माधो भट्ट को दण्डवत कर अपने घर आया और हर्षित हुआ। किन्तु माधव भट्ट ने अपने मन में विचार किया कि यह बहुत

अनुचित हुआ है, मेरी महिमा गाँव में फैल गई है अब लोग नित्य आकर ऐसे ही दुख देंगे तो उन्होंने अर्द्ध रात्रि को ठाकुर जी को साथ लेकर गाँव छोड़ दिया और अडैल में महाप्रभु जी की सेवा में आकर रहने लगे। दया आने से उन्हें ठाकुर जी को लेकर आधी रात को अपना स्थान छोड़ना पड़ा अतः वैष्णव को चाहिए कि ठाकुर जी पर ही दया करने का काम छोड़ देवे एवं उचित्त-अनुचित्त का विचार करके कार्य करे।

एक समय जब माधव भट्ट परदेश में महाप्रभु जी के साथ गये और एक गाँव में ठहरे तो आधी रात को लघुशंका आने से थोड़े दूर आये तो एक चोर ने तीर चलाया और महाप्रभु का नाम लेते हुए उन्होंने देह छोड़ दिया। वैष्णवों के मन में सन्देह हुआ और उन्होंने महाप्रभु जी से पूछा कि माधो भट्ट के समान परम वैष्णव की ऐसी गति क्यों हुई? तो महाप्रभु ने कहा कि उन्होंने गुरु-सेवा और ठाकुर जी की पूरी सेवा की है, उनके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा है, वे परम भगवदीय थे, उनसे सेवापराध हुआ था। ठाकुर जी की शैय्या पर फूल बिछाते हुए उसमें अनजाने एक सुई रह गई थी। इनकी देह भगवान का नाम लेते हुए छूटी है अतः बुरी गति नहीं होगी। ऐसी मृत्यु से भी माधव भट्ट के परलोक की कोई हानि नहीं है। आपकी मृत्यु के कारण सुबोधिनी की टीका भी पूर्ण नहीं हो पाई क्योंकि भगवान की इच्छा इतनी ही टीका प्रकट करने की थी।

श्रीकृष्ण दास मेघन की वार्ता

पुष्टिमार्ग के प्राकट्यकर्ता महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य का अपने शिष्यों से आत्मीय सम्बन्ध था। उनका विश्वास भीड़ जुटाने में नहीं था। वे खूब जाँच-परखकर केवल दैवी जीवों को अंगीकार करते थे। वे सदा तादृशी वैष्णवजन के बीच ही रहते थे। वैष्णव जन भी उन पर अगाध श्रद्धा रखते थे। उनके तादृशी शिष्यों के हृदय में स्थित सेवा, प्रभु स्नेह और धर्म का भाव विविध रूपों में मूर्तिमन्त हो उठा था। उनके 84 भगवदीय शिष्य-रत्नों में प्रत्येक की छटा अलौकिक है। 84 वैष्णवों की वार्ता के आधार पर कृष्ण दास मेघन छत्री की पुनीत वार्ता इस प्रकार है—

कृष्ण दास मेघन छत्री सौंरो के निवासी थे और वे महाप्रभु जी की तीनों यात्राओं में उनके साथ छाया की भाँति रहे थे। एक समय महाप्रभु

पृथ्वी परिक्रमा करते हुए बद्री-नारायण के परली और किसी पर्वत के पास पहुँचे तो वहाँ से एक बड़ी शिला गिरी जिसे श्रीकृष्ण दास मेघन ने अपने प्राणों की परवाह न करते हुए अपने हाथ से थाम लिया था और महाप्रभु को आहत होने से बचाया था। इस घटना से महाप्रभु ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा तो कृष्ण दास ने माँगा कि मेरा मुखरता दोष दूर हो, मैं पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों को समझ सकूँ एवं आप मेरे गुरु के घर पधारें। महाप्रभु ने पहली दो बातें स्वीकार कर लीं पर उनके गुरु के घर पधारने की इनकारी की। इसके बाद महाप्रभु जी बद्रिकाश्रम से आगे व्यास जी के स्थान व्यास-गुफा की ओर पधारे जहाँ जाना मनुष्य के लिए अशक्य है तो उन्होंने कृष्णदास को वहीं दूर ठहरने की आज्ञा प्रदान की। महाप्रभु से मिलने पर वेद व्यास जी ने कहा कि तुमने जो भागवत टीका की है वह मुझे सुनाओ तो महाप्रभु जी ने युगलगीत के अध्याय का एक श्लोक सुनाया और उसकी व्याख्या तीन दिन तक करते रहे। तब महाप्रभु ने वेद व्यास जी से कहा कि आपने वेदान्त के ऐसे ब्रह्म-सूत्रों की रचना की जिनके अर्थ से विद्वान् लोग मायावाद का मण्डन कर रहे हैं तो वेद व्यास ने कहा कि इस रचना के पीछे मेरा मायावाद का आशय नहीं था। तब महाप्रभु जी ने कहा कि मैंने ब्रह्म-सूत्रों का ब्रह्मवाद परक अर्थ अणुभाण्य के रूप में किया है जिसे सुनकर वेद-व्यास बहुत प्रसन्न हुए। इस प्रकार 3 दिन बाद महाप्रभु जी वेद-व्यास जी से विदा पाकर वापस पधारे तो श्री कृष्णदास मेघन को उसी जगह खड़े हुए देखा। वे तीन दिन से वहीं खड़े रहकर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। महाप्रभु जी के चरणों के अतिरिक्त इनके लिए कोई आश्रय नहीं था अतः वे इस प्रकार खड़े रह सके। इस समय भी महाप्रभु ने उनसे कुछ माँगने को कहा तो उन्होंने वे ही 3 बातें माँगी कि उनका मुखरता दोष दूर हो, वे पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों को समझें एवं उनके गुरु के घर महाप्रभु जी पधारें। महाप्रभु जी ने उस समय कहा था कि जीव वास्तव में माँगना भी नहीं जानता। इस समय यदि वह ठाकुर जी के स्वरूप-दर्शन कराने की बात भी कहते तो भी करा देता। श्री कृष्णदास महाप्रभु को पूर्ण पुरुषोत्तम मानते थे अतः महाप्रभु से मिलने से पूर्व उनके जो गुरु थे उनको भी महाप्रभु से मिलाकर उन्हें महाप्रभु का कृपा पात्र बनाना चाहते थे। जब महाप्रभु जी सौरों पधारे तो कृष्णदास मेघन अकेले ही अपने गुरु के पास आये परन्तु गुरु ने उनकी भर्त्सना करते

हुए कहा कि तूने दूसरा गुरु कर लिया है तो कृष्णदास मेघन ने कहा कि मेरे गुरु तो तुम ही हो परन्तु तुम्हारी कृपा से मैंने पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप महाप्रभु जी को प्राप्त किया है। गुरु ने कहा कि कैसे माना जावे कि महाप्रभु जी पूर्ण पुरुषोत्तम ही हैं। गुरू की यह बात सुनकर श्री कृष्णदास मेघन ने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए अपने गुरु के सामने ही जलती हुई अग्नि की अँगीठी से जलते हुए अंगारे उठाकर कहा कि यदि महाप्रभु जी पूर्ण पुरुषोत्तम हैं तो मेरे हाथ नहीं जलेंगे और यदि पुरुषोत्तम नहीं हैं तो मेरे हाथ जल जावेंगे। बहुत समय जलते अंगार इनके हाथ में रहने पर गुरु ने भयभीत होकर इनके हाथ से वापस जलते हुए अंगारे नीचे धरती पर डलवाये। कृष्णदास मेघन की जिज्ञासा अत्यन्त प्रबल थी और वे महाप्रभु जी से भगवत्-लीला और तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी गूढ़ प्रश्न किया करते थे। महाप्रभु जी ने इन पर विशेष प्रसन्न होकर कई भगवद्-रहस्य प्रकट किये थे।

महाप्रभु की कृपा से इनके हृदय में पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त आरूढ़ हुए परन्तु ये मार्ग की गोपनीय बातें भी सब के आगे कह देते थे। कुछ वैष्णवों ने महाप्रभु जी से इस बात की शिकायत की तो इन्होंने कहा कि मैंने जिनसे कहा है आप उन्हीं से पूछ लीजिए। महाप्रभु द्वारा उन लोगों को पूछने पर उन्होंने बताया कि हमें तो याद ही नहीं इन्होंने क्या बातें बताई थीं। इस पर महाप्रभु जी मुस्करा कर चुप रहे।

एक समय श्री कृष्णदास मेघन ने पूछा कि ठाकुर जी की प्रिय वस्तु क्या है तो महाप्रभु जी ने बताया कि, गोरस ठाकुर जी को अतिप्रिय है, भक्ति का स्नेह भाव प्रिय है इसलिए वे भक्तवत्सल कहलाते हैं—तब कृष्णदास ने कहा कि उन्हें अप्रिय वस्तु कौन सी है तो महाप्रभु जी ने बताया कि ठाकुर जी को धुँए के समान अप्रिय वस्तु और कोई नहीं हैं, भक्तों से द्वेष रखने वाले भी उनको अप्रिय हैं। कृष्णदास के यह पूछने पर कि रघुनाथ जी तो अपनी सम्पूर्ण प्रेम सृष्टि को स्वधाम में लेकर पधारे किन्तु राजा दशरथ को केवल स्वर्ग ही दिया तो महाप्रभु जी ने कहा कि दशरथ ने अपने वचन को सत्य करने के लिए राम को वनवास जाने दिया, उनकी तो स्वर्ग जाने की योग्यता भी नहीं थी परन्तु राम ने उन्हें दया करके स्वर्ग दिया।

एक समय आचार्य जी से कृष्णदास ने पूछा कि महाराज भक्त होकर

भी लोग ठाकुर जी का भेद नहीं जान पाते सो क्या कारण है तो महाप्रभु ने बताया कि विधिपूर्वक समर्पण नहीं होने एवं भगवद्-भक्त का संग नहीं करने से वे लीला के भेद को नहीं जान पाते। जिस वैष्णव भक्त के हृदय में श्री ठाकुर जी विराजमान हैं उनका संग करने या उनकी सेवा करने से ठाकुर जी का अलौकिक स्वरूप जानने में आता है। केवल भगवत् सम्बन्ध से कुछ नहीं होता, भगवान के लिए कुछ करने की भावना एवं विरह भाव का ताप होना जरूरी है।

एक बार श्री कृष्णदास ने तैर कर गंगा को पार किया तथा धान कटवा कर मुरमुरे सिकवाकर महाप्रभु जी के आरोगने के लिए समर्पित किये।

धन्य हैं महाप्रभुजी के अनन्य सेवक श्री कृष्णदास मेघन खत्री जिनके प्राण महाप्रभु जी में ही बसते थे। जिन्होंने आज्ञा पालन के लिए 3 दिन खड़े रहकर सेवक-धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया और अन्त में महाप्रभु के स्वधाम प्रस्थान के साथ ही उनके वियोग में अपने प्राण भी छोड़ दिये। महाप्रभु जी की कृपा से जिनका मुखरता दोष भी हट गया, ऐसे कृपा पात्र भगवदीय वस्तुतः प्रातः स्मरणीय हैं।

आरोग्य

''धर्मार्थः काम मोक्षाणां आरोग्यं मूल मुत्तमम्।
रोगाः तस्याऽप हर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ॥''

मनुष्य परमात्मा की श्रेष्ठतम कृति है। जीवन एक अमूल्य निधि है। मानव शरीर की प्राप्ति एक अमोघ वरदान है। मानव में परमात्मा की अनेक शक्तियों का निवास है किन्तु मनुष्य को अपने मंगलमय जीवन की सार्थकता का बोध तभी होता है जब वह स्वस्थ, निरोग एवं आरोग्य-सम्पन्न हो। आरोग्य ही धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष जैसे मानव जीवन के पुरुषार्थों का मूल है। आरोग्य ही जीवन में उत्साह का संचार करता है। आरोग्य से ही मनुष्य की क्रिया शक्ति जागृत रहती है और मनुष्य असम्भव कार्य को भी सम्भव बना लेता है। प्रकृति जन्म से ही मानव को आरोग्य का उपहार प्रदान करती है किन्तु मनुष्य उसका मूल्य नहीं समझता। वह प्रमाद, आलस्य, स्वार्थ, विलास एवं इन्द्रिय तृप्ति के

लिए प्रकृति के नियमों का उल्लंघन अथवा अतिक्रमण करता है अतः वह आरोग्य से हाथ धो बैठता है और उसका शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। जो शरीर परमात्मा का मन्दिर है वह मनुष्य की अपनी लापरवाही से व्याधि-मन्दिर बन जाता है।

रोगग्रस्त व्यक्ति किसी भी पुरुषार्थ का साधन नहीं कर पाता। न तो वह लौकिक अभ्युदय को प्राप्त कर पाता है और न वह पारमार्थिक श्रेयस् को ही अर्जित कर पाता है। उसके लिए सारा संसार शून्य हो जाता है। रोगी के लिए भोग-उपभोग के सुखदायी साधन भी दुःखदायी बन जाते हैं। वैभव के परिवेश में रहते हुए भी वह जीवन के आनन्द का अनुभव करने से वंचित ही रहता है। मनुष्य अपनी ही गलती से आरोग्य खोता है और रोगग्रस्त बनता है। सम्पूर्ण थिश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो हमें हमारी इच्छा के विरुद्ध रोगी या निरोगी बना सकती हो। रोग से मुक्ति पाने में भी चिकित्सक की कुशलता एवं औषधि की उपयुक्तता के साथ ही मनुष्य की प्रबल इच्छाशक्ति का भी प्रचुर योगदान रहता है। जीवन संघर्ष में वही विजयी होता है जो शक्तिशाली होता है। प्रकृति भी शक्तिशाली को ही अपने दिव्य उपहार देती है।

मानव जीवन में 4 बल प्रमुख माने जाते हैं—(1) शरीर बल (2) मनोबल (3) ज्ञान बल एवं (4) आत्मबल । इन बलों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शरीर बल है जो अन्य सभी बलों का मुख्य आधार है। आरोग्य के अभाव में मनोबल, ज्ञानबल एवं आत्मबल का प्रकाश भी प्रायः लुप्त ही रहता है।

यह सम्पूर्ण जीवन एक संघर्ष है और जीवन-संघर्ष में उत्साह पूर्वक भाग लेने के लिए भी आरोग्य अत्यन्त आवश्यक है।

"शरीरमाद्यं खलु, धर्म साधनम्" "नायमात्मा बल हीनेन लभ्यः"

"Sound mind in a sound body"

आदि सूक्तियाँ आरोग्य की महत्ता का प्रतिपादन करने हेतु पर्याप्त हैं। शरीर के स्वस्थ रहने पर ही उसमें सुदृढ़ मन एवं मस्तिष्क का निवास सम्भव है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ विचारों एवं शुभ संकल्पों का उद्भव होता है।

लोकानुभव की दृष्टि से भी आरोग्य ही प्रथम सुख माना जाता है। 'पहला सुख निरोगी काया, दूसरा सुख घर में माया' की प्रचलित लोकोक्ति

में आरोग्य को वैभव की तुलना में प्रथम स्थान दिया गया है। व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति में आशा का उल्लास नहीं रहता, उसका जीवन रस-सूख जाता है। वह निराशा, घुटन, कुण्ठा एवं भय का शिकार हो जाता है। उसकी चित्त-वृत्ति भी सदैव रोग का चिन्तन करते-करते बहिर्मुखी हो जाती है। शारीरिक स्वास्थ्य एवं मानसिक स्वास्थ्य दोनों एक दूसरे को प्रभाावित करते हैं। निरन्तर व्याधिग्रस्त रहने से आत्मबल भी क्षीण हो जाता है। आरोग्य बनाये रखने हेतु नियमितता बहुत आवश्यक है। प्रकृति के सम्पूर्ण क्रिया कलाप नियमबद्ध हैं अतः प्रकृति का अनुसरण करने से ही आरोग्य को सुरक्षित रखा जा सकता है। अनियमितता स्वास्थ्य की गिरावट का प्रमुख कारण है। दिनचर्या को नियम-बद्ध करना, निश्चित समय पर सोना, प्रातःकाल उठना, नियमित भ्रमण करना, नियमित व्यायाम करना, निश्चित समय पर भोजन करना, नहाना, शौच करना, आराम करना आदि आरोग्य की सुरक्षा के लिए अत्यावश्यक है। आरोग्य-प्राप्ति के लिए ब्रह्म-मुहूर्त में उठना एवं उषाकाल में भ्रमण करते हुए शुद्ध हवा का सेवन करना अत्यन्त उपयोगी है। "Early to bed and Early to rise makes a man healthy, wealthy and wise." शुद्ध वायु, शुद्ध जल, शुद्ध भूमि, विपुल प्रकाश एवं मुक्त आकाश प्रकृति की पाँच दिव्य औषधियाँ मानी जाती हैं। आरोग्य के लिए यही पंचामृत है। इस पंचामृत का सेवन प्रतिदिन करना चाहिए। महात्मा गाँधी ने भी मनुष्य को प्रकृति की ओर लौटने हेतु कहा है। "Back to nature" का यही आशय है। आरोग्य के लिए सावधानी रखना व्याधिग्रस्त होकर उपचार कराने से कहीं अच्छा है—"Pre-caution is better than Cure." नियमित व्यायाम, योगासन एवं उपवास भी आरोग्य-रक्षा के लिए सर्वोत्तम साधन है। उपवास से पाचन तन्त्र में सुधार होता है। व्यायाम से रक्त संचार का अवरोध दूर होकर नई स्फूर्ति, प्रफुल्लता एवं ताजगी प्राप्त होती है। जरूरत से ज्यादा भोजन करने, अम्लकारक गरिष्ठ, भुने एवं तले हुए अधिक पदार्थों के सेवन से उदर सम्बन्धी अनेक जटिल रोग उत्पन्न हो जाते हैं, शरीर में विजातीय द्रव्य एकत्र हो जाता है और विष बन जाता है। चबाकर भोजन न करना, क्रोधावस्था में रहना, मन में अशुभ विचार रखना, लौकिक सफलता के लिए तदनुरूप कार्य न कर सतत चिन्तित बने रहना, कम नींद लेना, अधिक श्रम करना या श्रम बिलकुल न करना

आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे गम्भीर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। एलोपैथिक औषधियाँ एवं इन्जेक्शन रोग पर शीघ्रकारी प्रभाव डालकर रोग को दबाते अवश्य हैं, परन्तु रोग का पूर्ण शमन इनसे नहीं होता। रोगों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए भोजन में सुधार उपयोगी है। फल व तरकारियों का सेवन, संतुलित आहार एवं दिनचर्या को नियमित बनाना जरूरी है। योगासन से नाड़ियाँ सबल एवं अशक्त अंग पुष्ट होते हैं तथा प्राणायाम श्वास रोगों के लिए रामबाण औषधि है।

पूर्ण स्वास्थ्य मनुष्य की सर्वप्रथम सर्वोपरि आवश्यकता है, दैवी सम्पदा है, मानव जीवन की अनुपम निधि है और इसे प्राप्त करना मनुष्य के अपने हाथ में है। जो मनुष्य प्रकृति के नियमों का पालन करता हुआ अपने शरीर रूपी यन्त्र में निहित दिव्य शक्ति को जाग्रत नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है।

''सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते''

''नीति-शतक'' की यह सूक्ति अनुभव-सिद्ध सामाजिक यथार्थ को ध्वनित करती है। यद्यपि मानव जीवन में स्नेह, दया, अहिंसा, मैत्री, शील, त्याग, तप एवं सहिष्णुता जैसे सद्गुणों का अपार महत्त्व रहा है क्योंकि सद्गुण ही मानव जीवन को उत्कर्ष प्रदान करते हैं तथापि आज सद्गुण प्राप्त करना मनुष्य का लक्ष्य नहीं रहा, वह धन-दौलत को प्राप्त करने हेतु लालायित है। धन-दौलत प्राप्त करने पर वह समाज में प्रतिष्ठित एवं आदरणीय बन जाता है। धन के अभाव में अनेक सद्गुण भी उसे प्रतिष्ठा नहीं दिला पाते।

प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है और सुख के साधनों का विस्तार धन से ही सम्भव होता है। मनुष्य की इसी मनोवृत्ति को ध्यान में रखते हुए ऋग्वेद में भी धनोपार्जन का परामर्श दिया गया है।

'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' इस ऋचा में धन-प्राप्ति की इच्छा ही व्यक्त हुई है। महाभारत में सुख का मूल धन है' ऐसा कहकर धन का महत्त्व बताया गया है।

''अर्थाद् धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप।
प्राणयात्रा अपि लोकस्य बिना अर्थं न सिद्धयति ॥''

धन से ही धर्म, काम, मोक्ष आदि तीनों पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। धन से ही समस्त मनोरथ पूरे होते हैं। धन से जीवन यात्रा भी सुगम हो जाती है। **''धनम् सर्वार्थ साधकम्''** अर्थात् धन से ही सभी प्रयोजन पूरे होते हैं, धन से ही असम्भव कार्य भी सम्भव होता है इसीलिए बालक, युवा, वृद्ध-पुरुष, विद्वान्, पंडित, संन्यासी सभी धन प्राप्ति की कामना करते हैं और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। धन ही जीवन का केन्द्र बना हुआ है। धन की आकांक्षा मनुष्य में स्फूर्ति का संचार करती है। सेवा, परोपकार, यज्ञ, धर्म-कार्य, दान-पुण्य, सामाजिक उत्सव, तीर्थ यात्रा आदि सभी कार्यों में धन की आवश्यकता होती है। धन के अभाव में उदर पोषण भी असम्भव हो जाता है। उदर-पोषण के अभाव में ईश्वर-भक्ति में भी बाधा उत्पन्न हो जाती है। महाकवि सूर के ''भूखे भजन न होई गोपाला, यह ले तेरी कण्ठी माला'' पद में इसी यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है।

हितोपदेश में धन को जीवन की शक्ति माना गया है। धनवान व्यक्ति धन के बल पर सर्वत्र आदर प्राप्त करता है। उसके गुणों में चार चाँद लग जाते हैं। उसके दुर्गुण भी सद्गुण माने जाते हैं। धन के अभाव में सद्गुण भी दुर्गुण माने जाते हैं। धन अपूज्य को पूज्य, अकुलीन को कुलीन तथा मूर्ख को पण्डित बना देता है।

''यस्यास्ति वित्तं सः नर कुलीन सः पण्डितः सः श्रुतिवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते ॥''

धन की वृद्धि से ही अभ्युदय माना जाता है, इसी को प्रगति कहा जाता है। धन से ही व्यक्ति आसानी से लोकप्रिय हो जाता है, नेतृत्व की प्राप्ति कर लेता है। वह आसानी से उच्च पद, पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त कर लेता है।

नीति-सार में धन को परम बन्धु एवं सुहृद बताया गया है। धनी व्यक्ति को सदैव मित्र-वर्ग घेरे रहता है। उसे अयाचित प्रशंसा प्राप्त होती है। इसके विपरीत निर्धन व्यक्ति अपने परिवार, कुल, जाति एवं समाज में सर्वत्र उपेक्षित एवं तिरस्कृत सा रहता है। निर्धन का सामाजिक जीवन शून्य हो जाता है। वह अपने परिवार का उचित्त संरक्षण नहीं कर पाता। वह सदैव धन की प्राप्ति के लिए शोकाकुल एवं चिन्तित रहता है। साधनों के अभाव में प्रतिभा भी पल्लवित नहीं हो पाती । सद्गुणों का

पोषण एवं संवर्द्धन भी नहीं हो पाता।

इसीलिए मृच्छ-कटिक नाटक में निर्धनता को सबसे बड़ा पाप बताया गया है **''मन्ये निर्धनता प्रकाम मपरं षष्ठं महापातकम्''** समाज में सर्वत्र धन की प्रतिष्ठा है। धन से ही मनुष्य का मूल्य आंका जाता है। धन की मात्रा के अनुसार ही समाज में उसे आदर मिलता है। धन के अभाव में पंडितों का पांडित्य, विद्वानों की विद्वत्ता, गुणीजन की गुणवत्ता एवं कलावन्तों की कला भी निष्प्रभावी हो जाती है। विद्याएँ एवं कलाएँ भी पल्लवित होने के लिए धन की अपेक्षा करती हैं, इसीलिए कवि, पंडित, कलाकार सभी धनी व्यक्ति का आश्रय लेते हैं और उसकी प्रशंसा कर धन लाभ करते हैं।

धन के महत्त्व को समझकर ही आज मनुष्य धन-प्राप्ति की प्रतिस्पर्धा में दौड़ रहा है। धन-प्राप्ति के लिए उचित्त-अनुचित्त साधनों को काम में ले रहा है। भ्रष्टाचार की अभिवृद्धि इसी का दुष्परिणाम है। धन प्राप्त कर लेने पर मनुष्य प्रायः अहंकारी बन जाता है और उसमें अनेक दुर्गुण भी प्रविष्ट हो जाते हैं। उचित साधन से धन अर्जित कर धन का सदुपयोग करने में कोई बुराई नहीं हैं।

सूक्तिकार का आशय धन का महत्त्व बतलाना ही नहीं है अपितु यह बताना है कि गुणों की तुलना में वैभव का आदरणीय होना समाज के गुणात्मक ह्रास का सूचक है। आज मनुष्य की धन-पिपासु मनोवृत्ति वैभव की चकाचौंध से ग्रस्त होकर गुणों का निरादर कर रही है। यथार्थ के उद्‌घाटन के साथ ही सूक्तिकार ने इस सूक्ति में इसी सामाजिक मनोवृत्ति पर करारा व्यंग्य किया है।

'विद्या धनं सर्वधनं प्रधानम्'

नीति शतक की इस सूक्ति में भतृहरि ने विद्या का महत्त्व बतलाते हुए उसे सभी धनों में प्रधान बताया है। विद्या से सम्पन्न मनुष्य ही सच्चे अर्थ में मनुष्य होता है, विद्या से रहित मनुष्य को पशु कहा गया है। किसी भी वस्तु या विषय का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना ही विद्या है। विद् धातु ज्ञानार्थक है और इसी से विद्या शब्द बना है। वेद, शास्त्र, विज्ञान आदि का अनुशीलन तथा तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना ही विद्या है।

उपनिषदों के अनुसार विद्या दो प्रकार की होती है–(1) परा विद्या (2) अपरा विद्या। परा विद्या से अक्षर ब्रह्म का परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है तथा वेद एवं वेदांग आदि अपरा विद्या है जिससे समस्त लौकिक एवं व्यावहारिक विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। जीवन में पूर्णता लाने के लिए परा एवं अपरा दोनों विद्याओं का ज्ञान आवश्यक है।

विद्या को सभी धनों से श्रेष्ठ इसीलिए माना जाता है क्योंकि इससे मनुष्य जीवन के धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष जैसे चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। विद्या से धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, उचित्त-अनुचित्त एवं कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान होता है। विद्या से ही मनुष्य कुमार्ग का त्याग कर सत् मार्ग की ओर अग्रसर होता है। विद्या व्यक्ति का काया-कल्प कर देती है। विद्या जीवन में दिव्यता का संचार कर उसे आदर्श मानव बना देती है। यही नहीं विद्या से मनुष्य की भौतिक आकांक्षाएँ भी पूरी हो जाती हैं। विद्या के प्रभाव से मनुष्य, भूमि, भवन एवं वैभव के भी समस्त साधन प्राप्त कर सकता है। विद्या कल्पलता एवं कामधेनु के समान है जो सभी मनोरथों की पूर्ति कर देती है। यह मनुष्य में ज्ञान ज्योति का प्रकाश करती है, अविद्या के अन्धकार को दूर करती है, दुर्गुण हटाकर सद्गुणों का संचार करती है तथा गौरव एवं कीर्ति का विस्तार करती है।

विद्या माता के समान मनुष्य का संरक्षण करती है, पिता के समान सत्पथ का मार्गदर्शन करती है। विद्या ही काव्य एवं समस्त कलाओं में निहित आनन्द का आस्वादन कराती है एवं राज्य द्वारा प्रतिष्ठा दिलवाती है।

परा विद्या मनुष्य को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कराती है, अपने आत्म स्वरूप का दर्शन करा ब्रह्मानन्द में प्रतिष्ठित करती है। पराविद्या से ही मनुष्य अपने शाश्वत जीवन का एवं अमरत्व का अनुभव कर पाता है **"विद्ययाऽमृत मश्नुते"**। विद्या मनुष्य को पावनता प्रदान करती है। विनय सम्पन्न बनाती है, अहंकार को दूर हटाकर गुणों का उत्कर्ष करती है, जड़ता हटाकर चैतन्य का साक्षात्कार कराती है एवं मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है–**"सा विद्या या विमुक्तये"**।

विद्या रूपी धन से अलंकृत विद्वान् पुरुष सर्वत्र सम्मान के अधिकारी बनते हैं-राजा का तो अपने देश में ही आदर होता है किन्तु विद्वानों का देश-विदेश में सर्वत्र आदर होता है। कहा भी है–

"स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते"

विद्या के इस अपार माहात्म्य को देख कर ही उसे 'विद्या परा देवता' कहा गया है। सरस्वती के रूप में प्रचलित आराधना एवं उपासना विद्या की ही दैवी आराधना है।

विद्या ही मनुष्य की तीसरी आँख है जो जगत् के वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन कराती है। विद्या एक अमूल्य धन है इसीलिए विद्या दान करने वाले गुरु से शिष्य कभी उऋण नहीं होता। भतृहरि ने इस विद्या रूपी धन की प्रशंसा करते हुए कहा है कि विद्या ही ऐसा धन है जिसे न तो कोई चोर चुरा सकता है और यह वह धन है जिसका भाइयों में भी बँटवारा नहीं होता। लौकिक द्रव्य की तरह इसमें कोई भार भी नहीं है। विद्या की विलक्षणता बताते हुए नीतिकार ने कहा है कि विद्या रूपी धन ही एक ऐसा धन है जो बाँटने से, खर्च करने से निरन्तर बढ़ता रहता हैं और खर्च न करने से घट जाता है।

आज भौतिकवाद के प्रति प्रबल आकर्षण इसीलिए बढ़ता जा रहा है क्योंकि हम परा-विद्या की ओर से उदासीन होते जा रहे हैं। अपरा विद्या लौकिक जीवन का एवं परा-विद्या पारलौकिक जीवन का पाथेय है। विद्या के व्यापक महत्त्व को देखते हुए विद्या रूपी धन को 'सर्वधनं प्रधानम्' कहना सर्वथा उपयुक्त है।

"उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये"

मूर्खों को उपदेश देने से वे शान्त नहीं होते, उनका क्रोध उपदेश सुनकर भड़क उठता है। यह सारपूर्ण सूक्ति गहन जीवन अनुभव पर आधारित है। प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति की यही इच्छा रहती है कि उसके ज्ञान से अन्य लोग भी लाभान्वित होवें। जिज्ञासु व्यक्ति इसका लाभ उठाकर ज्ञानियों एवं गुणी जन से उपदेश ग्रहण करते हैं और अपना जीवन सफल करते हैं। इसके विपरीत मूर्ख लोगों को किसी के भी सदुपदेश रुचिकर नहीं लगते। उपदेश श्रवण करते ही उनका अज्ञान तिलमिला उठता है, उनके अहंकार को चोट लगती है, वे उद्विग्न एवं क्रोधित हो उठते हैं।

उपदेश श्रवण करने के लिए भी आवश्यक पात्रता जरूरी है। जो मनुष्य अपना हित, अहित नहीं पहचानते, जिनमें स्वयं की बुद्धि नहीं

होती, जो बिना विचार किये ही कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं, उन्हें मूर्ख कहा जाता है। मूर्ख लोग उपदेश के आशय एवं मर्म को नहीं समझ पाते। वे दूसरे की सही बात की भी उपेक्षा करते हैं। अज्ञानी होने पर भी वे स्वयं को श्रेष्ठ मानते रहते हैं और अपने अविवेक को नहीं देख पाते। जिज्ञासु व्यक्ति उपदेश को शालीनता पूर्वक ग्रहण कर उसका मनन करते हैं किन्तु मूर्ख लोग मनन करना तो दूर रहा, उपदेश के श्रवण मात्र से क्षुब्ध एवं कुपित हो उठते हैं।

मूर्ख को उपदेश देना अनर्थकारी होता है। उसकी प्रतिक्रिया सदैव विध्वंसात्मक होती है–'बन्दर को सीख देत घर बया का जाय' यह लोकोक्ति उन पर पूर्णतया चरितार्थ होती है।

भर्तृहरि ने नीतिशतक में **''सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्र-विहितं मूर्खस्य-नास्त्यौषधम्''** कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि मूर्ख का उपचार किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। मूर्खता की व्याधि लाइलाज है। साम, दाम, दण्ड और भेद नीति भी मूर्ख के सामने असफल हो जाती है। मूर्खों पर ज्ञान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता वे प्रेम से भी द्रवित नहीं होते और न वे सद्‌गुणों से ही प्रभावित होते हैं।

मूर्खों को शब्द की लक्षणा और व्यंजना शक्ति का ज्ञान नहीं होता। उनकी चेतनता पर जड़ता का ठोस आवरण छाया रहता है, इसीलिए उनका अहंकार अत्यधिक सघन एवं प्रबल होता है। मूर्ख सदैव किसी न किसी पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह से ग्रस्त रहते हैं। वे स्वभाव से हठी होते हैं, और स्वयं की अनुचित्त बात पर अड़े रहते हैं। उनकी दृढ़ता प्रखर होती है, वे मरने, मारने तक के लिए उद्यत हो जाते हैं।

मूर्खों का समय व्यर्थ के वाद-विवाद, व्यसन अथवा कलह में व्यतीत होता है–**''व्यसनेन च मूर्खाणां, निद्रया कलहेन वा''**।

मूर्ख अपनी मूर्खता से सुन्दर एवं सुखद वातावरण को भी बात-बात पर कलहयुक्त एवं यन्त्रणापूर्ण बना देते हैं।

सभी पढ़े-लिखे लोग बुद्धिमान एवं सभी अनपढ़ मूर्ख ही होते हों, ऐसी बात नहीं है। कबीर, रामकृष्ण परमहंस, अकबर आदि कई अनपढ़ लोग महान् बुद्धिमान हुए हैं इसके विपरीत कई पढ़े हुए लोगों ने भी मूर्खता के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं–

''शास्त्राण्यधीत्याऽपि भवन्ति मूर्खाः। यस्तु क्रियावान् पुरुषः सः

विद्वान्''

जो व्यक्ति पढ़ता है किन्तु मनन नहीं करता, वह मूर्ख ही रहता है। मूर्ख व्यक्ति सदैव यही चाहता है कि सभी उसकी ही बात मानें। वह असहिष्णु होता है, दूसरे पक्ष को बर्दाश्त नहीं कर पाता। चाटुकार मूर्ख लोगों से पूरा लाभ उठाते हैं और वे उनकी झूठी प्रशंसा कर उन्हें खुश रखते हैं। मूर्ख में दूरदर्शिता नहीं होती, प्रायः तात्कालिक लाभ पर ही उसकी दृष्टि रहती है।

मूर्ख में सहृदयता का अभाव होता है। सात्विक संवेदनाओं से उसका मन पुलकित नहीं हो पाता। मूर्खों का सान्निध्य अथवा साहचर्य प्राप्त होना विधाता का सबसे बड़ा दण्ड है। भर्तृहरि कहते हैं–

''वरं पर्वत दुर्गेषु भ्रान्तं वनचरै सह। न मूर्ख जन सम्पर्कः सुरेन्द्र भवनेष्वपि।'' मूर्ख के साथ कवि स्वर्ग में रहने को भी तैयार नहीं है।

इसीलिए विद्वानों ने भी **'पण्डितोऽपि वरंशत्रुर्न मूर्खो हितकारकः,** कहकर दर्शाया है कि हितैषी मूर्ख से तो बुद्धिमान शत्रु अधिक श्रेष्ठ है।

ब्रह्मा के समान गुरु मिलने पर भी मूर्ख के हृदय में बोध जाग्रत नहीं होता ''मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहिं विरंचि सम।'' मूर्ख के सामने सभी उपदेश निरर्थक हो जाते हैं।

प्रायः सभी व्यक्तियों में मूर्खता का न्यूनाधिक अंश अवश्य रहता है। मूर्खता एवं बुद्धिमानी के अनुपात मात्र का अन्तर होता है। विचारों में अहंकार की गन्ध रहने तक मूर्खता पीछा नहीं छोड़ती। जो स्वयं की मूर्खता को जान लेता है, सुकरात के अनुसार वही बुद्धिमान हो जाता है।

इस सूक्ति से यही शिक्षा मिलती है कि कभी भी मूर्ख को उपदेश देने या समझाने का दुस्साहस नहीं करना चाहिये।

दीपावली (पंच पर्व)

''तमसो मा ज्योतिर्गमय'' ''असतो मा सद्‌गमय'' एवं **मृत्योर्माअमृतंगमय''** ये तीन महावाक्य अत्यन्त सारगर्भित हैं। इनमें मानव-जीवन का दिशा निर्देशन है–अन्धकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से शाश्वत जीवन (अमरत्व) की ओर निरन्तर बढ़ते रहना ही मानव जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है। दीपावली का ज्योति-पर्व सम्पूर्ण

मानव-जाति को अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का सन्देश देता है।

भारतवर्ष में मनुष्य एवं प्रकृति के अभिन्न सम्बन्धों को त्यौहारों, उत्सवों अथवा पर्वों के आयोजन के रूप में अभिव्यक्त करने की परम्परा रही है। ऋतु-परिवर्तन के साथ पर्व के आयोजन इस बात के सूचक हैं कि मनुष्य का प्रकृति से कितना प्रगाढ़ सम्बन्ध है। दीपावली शरद-ऋतु का प्रधान त्यौहार है। वर्षा की विदाई एवं शरद ऋतु के आगमन पर जो हर्ष एवं उल्लास मनुष्य के मन में होता है उसकी अभिव्यक्ति दीपावली के पावन-पर्व में होती है। वर्षा की फसल परिपक्व हो जाने से कृषक खुशी से झूम उठते हैं। दीपावली पर्व में कृषक-जीवन के सात्विक उल्लास का भी न्यूनाधिक समावेश है। दीपावली को दिवाली, दीपमालिका एवं दीपोत्सव पर्व भी कहते हैं। दीपावली का शाब्दिक अर्थ दीपों की अवली अर्थात् पंक्तियाँ हैं। दीपावली के दिन बहुत से पंक्तिबद्ध दीपक जलाकर उल्लास व्यक्त किया जाता है।

दीपावली का ज्योति-पर्व प्रति वर्ष कार्तिक मास की अमावस्या को मनाया जाता है। अमावस्या की अन्धकारपूर्ण रात्रि दीपों के प्रकाश से जगमगा उठती है। इस पर्व के माध्यम से मानो निराशा का अन्धकार हट जाता है, आशा के प्रकाश का संचार हो जाता है। दीपावली मनाने के पीछे कई कारण बताये जाते हैं–

(1) कहा जाता है कि भगवान श्रीराम रावण का वध करने के पश्चात् सीता को लेकर इसी दिन वनवास से लौटकर अयोध्या पहुँचे थे। अयोध्यावासियों ने अपने प्रिय हृदय-सम्राट राम के प्रत्यागमन की खुशी में रात्रि में असंख्य दीप जलाये थे अतः उसी खुशी के दिन की पावन स्मृति में आज भी दीप जला कर प्रतिवर्ष इस पर्व को मनाया जाता है।

(2) यह भी कहा जाता है कि समुद्र-मन्थन के बाद अमृत कलश को लेकर देवताओं एवं दैत्यों में युद्ध हुआ था और देवताओं की विजय हुई थी। उसी उपलक्ष्य में आज भी यह पर्व मनाया जाता है। समुद्र-मन्थन से लक्ष्मीजी का प्राकट्य भी कुछ लोग इसी दिन मानते हैं।

(3) जैन तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने भी इसी दिन निर्वाण प्राप्त कर पार्थिव देह का परित्याग किया था, अतः आवागमन चक्र से मुक्ति प्राप्त करने की अमिट स्मृति के रूप में दीपावली पर्व का विशेष महत्त्व बताया जाता है।

दीपावली कोई एक दिन मनाया जाने वाला पर्व नहीं अपितु यह पंचपर्वा त्यौहार है अर्थात् दीपावली से 2 दिन पूर्व से लेकर 2 दिन बाद तक दीपावली सहित 5 दिनों तक इस त्यौहार का विस्तार है।

धनदा त्रयोदशी, धनतेरस अथवा धन्वन्तरि जयन्ती-वैद्य इस दिन आयुर्वेद शास्त्र के जनक धन्वन्तरि का प्राकट्य दिवस मनाते हैं। जन साधारण नये बर्तन खरीद कर समृद्धि की कामना करते हैं।

रूपचतुर्दशी, रूप चौदस, नरक चतुर्दशी, छोटी दिवाली-कहा जाता है कि इस दिन श्रीकृष्ण नरकासुर का वध करके द्वारिका लौटे थे, उन्हीं की स्मृति में यह पर्व मनाया जाता है। इस दिन घर का कूड़ा-करकट बाहर निकाला जाता है। प्रायः चाँदी की कोई वस्तु खरीदी जाती है एवं एक दीपक जलाया जाता है। सौन्दर्य प्राप्त करने के लिए भी इसी दिन आराधना की जाती है।

दीपावली–

इस दिन प्रत्येक घर में मिठाइयाँ बनाई जाती हैं। दीप प्रज्वलित किये जाते हैं। लक्ष्मी एवं गणेश की पूजा की जाती है। वैश्यवर्ग अपने बही खाते भी बदलते हैं। दीपावली की रात्रि का वातावरण सर्वत्र अह्लादमय हो जाता है। सरस्वती पूजन भी इसी दिन किया जाता है। दीपावली की रात्रि में सर्वत्र जगमग करते दीप दिखाई देते हैं। छोटे-छोटे बालक इस दिन रात्रि में पटाखे छोड़ कर अपना उल्लास व्यक्त करते हैं।

गोवर्द्धन पूजा अथवा अन्नकूट–

दीपावली के दूसरे दिन गोवर्द्धन पूजा का उत्सव मनाया जाता है। भारत कृषि प्रधान देश है एवं गाय तथा बैल कृषक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इस दिन गाय के गोबर का गोवर्द्धन बनाकर उसकी पूजा की जाती है एवं गायों को भी शृंगार करा कर उनका पूजन किया जाता है एवं उनके बछड़ों को खिलाया जाता है।

इस दिन मन्दिरों में अन्नकूट उत्सव भी मनाया जाता है। नाथद्वारा में श्रीनाथजी के मन्दिर में अन्नकूट का उत्सव अत्यन्त धूमधाम से मनाया जाता है। रात्रि को चावल लूटने का दृश्य अत्यन्त उल्लासवर्धक है इसमें जनसामान्य का उल्लास देखते ही बनता है। इसी दिन किसान हल बैल की भी पूजा करते हैं।

यम द्वितीया अथवा भाई दूज–

दीपावली के तीसरे दिन यम द्वितीया अथवा भैया दूज मनाई जाती है। कहा जाता है इस दिन यमुना ने अपने भाई यम को भोजन करा कर यह आश्वासन प्राप्त किया था कि उसके भक्तों को कभी नरक का द्वार नहीं देखना पड़ेगा। इस दिन बहनें भाइयों को भोजन कराती हैं एवं उनके दीर्घ जीवन की कामना करती हैं। इस प्रकार यह त्यौहार भाई बहन का मिलन पर्व कहा जा सकता है। दीपावली पर्व का आधार, धार्मिक, पौराणिक एवं सांस्कृतिक है किन्तु यह साथ ही स्वच्छता का पर्व भी है। दीपावली से पूर्व ही घरों की सफाई की जाती है, पुताई एवं रंग-रोगन किया जाता है। हर घर, हर आँगन, हर द्वार लीप-पोत कर साफ-सुथरा कर दिया जाता है। प्रत्येक जगह स्वच्छ एवं लुभावनी हो उठती है। वर्षा-ऋतु के व्याधिकारक कीटाणु इस सफाई-अभियान से नष्ट हो जाते हैं और शरद काल का स्वच्छ वातावरण बन जाता है जो समशीतोष्ण है तथा स्वास्थ्य के लिए हितकर है। दीपावली पर्व पर पुरानी वस्तुएँ बाहर निकाली जाती हैं, उनकी सफाई हो जाती है। दीपावली पर नई सजावट भी की जाती है। अतः दीपावली खुशी एवं स्वास्थ्य का त्यौहार है।

आर्थिक दृष्टि से भी दीपावली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण त्यौहार है। दीपावली पर बाजार में बर्तनों, खिलौनों, मूर्तियों तथा मिठाइयों की बिक्री बढ़ जाती है। आतिशबाजी, पटाखे एवं फुलझड़ियों की बिक्री होती है। छोटे बच्चों का स्वस्थ मनोरंजन होता है तथा युवा एवं वृद्ध भी नया उल्लास प्राप्त करते हैं।

बाजारों में रात्रि में दीपों की कतारें एवं रंग-बिरंगे बल्बों की दर्शनीय पंक्तियाँ मन को मुग्ध कर लेती हैं। दीपावली पारस्परिक सौहार्द एवं सद्भाव का त्यौहार है। इस दिन लोग परस्पर एक दूसरे को बधाइयाँ देते हैं, दूरस्थ मित्रों को बधाई पत्र भेजते हैं एवं मिठाइयों का परस्पर आदान-प्रदान करते हैं।

दीपावली पर्व की असंगतियाँ–

दीपावली पर कई व्यक्ति जुआ एवं सट्टा खेलते हैं तथा शराब पीते हैं। कई लोग इसी दिन चोरी, ठगी एवं बदमाशी करते हैं। आतिशबाजी से आग लगने का खतरा रहता है। कभी-कभी यह आग लाखों का नुकसान कर देती है। अतः इन बुराइयों का सर्वथा त्याग करते हुए यह पर्व उमंग पूर्वक मनाना ही श्रेयस्कर है।

दीपावली मुख्य रूप से लक्ष्मी का पर्व माना जाता है। आज भी भगवान की तुलना में माता लक्ष्मी के उपासक अधिक हैं क्योंकि लक्ष्मी वैभव एवं समृद्धि की देवी हैं। वैभव एवं समृद्धि के अभाव में आज का भौतिक जीवन व्यर्थ सा हो जाता है। लक्ष्मी की प्रसन्नता प्राप्त करने का सभी प्रयत्न करते हैं। लक्ष्मी पावनता, शुचिता एवं स्वच्छता पसन्द करती हैं इसलिए उसके आगमन के उपयुक्त तैयारियाँ की जाती हैं।

निष्कर्ष—

असंख्य वर्षों से दीप प्रज्वलित किये जा रहे हैं किन्तु मन में ज्ञान के प्रकाश का उदय नहीं हो रहा है, आज भी मनुष्य का मानस तिमिराच्छन्न है वह आज भी भौतिक सुख समृद्धि को ही जीवन का लक्ष्य मान रहा है। यह आत्मा ही दीपक है प्रत्येक प्राणी में एक आत्मरूप दीप विद्यमान है। यह आत्म दीप ज्ञान से ही प्रज्वलित होता है। वस्तुतः दीपावली अज्ञान रूपी अन्धकार का निवारण कर ज्ञान रूपी प्रकाश की ओर सतत बढ़ते रहने की ही प्रेरणा देती है।

"नास्ति चिन्ता समोव्याधि"

मानसिक रोगों में चिन्ता से बढ़कर अन्य कोई रोग नहीं है। वस्तुतः चिन्ता ही मानसिक शक्ति को क्षीण कर अनेक शारीरिक रोगों को भी जन्म देती है। इसीलिए चिन्ता को मनुष्य का रक्तपान करने वाली पिशाचिनी, समस्त आधि-व्याधि का मूल, शरीर को एवं मन को सन्ताप देने वाली, जीवन रस का शोषण करने वाली एवं मानव जीवन के लिए परम अनर्थकारिणी माना गया है। चिन्ता अनेक प्रकार के रूप धारण कर मनुष्य के अन्तर को व्यथित करती रहती है, जलाती रहती है। चिन्ता का प्रभाव प्रायः समस्त मनुष्यों पर होता है परन्तु प्रबल आत्मबली, इच्छा शक्ति से सम्पन्न, दृढ़ निश्चयी एवं निर्द्वन्द्व-चित्त वाले महापुरुषों पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता। सामान्य-जन में निर्धन से लेकर धनवान, मूर्ख से लेकर बुद्धिमान एवं अकुलीन से लेकर कुलीन व्यक्ति तक को चिन्ता ने अपने पाश में जकड़ रखा है। जिस प्रकार अग्नि शुष्क काष्ठ को एवं दावाग्नि पत्तों के ढेर को जलाती है, चिन्ता भी शरीर को उसी प्रकार जलाकर क्षीण कर देती है।

चिन्ता का मूल कारण अभाव का अनुभव है। अप्राप्त को प्राप्त करने की चाह रखने एवं उसे प्राप्त न कर पाने से चिन्ता का उदय होता है। प्राप्त वस्तु पुनः अप्राप्त नहीं हो जावे यह आशंका भी चिन्ता को उत्पन्न करती है, अतः स्पष्ट है कि चिन्ता का आधार अतीत या भविष्य का चिन्तन है। चिन्ता के समान अन्य कोई प्रबल शत्रु नहीं है "नास्ति चिन्ता समो रिपुः"। चिन्ता के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाने पर स्वस्थ व्यक्ति भी व्याधिग्रस्त हो जाता है, सबल भी निर्बल हो जाता है। चिन्ता से ही शोक, दुःख, ग्लानि, ईर्ष्या, रुक्षता, असहिष्णुता, निराशा आदि मनोविकार उत्पन्न होते हैं एवं रक्तचाप, मधुमेह, अनिद्रा, पक्षाघात, शिरोवेदना, मलावरोध जैसे भयंकर शारीरिक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। आधुनिक मनोचिकित्सक भी यह मानते हैं कि पहले मन ही रोगी बनता है, शरीर की अधिकांश व्याधियाँ चिन्ताग्रस्त मन के कारण ही होती हैं। निश्चिन्त व्यक्ति में जहाँ प्रबल, उत्साह एवं उमंग की भावना होती है वहीं चिन्तातुर व्यक्ति उत्साह से रहित, निरानन्द, निश्चेष्ट एवं तेजोहीन होता है। चिन्ता मनुष्य की कुशलता को नष्ट करने वाली एवं उसके ज्ञान-विज्ञान को नष्ट करने वाली है। चिन्ता को चिता के समान बताया गया है। चिता तो जड़ शरीर को ही जलाती है परन्तु चिन्ता मन-मन्दिर को दूषित करने वाली पाप की अमूर्त प्रतिमा है। खण्ड प्रलय के समय जलप्लावन में देवसृष्टि के विध्वंस होने पर बीज रूप में बचे हुए मानवी सृष्टि के प्रथम सूत्रधार मनु अपने वैभवपूर्ण अतीत एवं आशा रहित भावी जीवन का चिन्तन करते हुए चिन्तातुर हो उठते हैं–महाकवि प्रसाद ने कामायनी में चिन्ता के स्वरुप का यथार्थ एवं आधिकारिक चित्रण प्रस्तुत किया है–

"ओ! चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्व वन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कंप सी मतवाली।
री अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल रेखा।
हरी भरी ओ दौड़ धूप सी, जलमाया की चलरेखा॥"

चिन्ता रूपी महारोग की औषधि ढूँढ़ना आवश्यक है। महाकवि प्रसाद के अनुसार अपने अमरत्व का ज्ञान चिन्ता को दूर करने का आमेध उपाय है।

स्वावलम्बन चिन्ता का महत्त्वपूर्ण उपचार है। आर्थिक स्वावलम्बन

से स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, यह मनुष्य को निश्चिन्त बना देता है। धैर्य का आश्रय ग्रहण करने से भी चिन्ता का विनाश होता है। वस्तुतः धैर्य एक चिन्ताहरण रसायन है। सन्तोष धारण करते ही चित्त-वृत्ति शान्त हो जाती है। सतत कार्यशील रहकर चिन्ता से बचा जा सकता है। निष्क्रिय व्यक्ति को चिन्ता अधिक घेरती है। चित्त-वृत्ति को कर्म में संलग्न कर देने पर चिन्ता को प्रहार का अवसर नहीं प्राप्त होता। विवेक का आश्रय ग्रहण करते ही चिन्ता की निस्सारता का अनुभव हो जाता है। आत्मा के स्वरूप का बोध होते ही चिन्ता का प्रभाव समाप्त हो जाता है और मनु चिन्ता को चुनौती देते हुए कहते हैं–

''मनन करावेगी तू कितना, मै निश्चिन्त जाति का जीव।
अमर मरेगा क्या तू इतनी गहरी डाल रही है नींव ॥''

चिन्ता क़रने से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। अपने पूर्व-कृत कर्मों के परिणाम को धैर्यपूर्वक सहन करना ही बुद्धिमानी है।

"That which cannot be cured, must be indured."

आत्मविश्वास, दृढ़ निश्चय, पवित्र विचारों का आश्रय, सद्ग्रन्थों के पठन-श्रवण एवं ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास से व्यक्ति निष्काम हो जाता है, उसकी चाह मिट जाती है और चिन्ता भी नष्ट हो जाती है-कहा भी है–

''चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जा को कछु न चाहिये, वे शाहों के शाह ॥''

''चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च''

परिवर्तन संसार का अटल एवं अपरिहार्य नियम है। संसार की प्रत्येक दृश्यमान वस्तु शाश्वत अथवा स्थिर नहीं है। प्रकृति में भी परिवर्तन का यह क्रम ऋतुओं के परिवर्तन के रूप में अविरल चलता रहता है। प्रकृति की ही तरह मानव जीवन भी परिवर्तनशील है–शैशव, किशोर, युवा, प्रौढ़ एवं वार्धक्य की अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ मानव मृत्यु का ग्रास बन जाता है। सर्दी, गर्मी के भौतिक प्रभावों के साथ ही मानव विभिन्न परिस्थितियों एवं अवस्थाओं को अनुभव करने हेतु बाध्य है।

जीवन में उत्थान-पतन, उत्कर्ष-अपकर्ष का क्रम सदैव चलता रहता है। अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होने पर मनुष्य सुख का एवं प्रतिकूल परिस्थितियाँ होने पर दुःख का अनुभव करता है। वस्तुतः मानव जीवन का सुख एवं दुःख से घनिष्ट सम्बन्ध है। मनु के अनुसार स्वाधीनता ही सुख है एवं पराधीनता ही दुःख है।

"सर्वं स्ववशः सुखम् सर्वं परवशः दुःखम्"

कुछ विद्वानों के अनुसार इन्द्रिय-संयम ही सुख है एवं इन्द्रियों के परवश हो जाना ही दुःख है। महाकवि तुलसीदास ने भी कहा है–

"पराधीन सपनेहु सुख नाहीं"

शास्त्र एवं पुराणों के अनुसार शुभ कर्मों का फल सुख है तो दुष्कर्मों का फल दुःख है। कुछ मनोवैज्ञानिक सुख एवं दुःख की अनुभूति को मानसिक मानते हैं मन को विषय से असंलग्न कर सुख एवं दुःख की अनुभूति से बचा जा सकता है। प्रायः सभी जीव सुख की ही आकांक्षा करते हैं और दुःख से बचना चाहते हैं परन्तु दुःख से छुटकारा सम्भव नहीं है। कामना को निःशेष किये बिना दुःख से छुटकारा सम्भव नहीं है। इच्छा करने मात्र से कामना पूर्ति नहीं होती है–कामना पूर्ति किसी विधान से होती है जो मनुष्य के हाथ में नहीं है। कामना की पूर्ति होने पर मनुष्य सुख का एवं पूर्ति न होने पर दुःख का अनुभव करते हैं, किसी ने सत्य ही कहा है–

"जो कुछ चाहा जाता है वैसा कभी होता नहीं है।
जो कुछ होता जाता है वह सब हमें भाता नहीं है।
मन में जो कुछ भाता है, वह सदैव रहता नहीं है।
कुछ भी करो जीवन भर हाथ कुछ आता नहीं है॥"

यही मानव की विडम्बना है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन चाह की पूर्ति एवं अपूर्ति के कारण कभी सुख एवं कभी दुःख का अनुभव करते हुए निकल जाता है। दुःख बिना बुलाये आता है किन्तु सुख के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। सुख के प्रति आसक्ति दुःख को द्विगुणित कर देती है। केवल दुःख का ही अनुभव कराना प्रकृति के विधान में नहीं है परन्तु मनुष्य अपनी विकृत मानसिकता से दुःख के व्यापार को बढ़ाता रहता है। जीवन में दुःख के बाद सुख अवश्य आता है, प्रसाद के शब्दों में–

"दुःख की पिछली रजनी बीच, विकसता सुख का नवल प्रभात"

दुःख के आवरण में सुख छिपा रहता है एवं सुख के आवरण में दुःख छिपा रहता है–इसीलिए प्रसाद सुख एवं दुःख को एक दूसरे का प्रतिबिम्ब मानते हैं। धीर पुरुष विपत्ति में धैर्य का त्याग नहीं करते, दुःख में निष्काम होकर उसको धैर्य पूर्वक सहन करने से मनुष्य विपत्ति को पार कर सुख का अधिकारी बन जाता है। गीता में सुख-दुःख में समता रखने की बात कही गई है किन्तु जब तक हानि एवं लाभ में समत्व प्राप्त नहीं होता सुख एवं दुःख में समत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। मानव जीवन पशु-पक्षियों की तरह सुख एवं दुःख को भोगने के लिए ही नहीं है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है, अतः उसे सुख एवं दुःख की दोनों परिस्थितियों का सदुपयोग करना चाहिए। दुःख में त्याग वृत्ति रखना एवं सुख में दूसरों की सेवा करना ही सुख दुःख का वास्तविक सदुपयोग है। सुख का प्रलोभन मन में रहने पर किसी की सेवा नहीं हो पाती, सुख का सदुपयोग न करने से ही दुःख उत्पन्न होता है। सुख की दासता से मुक्त, दुःख के भय से मुक्त जीवन ही सच्चा मानव जीवन है, अतः सुख दुःख दोनों से निरपेक्ष रहते हुए मानव जीवन का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

महाकवि पंत के शब्दों में–

"मैं नहीं चाहता चिरसुख, मैं नहीं चाहता चिर दुःख
सुख दुःख के मधुर मिलन से जीवन हो परिपूरन ॥"

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो"

कामायनीकार महाकवि जयशंकर प्रसाद की इस सूक्ति में नारी के गरिमामय स्वरूप एवं उसके अमृतमय लोकमंगलकारी पक्ष का उद्‌घाटन हुआ है। कदाचित् नारी को परिभाषित करने के लिए 'श्रद्धा' से अधिक समीचीन शब्द और नहीं हो सकता। श्रद्धा मानव मात्र के अन्तःकरण में निवास करने वाली ऐसी भावात्मक सद्‌वृत्ति है जो व्यष्टि को समष्टि से जोड़कर उसके जीवन को सार्थक करती है। जीवन के अन्धकार में प्रकाश का मार्ग दिखाती है। निराश एवं कुण्ठित मन में आशा का संचार करती है। मनुष्य की आत्मकेन्द्रित जड़-प्रवृत्ति का निवारण कर कर्म-पथ पर

गतिशील करती है। श्रद्धा ही ऐसी दिव्य एवं उदार सद्वृत्ति है जिसके आश्रय एवं संरक्षण में करुणा, स्नेह, वात्सल्य, विश्वास, मैत्री, सहिष्णुता, सेवा एवं समर्पण जैसे उदात्त सद्गुण अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित होते हैं। श्रद्धा मरणशील नश्वर जीवन में अमरत्व का बोध कराने वाली संजीवनी है, दिव्य औषधि है एवं जीवनी शक्ति है। यही मस्ती, माधुर्य एवं आनन्द का अक्षय कोश है। श्रद्धा के समस्त सद्गुण नारी को विरासत में मिले हैं। प्रसाद ने नारी में श्रद्धा के इन्हीं दिव्य गुणों का साक्षात्कार कर उसके यथार्थ स्वरूप का परिचय कराया है।

भारतीय नारी का सम्पूर्ण जीवन निःस्वार्थ सेवा-भाव, त्याग एवं समर्पण का ज्वलन्त उदाहरण है। स्वेच्छा से स्वयं को मिटाकर मानवता का मार्ग प्रशस्त करना उसका सहज स्वभाव है। उसका प्रत्येक कार्य मंगलमय है। माता के रूप में मानव को जन्म देना, उसका यथोचित लालन-पालन करना, उसमें सद्गुणों को अंकुरित करना, उसे मानवता के संस्कार देना, प्रतिदान की अपेक्षा न कर अपना सम्पूर्ण वात्सल्य लुटाना एवं जीवन यज्ञ में निष्काम आहुति देना आदि उसकी ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसे आदरणीय एवं वन्दनीय बनाती है। वह एक आदर्श पत्नी के रूप में अर्द्धांगिनी बनकर अपने पति को जीवन संघर्ष में सहयोग देती है एवं उसके क्लान्त एवं श्रान्त होने पर अपने सुकुमार अंचल में उसे विश्रान्ति भी देती है। भगिनी एवं पुत्री के रूप में भी वह पवित्र स्नेह का मार्ग प्रशस्त करते हुए मनुष्य को जीवन-आदर्श की ओर उन्मुख करती है। नारी ही परिवार की धुरी है उसी के कारण पुरुष समाज से जुड़ता है। नारी के सहयोग से ही मनुष्य अपनी आत्मा का विस्तार प्राप्त करता है। नारी घर एवं परिवार की कुशल व्यवस्था कर जीवन को सुखमय बनाने के साथ ही मनुष्य को त्याग, क्षमा, करुणा, सद्व्यवहार एवं सहिष्णुता का अपने आचरण से मनुष्य को पाठ भी पढ़ाती है। वस्तुतः जिस प्रकार श्रद्धा के अभाव में मनुष्य का जीवन निरर्थक एवं निष्प्रयोजन हो जाता है, उसी प्रकार नारी के बिना मनुष्य अपूर्ण ही रहता है। महाभारत में नारी को संसार के समस्त दुःखों की औषधि बताया गया है। श्रद्धा में जो आधिवैदिक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक त्रय-ताप-विनाशक औषधीय गुण हैं, वे सभी नारी के गरिमामय व्यक्तित्व में विद्यमान हैं। नारी की इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखकर भारतीय संस्कृति में **'यत्र नार्यस्तु**

पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' का उद्घोष किया गया है। नारी के प्रति पूज्य भाव रखने से जीवन सुख एवं समृद्धिपूर्ण बनता है, इसमें संशय नहीं।

देव-दुर्विपाक से मध्यकाल में नारी के प्रति पूज्यभाव का अभाव होता गया। पुरुष के लिए उसका आन्तरिक सौन्दर्य महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। वह उसके शारीरिक सौन्दर्य का ही उपासक रह गया। इस संकीर्ण दृष्टि से मनुष्य नारी के आन्तरिक सौन्दर्य एवं दिव्य गुणों को प्राप्त करने से वंचित हो गया। नारी के प्रति उपेक्षा एवं तुच्छता का भाव मनुष्य को अवनति की ओर ले जाता है। श्रद्धा के अभाव में ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा की तीनों शक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और जीवन के लक्ष्य का अनुसन्धान नहीं हो पाता। श्रद्धा ही बुद्धिवाद से संत्रस्त एवं आत्मकेन्द्रित पुरुष को क्षुद्र अहं के चंगुल से छुड़ा कर लोक-मंगल की ओर अग्रसर करती है। वस्तुतः भारतीय नारी आज भी श्रद्धा के व्यक्तित्व में निहित समस्त सद्गुणों से अलंकृत है किन्तु मनुष्य का क्षुद्र अहं अपने संकीर्ण स्वभाव का परित्याग कर नारी के इस अमृतमय पक्ष का साक्षात्कार करने का अधिकारी नहीं रहा। आज मनुष्य नारी को केवल अपनी वासना का साधन एवं भोग्या मात्र मानने की भूल करता जा रहा है। यदि क्षुद्र अहं के केंचुल एवं स्वार्थ-लोलुपता के विष से मनुष्य स्वयं को मुक्त कर सके तो प्रसाद की तरह उसके निश्छल हृदय से भी नारी के प्रति यही उद्गार निकलेंगे और वह मुक्त-कण्ठ से प्रसाद के स्वर में स्वर मिलाकर कृतकृत्य भाव से कह उठेगा–

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत पग-नगतल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में ॥"

"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्"

इस सूक्ति में महाकवि कालिदास ने प्राचीनता को सर्वांश में ग्रहण करने वाले रूढ़ परम्परावादियों की प्रवृत्ति पर करारा व्यंग्य करते हुए कहा है कि पुरातन हर काल में पूर्णतः अपनाने योग्य ही हो ऐसी बात नहीं है। एक वस्तु या मत या विचार किसी प्राचीन काल में चाहे महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय रहे हों, पर यह आवश्यक नहीं कि वर्तमान में भी उपयोगी तथा

ग्रहण करने योग्य ही हो।

इस सम्पूर्ण संसार में प्रायः मनुष्यों में दो प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। कुछ व्यक्ति प्राचीनता के कट्टर समर्थक होते हैं तथा जो कुछ परम्परा से चला आ रहा है, उसी का निर्वाह करने में सन्तोष का अनुभव करते हैं। ऐसे लोग कई अनुपयोगी रस्म-रिवाजों का भी रूढ़ि बद्ध होकर पालन करते हैं, ऐसे लोग प्रायः लकीर के फकीर होते हैं और समयानुरूप विवेक नहीं रखते—

"तातस्य कूप मिति ब्रुवाणः क्षारं जलं का पुरुषाः पिबन्ति।'

हमारे पूर्वज जिस प्रकार सोचते थे, वे जिस ढंग से रहते थे जो कुछ वेश-भूषा धारण करते थे, वे जिन रस्मों का, रीतियों का पालन करते थे उसी लीक का अनुसरण करना वे अपना परम धर्म मानते हैं। उनके अनुसार अपने पिता के कुएँ का पानी यदि आज स्वच्छ नहीं रहा हो और खारा हो तो भी इसी के जल को पीना चाहिए। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार हमारे पूर्वज कहीं भी जाते तो डोर एवं लोटा रखते थे, परम्परा के कट्टर समर्थक आज परिस्थितियाँ बदल जाने पर भी डोर एवं लोटा साथ में रखने का समर्थन करते हैं, यही विवेक-हीनता है। वे आज भी प्राचीन विचारों का ही समर्थन करते हैं। जिस प्रकार कुछ लोग परम्परा के कट्टर समर्थक होने से अतिवादी कहे जाते हैं उसी प्रकार कुछ लोग आधुनिकता के पक्षधर भी होते हैं जो प्रत्येक परम्परा को चाहे वह आज भी उपयोगी हो परन्तु उसे परम्परा मानकर नकारते हैं, उसकी उपादेयता पर ध्यान नहीं देते। आधुनिकता का अर्थ परम्परा मात्र का विसर्जन करना नहीं है। परम्परा के जीवन्त तत्वों को नये ढंग से अभिव्यक्त करना ही आधुनिकता है। हमारे यहाँ भारत में धरती पर नीचे बैठकर पवित्रता के साथ शान्ति पूर्वक भोजन करने की परम्परा रही है परन्तु आधुनिकता के आवेग में इस उपयोगी परम्परा को भूल कर खड़े-खड़े ही भोजन करने की अनुपयोगी प्रथा का प्रचलन करना भी आधुनिकता के पक्षधरों की विवेक हीनता ही कही जा सकती है। पुरातन में जो कुछ जीवन्त एवं उपयोगी है, वह ग्रहण करने योग्य है, नूतनता के नाम पर अग्राह्य वस्तु ग्रहण करना भी उचित्त नहीं है।

"विषादपि अमृतं ग्राह्यम्"—बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह

विष से भी अमृत को ग्रहण कर लेवे। मनु के अनुसार मनुष्य को पुरातनवादी एवं नूतनवादी प्रवृत्ति दोनों नहीं अपनाकर सार-ग्रहण प्रवृत्ति अपनाना चाहिए। **''हंसैर्यथा क्षीर मिवाम्बु मध्यात्''** के अनुसार नीर-क्षीर-विवेक रखकर हंस वृत्ति से उपादेय वस्तु एवं विचार को ग्रहण कर लेना चाहिए। कालिदास ने इस सूक्ति में यह दर्शाया है कि प्राचीन होने से कोई विचार या वस्तु सर्वोत्कृष्ट नहीं हो जाती अथवा नूतन होने मात्र से अवहेलना के योग्य नहीं होती। विवेकी मनुष्य स्वयं परीक्षण कर वस्तु को ग्रहण करता है परन्तु समाज में विवेकियों का बहुमत नहीं होता है। **''मूढःपर-प्रत्ययनेषुबुद्धिः''** के अनुसार मूर्ख लोग दूसरों की कही हुई बात पर ही विश्वास करके चलते हैं, उनमें स्वविवेक का अभाव होता है अतः ऐसे लोग परम्परा का अन्धानुसरण करने के लिए बाध्य हैं। ऐसे लोग दुराग्रही हो जाते हैं और जो क्रान्तिकारी लोग परम्परा का अनुसरण नहीं करते उनके कट्टर आलोचक हो जाते हैं और उन्हें हानि पहुँचाने तक की चेष्टा करते हैं। ये लोग समाज की प्रगति को अवरुद्ध कर देते हैं। कालिदास के इस कथन को विकासवाद की दृष्टि से देखा जाए तो स्पष्ट दिखाई देगा कि संसार में प्रतिक्षण विकास हो रहा है वस्तु अपना प्राचीन रूप छोड़कर नया रूप धारण करती है—इसी का नाम विकास है, प्रगति है। प्रकृति भी पतझड़ में अपना पुरातन रुप छोड़कर वसन्त में नवीन शृंगार करती है। प्रसाद के शब्दों में—

''पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक''

प्रकृति अपना शृंगार कभी बासी फूलों से नहीं करती—

''प्रकृति के यौवन का शृंगार-करेंगे कभी न बासी फूल।''

जो विवेकी पुरुष प्रकृति के इस रहस्य को समझता है, वह सदैव नूतनता का स्वागत करता है। समय के प्रभाव से मनुष्य की रीति-नीति, रस्म-रिवाज, वेशभूषा आदि में भी परिवर्तन होता रहता है। दर्शन, साहित्य, संगीत एवं सभी कलाओं में भी अभिव्यक्ति के नये-नये ढंग सामने आते रहते हैं। संसार की सभ्यताएँ एवं संस्कृतियाँ एक दूसरे पर अपना प्रभाव अवश्य डालती है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन अपरिहार्य है। नूतनता अवश्यम्भावी है, नूतनता ही जीवन में रमणीयता उत्पन्न करती है किन्तु परम्परा के जीवन्त तत्त्वों की अवहेलना कर

नवीनता के नाम पर उनका तिरस्कार करना भी उचित्त नहीं है। प्राचीन एवं नूतन का समन्वय कर सारग्राही प्रवृत्ति से जीवन को समृद्ध एवं प्रगतिशील बनाना ही बुद्धिमानी है।

भारतीय गणतन्त्रस्य गरिमाः

''एतद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः॥'' (मनु–2-20)

भारत भूमिः अस्माकं जननी, जन्म भूमिश्च वर्तते। यदा सर्वः जगत् अज्ञानान्धकारेण आवृत्तम् आसीत् तदा भारते वेदोद्घोषः प्रावर्तत। यदा विदेशिनः असभ्य-अनार्यः जीवनं व्यापयन्ति स्म, तदा भारतीयाः ज्ञान विज्ञानेषु पारंगतो भूत्वा सम्पूर्ण विश्वं ज्ञानस्य प्रकाशं, मार्गदर्शनं च प्रददाति स्म। अत्र एव अध्यात्म-विद्या आविर्भूताः, यज्ञ संस्कृतिश्च पल्लविताः। भारतः न केवलं मानवानां परं मानवतायाः जन्मभूमिः वर्तते। अत्र एव बहवः ऋषयः लोकहिताय तपांसि अतपन्, कष्टं असहन् च। रामः, कृष्णः, बुद्ध, महावीरः प्रभुतयः प्रख्याताः महापुरुषा अपि अत्रेव संजाताः। अपारं अस्य भारतस्य माहात्म्यम्। स्वर्गस्थाः देवाः अपि भारते जन्म-ग्रहणं वांछन्ति - यथा वर्णितम् श्रीमद् भागवते–

''अहो ! अमीषां किम् कारिशोभनम् प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यै र्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे, मुकुन्द सैवोपायिक स्पृहा हि नः॥''

भारतस्य अतीतः स्वर्णिमः गौरवमय च आसीत्। भारतस्य समृद्धिं आकलय्य एव विदेशीयैः भारतं 'सुवर्ण पक्षी' इति मत्वा प्रशंस्यते स्म। अस्य समृद्धिं, भारतीयेषु एकतायाः अभावं च दृष्ट्वा अनेके लुब्धाः वैदिशिकाः अत्रगच्छन्। व्यापार ब्याजेन, छलेन, भेदेन ते इमं अधिकर्तुम् उपचक्रे। तेषां आंग्लीयाः एव सर्वाधिकाः चतुराः आसन्। ते भेद नीतिम् अवलम्ब्य क्रमेण सर्वमेव भारतं स्वायत्तं अकुर्वन्। नाना साहबः, बहादुरशाह जफर, तान्त्या टोपे, लक्ष्मीबाई, तिलक, गोखले, लाजपतराय, गाँधी, जवाहरः, सुभाषः, पटेलः, प्रभृतयः अनेकाः देशभक्ताः स्वाधीनता प्राप्त्यर्थम् महत्तू प्रयत्नं अकुर्वन्, स्वातन्त्र्य-शिखां सर्वत्र प्राज्वलयन् च। देशभक्ताः नेतारः सर्वाणि सुखानि त्यक्तवा स्व-जीवनं देश सेवाऽर्थे समर्पितवान्।

आंग्लीयाः 1947 तमे वर्षे अगस्तमासस्य पंचदशे दिवसे यदा भारतं त्यक्तवा स्वदेश गतवन्तः तदा भारतः स्वतंत्रतां अप्राप्नोत्। तदनन्तरं 1950 तमे ईसवीयाब्दे जनवरी मासस्य षडविंशति तमायां तारिकायां भारतस्य नवीन संविधानस्य प्रवर्तनं अभवत्। एष एव दिवसः अनुवर्षम् गणतन्त्र दिवसः इति स्मर्यते मन्यते च।

अधुना भारतः स्वतन्त्रः देशः अस्ति। भारतः सर्वप्रभुत्व-सम्पन्नः लोकतन्त्रात्मकः गणराज्यः वर्तते। अत्र जनतायाः प्रतिनिधयः एव राज्यं संचालयन्ति। एतेषां प्रतिनिधीनां पंच वर्षाणि अनुजनतयैव निर्वाचनं भवति। प्रजायाः कल्याणाय, प्रजार्थाय, प्रजायैव यत् शासनं अस्ति, तत् गणतन्त्रम् इति संविधाने उल्लिखितम्। गणतंत्र दिवसे सर्वस्मिन् देशे महान् उत्सवः भवति। जनाः स्व-स्व-नगरेषु राष्ट्रीय ध्वजम् उत्तोलयन्ति अभिवादयन्ति च। राष्ट्रं प्रति किं कर्तव्यम् इति स्मरन्ति। सर्वेषां प्रदेशानां राजधानीषु राजकीयः समारोह भवति यत्र राज्यपालः सर्वेषां कर्तव्यं स्मारयति। भारतस्य राजधान्याम् दिल्ली नगर्याम् विशेषः समारोहः भवति। राष्ट्रपति भवनात् रक्त दुर्ग-पर्यन्तम् एका शोभा-यात्रा आयोज्यते। अत्र सैनिकानां प्रचलनं, तेषां युद्धोपकरणानां प्रदर्शनं च विशेषेण दर्शनीयं भवति। राष्ट्रपतिः अस्मिन् दिवसे सम्पूर्ण देशवासिनां प्रति उद्बोधनं ददाति कर्तव्यं स्मारयति च। रात्रौ राष्ट्रपति भवने, संसद भवने च विद्युत् दीपकैः प्रकाशं क्रियते। जनाः तं दृष्ट्वा प्रसीदन्ति। गणतंत्र दिवसः भारतस्य महान् राष्ट्रीयः उत्सवः अस्ति। भारते गणपति रेव प्रथम पूज्यः अस्ति, एतत् प्रमाणं यत् अत्र गणस्य महत्त्वं पुराकालेऽपि आसीत्।

भारते गणतंत्र-शासन-पद्धति सर्वथा नवीनः नाऽस्ति। ऋग्वेदे, यजुर्वेदे, अथर्ववेदेश्च गणतंत्रस्य वर्णनम् अस्ति। वैदिक कालाद् एवं इयं पद्धति अत्र प्रवर्तते स्मः। साम्प्रतं विंशति शताब्द्याँ गणतंत्रस्य उदयः आधुनिकश्च नूतन रूपेण संलक्ष्यते।

भारतीय गणतंत्र अतीवः गरिमामयः वर्तते। जननिर्वाचिताः शासन-सूत्रं गृह्वन्ति। यदि एभिः जनहितं न संपद्यते तर्हि आगामिनि निर्वाचने पदच्युताः क्रियन्ते।

जनप्रतिनिधि-शासनत्वाद् एतद् उत्तरदायित्वपूर्णं शासनं भवति। वयस्क मताधिकारः अस्य तंत्रस्य प्रमुखम् वैशिष्ट्यम्। जननिर्वाचिताः जनाः

विधान सभायाः, लोकसभायाः च प्रतिनिधित्वम् अलंकुर्वन्ति।

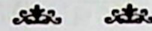
भारतीय गणतंत्रे जाति, धर्म, वर्गादि भेदाभावात् सर्वस्य हित-संरक्षणं संजायते। अस्मिन् तन्त्रे राजनीतिक दलानाम् उद्भवः अपि अनिवार्यतः भवति। अधुना कांग्रेसः, भाजपा, जनता दलः, भाकपा, माकपा आदयः प्रमुखाः राजनीतिक दलाः सन्ति। दलस्य बहुमत आधारेण ते शासनं कुर्वन्ति। गणतंत्रे जनमतस्य प्राधान्यं भवति। जनमतेः एव शासन-परिवर्तनं विधातुं प्रभवति। जनतंत्रे स्थानीयं स्वराज्यं अपि स्थाप्यते। ग्राम पंचायतः, जिला परिषदः, नगरपालिका आदयः स्थानीय-स्वराज्य-संस्थानाः सन्ति। गणतंत्रे वैयक्तिक विकासस्य पूर्णाधिकारं लभ्यते। निर्वाचने, भाषणे, लेखने च अत्र पूर्ण स्वातंत्रयम् वर्तते परं गणतंत्रे हिंसायाः क्वापि स्थानः न अस्ति। गणतंत्रे रक्तमयी क्रान्ति न सम्भाव्यते। समानाधिकाराद् वर्ग शोषणं अपि जनतंत्रे न संभवति।

वर्तमान समये गणतंत्र-पद्धतिः एव सर्वोत्तमः मन्यते। भारते निर्वाचित प्रतिनिधीनां नैतिक पक्षः सबलं नः अस्ति। नेतारः महत्त्वाकांक्षा-पूर्तये स्वपदस्य दुरुपयोगमपि कुर्वन्ति। शासने सर्वत्र भ्रष्टाचारः परिव्याप्तः इव दृश्यते। समाजे अनैतिकानां, धूर्तानाम च बाहुल्याद्, सच्चरित्राणां, गुणीनां च अभावाद् धूर्ताःअयोग्याः जनाः प्रतिनिधित्वं प्राप्नुवन्ति, शासनं च कुर्वन्ति। प्लेटो महोदय गणतंत्र शासनम् मूर्खाणां-शासनं मनुते। धूर्ताः धन, जाति प्रभावेण, सम्प्रदाय वादेन च लोकान् प्रतार्य प्रतिनिधित्वं भजन्ते। जनतन्त्रो विदुषां समादरः अपि नास्ति। राज्यशासने भ्रष्टाचारवतां पिशुनानां प्राधान्येन नैतिक पतनं संजायते। दलगतः राजनीति समाश्रयणाद् नैतिक वातावरणं प्रदुष्यति। निर्वाचनेषु बहुधा मत लाभाय धनस्य दुरुपयोगो अपि दृश्यते।

जनतंत्रस्य गुण-दोषाः भारतीय गणतन्त्रऽपि परिदृश्यते। दोषाणां निराकरणम् अभीष्टम्। तदर्थम् जनतायाः शिक्षिततत्वम् अनिवार्यम्। कर्तव्यं स्वाधिकारं च प्रति जनतायाः जागरूकता अभीष्यते। आचारवत्तां, सच्चरित्राणां, गुणज्ञानां च निर्वाचनेन एव भारतीय गणतंत्रः साफल्यं अवाप्तुं प्रभवति। वयं भारतीयाः स्मः। प्राचीन ऋषिभिः सततं एवं उदीरितं यत् सर्वभूतहित-साधनं एव अस्माकं लक्ष्यम्। शोषणस्यमूलम् स्वार्थ बुद्धिः, स्वसुखावाप्ति कामना, महत्त्वाकांक्षा च। यदा स्वार्थ बुद्धिर्हीयते तदा

स्वदेशं प्रति भक्ति भावः जागर्ति। स्वार्थिनां अन्तः करणेषु देशभक्तिः भावः न भवति। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' अस्माकम् आदर्शम्। सर्व-जन-हितः एव अस्माकम् लक्ष्यः वर्तते। यदा वयं स्वार्थ-बुद्धिं परित्यजामः, यदा अस्माकम् अन्तःकरणः देश भक्त्यानुरागेण आपूरिताः भवन्ति तर्हि एव एष गणतंत्र गरिमामयः भविष्यति, उक्तं च–

''न यत्र देशोद्धृति कामनाऽस्ते न मातृभूमेर्हित-चिन्तनं च।
न राष्ट्र-रक्षा, बलिदान भावः श्मशान तुल्यं नर-जीवनं तत् ॥''



भगवान का पदार्थों में प्रवेश करना, उन्हें पुष्ट करना, उनका अतिक्रमण करना, सर्वरूप बनना एवं सभी रूपों को पुनः अपने में लीन करना भी पुष्टि लीला है। भगवान का पशु, पक्षी, मनुष्य, ऋषि आदि विविध रूपों में अवतार लेकर भक्तों का अनुरंजन एवं रक्षण करना भी अलौकिक पुष्टि लीला है। पुष्टि का सामर्थ्य अलौकिक है—भगवान आसुरी स्वभाव काल आदि का बाध करते हुए दैवी जीवों की रक्षा कर एवं आसुरी जीवों को भी मुक्ति देकर अकारण अनुग्रह का परिचय देते हैं। द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव एवं जीव सभी भगवान के आधार पर ही अवस्थित एवं गतिशील हैं। सृष्टि के प्रारम्भ से प्रलय तक प्रभु की पुष्टि लीला का ही अखण्ड साम्राज्य है। भगवान की अवान्तर लीलाओं के पीछे भी पुष्टि का ही गूढ़ प्रयोजन निहित रहता है। भक्त के रूप में भी भगवान का प्रच्छन्न स्वरूप ही स्नेह लीला की पुष्टि के लिए सदैव तत्पर रहता है।

**"सर्वा लीलाः पुष्टि मध्ये प्रविशन्तीति में मतिः।
अतः सृष्टिस्तु निखिला, कृष्णार्थेति विनिश्चयः॥"**



नाम : प्रो. ललित शंकर शर्मा

जन्म : 1 नवम्बर, 1932 - कानोड़ (राजस्थान) में पं. चन्द्रभानु भट्ट एवं रूक्मिणी देवी के घर।

शिक्षा : एम.ए. (हिन्दी, संस्कृत, दर्शन-शास्त्र) साहित्य रत्न, साहित्याचार्य

लेखन : हिन्दी भाषा की विविध विधाओं पर स्वतंत्र लेखन के साथ दर्शन विशेषकर वेदान्त (अद्वैत) एवं शुद्धाद्वैत (पुष्टिमार्ग) पर शताधिक शोधपरक लेख एवं धर्म, दर्शन एवं संस्कृति पर शताधिक आकाशवाणी वार्ताएँ।

ब्रह्म संबंध, श्रीनाथ दर्शन एवं पुष्टिमार्ग आदि त्रैमासिक पुष्टिमार्गीय पत्रिकाओं का दीर्घावधि तक संपादन एवं परामर्श कार्य।

पुस्तकें : पुष्टिवर्द्धन-1 *(काव्य खण्ड-चिन्तन खण्ड)*, पुष्टिवर्द्धन-2 *(भगवत् प्रेम एवं लीला खण्ड)*, ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, शुद्धाद्वैत दर्शन एवं संस्कृति प्रबोधन इत्यादि।

सेवाएँ : सेठ मथुरादास बिनानी राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय नाथद्वारा (राज.) में हिन्दी विभागाध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त।

गोलोकवास : 29 अक्टूबर, 2006



आर्यावर्त्त संस्कृति संस्थान

बी-216, चन्दू नगर, करावल नगर रोड, दिल्ली-110094
मो. नं. : 0-9868584456

ISBN : 978-81-906449-7-6